शह और मात

एक प्रयत्न : एक प्रयोग

"जी हाँ, 'शह और मात' की कहानी, एक अजब-सी कहानी है.... प्रेम-कहानी नहीं, प्यारकी मनःस्थितियों-की एक अति-परिचित और नितान्त अपरिचित-सी कहानी....

"सुजाताको तेजने तोड़ दिया था। अपर्णा शीशेके पिंजरेमें बन्द थी....। डकन-की भाषामें सुजाता सोचती है कि 'प्यार एक संगीत है और हर नये प्यारका सुख नये संगीतकी जादुई धुनोंमें डूबते चले जानेका सुख है....।'

प्यार 'आत्म-समर्पण' भी है और 'आत्म-बोध' भी।"

'शह और मात'—स्वप्न-भंगकी दु-तरफ़ा ट्रेजेडी है....टूटे हुए सपनोंको समेटनेकी ट्रेजेडी !

युगके संदर्भमें संक्रान्ति-कालीन अन्तर्द्वन्द्वका चित्रण, मनोभूमियोंका गहरा, सूक्ष्म अन्वेषण और अध्ययन.... भाव-जगत्‌के विराट् रूपको कुछ प्रतीक देनेका साहसिक प्रयत्न है।

"और अगर डायरी अपने ही अन्तर और अतीतमें झाँकनेका एक माध्यम है तो इस शैलीमें यह हिन्दीका पहला और (?) सार्थक उपन्यास है।

शह और मात

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—९५

शह और मात

राजेन्द्र यादव

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

प्रथम संस्करण
१९५९
मूल्य : चार रुपये

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल,
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

शह और मात

शीशेकी दीवारके इधर-उधर चलती दुहरी ज़िन्दगियोंके बीच एक गवाक्ष है...एक झरोखा है...जहाँसे पूरा एक युग गुज़र रहा है—संस्कार और वर्गकी दीवारोंकी दरारें टटोलनेकी बेचैनी गुज़र रही है......

उपन्यासमें प्रयुक्त कविता-पंक्तियोंके लिए लेखक,
कवियोंका कृतज्ञ है

शह और मात

शह और मात

सुजाता की डायरी

सोमवार, ३ जून

जाने क्यों, तेजकी बहुत याद आ रही है। रह-रह कर मन उचट जाता है। पता नहीं इस वक्त कहाँ होगा ? लन्दन···? कोई कहता था : लन्दन उसने दो-तीन महीने पहले छोड़ दिया। अमेरिका जानेकी बात थी। कैसा हो गया होगा जाने ? कैसी होगी उसकी वह ब्रिटिश मेम ? गिरजेमें अँगूठी बदलते हुए सचमुच उसे अपनी कलाईपर किसी चूड़ियोंवाले हाथकी पकड़ महसूस नहीं हुई होगी ? अच्छा, मान लो किसी दिन कॉलेजसे निकलते ही मैं देखूँ कि तेज अपनी अँग्रेज़ पत्नीकी कमरमें हाथ डाले सामनेके फ़ुटपाथपर चला जा रहा है तब कैसा लगे मुझे ? यह सब कल्पना करके अब न पहले जैसी कसक होती है, न उससे मिलनेकी तड़प में रुलाई आती है। पिछले दिनों तो मैं उसे क़रीब-क़रीब भूल ही चुकी थी। हफ्तों उसके नाम तकका ध्यान नहीं आता। आज तो यह कुछ नई ही बात है···

आज अचानक लाइब्रेरीमें उदयसे मुलाक़ात हो गई। मैं अपने कोर्सकी किताबके सिलसिलेमें गई तो देखा वे लायब्रेरियनसे कुछ बातें कर रहे हैं। मैं प्रतीक्षा करती खड़ी-खड़ी मेज़पर रक्खी एक पत्रिकाके पन्ने पलटती रही। जब वे हट गये तो पहुँची। लायब्रेरियनने पूछा, "इन्हें जानती हैं आप ?"

"देखा तो शायद कई बार है। याद नहीं है।" मैं जान-बूझकर बोली। बात ठीक थी। पहचानते शायद हम दोनों एक दूसरेको थे। पास

से गुज़रते हुए हमलोगोंने कई बार चौंककर एक दूसरेको देखा था। दोनों को ही अपने हाथोंमें थोड़ी-थोड़ी फड़कन महसूस हुई थी, पर फिर मुँह फेरकर चल दिये थे। पहले नमस्कार कौन करे। ऐसे कोई बुज़ुर्ग भी नहीं थे कि मैं ही प्रणाम करूँ। मुश्किलसे दो-तीन साल बड़े होंगे। यों ही काफ़ी दिनोंसे चल रहा था...

"अरे ये उदय जी हैं। इनका अभी-अभी एक उपन्यास आया है हमारे यहाँ। बड़ी माँग रहती है।" लाइब्रेरियन साहब बता रहे थे।

मैं मुसकराकर दुष्टतासे बोली : " 'नाकारा' और 'शान्त' के उपन्यासोंसे भी ज़्यादा?"

"वो तो बात ही बिल्कुल अलग है। इसकी बहुत तारीफ़ें हैं। आइये आपका परिचय करा दें!" रुककर लाइब्रेरियन साहब मुसकराये—"लेकिन आप हँसिये बिल्कुल मत। लड़कियोंके सामने इनकी बोलती बन्द हो जाती है और सारा मुँह लाल पड़ जाता है। हमारे ही शहरके तो हैं। मैं तो इन्हें तबसे जानता हूँ जबसे वे खुद अपनेको नहीं जानते थे।"

मैंने मुँह बिचका दिया। मन ही मन कहा, तब क्या खाकर उपन्यास लिखते होंगे! लाइब्रेरियन साहबसे अक्सर किताबें लेनेका काम पड़ता है, इसलिए परिहाससे बोली : "मगर हमने तो दूसरी बात सुनी है। कहते हैं इनकी जान-पहचान या मित्रता सिर्फ़ लड़कियोंसे ही है।"

"कौन? वही आपके गुरुदेव बताते होंगे? अब उनकी जनम-पत्री हमसे न खुलवाइये। आप कल आई हैं, उन्हें हम दस सालसे देख रहे हैं। किताबें पढ़नेका नहीं, घर लेजा-लेजाकर इकट्ठा करनेका शौक़ है। लाइब्रेरियनको जरूरत हो तो लाये खुद जाकर..." लाइब्रेरियन साहब जोशमें आगये। फिर सँभलकर बोले : "आप खुद देख लीजिए। मेरा छोटा भाई इनका क्लास-फ़ैलो था। यहाँ बैठे कुछ पढ़ रहे होंगे। पूछने आये थे कि क्या यहाँसे टेलीफ़ोन कर सकता हूँ।"

वे अर्ध-चन्द्राकार काउण्टरके एक सिरेपर कोनेमें खड़े टेलीफोन कर रहे थे, बड़े व्यस्त और डूबे हुए-से। कभी-कभी इतनी ज़ोरसे हँस पड़ते थे कि आस-पासके लोगोंका ध्यान भी उधर खिंच जाता था। तब झेंप-कर अपने आपमें सिकुड़-से उठते। लाइब्रेरियनके साथ पास जाते हुए कुछ वाक्योंके टुकड़े कानमें पड़ गये···"अच्छा आओ न। पर हाँ, तुम कहाँ वहाँ आओगी?···तुम हवाई-जहाज़ और एयर-कण्डीशण्ड कूपोंमें चलनेवाले लोग हो। अपने यहाँ हम बैठायेंगे भी कहाँ तुम्हें?···" फिर उधरके जवाबमें बोले : "अच्छा हाँ, हाँ, परसों ग्यारह बजे, ठीक···"

मैं लाइब्रेरियनको देखकर मुसकराई : देख लो, लड़कीको ही फोन कर रहे हैं न। उन्होंने हमें आते देख लिया था और सच ही ऐसे संकु-चित हो उठे थे जैसे चोरी करते पकड़े गये हों। लाइब्रेरियनने बड़ी बेतकल्लुफ़ीसे उनके पास जाकर सीधे ही कहा : "आओ उदय, तुम्हारा परिचय एक बहुत बड़ी कहानी-लेखिकासे करादें। ये हैं सुजाता। हमारे यहाँ सिक्स्थ इयरकी स्टूडेण्ट हैं। पिछली बार अन्तर्विश्वविद्यालय कहानी-प्रतियोगितामें इनकी कहानी सर्व-श्रेष्ठ आई थी। अभी दो-तीन कहानियोंसे ही इन्होंने कॉलेज और बाहर धूम मचा दी है। कॉलेज ड्रामा यूनियनकी ज्वॉयण्ट सेक्रेटरी हैं। अभी हमारे यहाँ एक नाटक होनेवाला है, उसमें ध्रुवस्वामिनी यही बन रही हैं।"

सिर झुकाये मैं जैसे गड़ी जा रही थी, मानो लाइब्रेरियनको मैं सिखा-कर ले गई थी। टेलीफोन रखकर शिष्टतासे हाथ जोड़ते हुए उदयने कहा : "बड़ी खुशी हुई। इधर तो आपकी कई बहुत अच्छी कहानियाँ निकली हैं। कोई कहता था···"

"अरे सा'ब शौर हैं इनके।" कहते हुए लाइब्रेरियन उनकी ओर मुड़कर बोले : "इनका तो परिचय दे ही चुका हूँ। क़ायदेसे तो ये मेरे छोटे भाई हैं। हमें तो यही खुशी होती है कि हमारे शहरका नाम रोशन हो रहा है। सुजाताजीके पिता डाक्टर हैं उदय, कभी ज़रूरत हो तो

बताना। अपनो ही तरफ़के हैं। अच्छी प्रैक्टिस है।" फिर मुझसे बोले : "अब इनसे सीख लो कहानियाँ लिखना। ऐसा ऐक्सपर्ट नहीं मिलेगा। गुरुजी तो शास्त्रीय तत्त्वोंके सिवा कुछ नहीं बता सकते।'"

लाइब्रेरियन साहबका यह अपनेको हमदोनोंसे ही घनिष्ठता दिखानेका ढंग मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। कलाइयोंतक जुड़े हाथोंवाला कलात्मक नमस्कार करके मैंने सिर झुका लिया था। ये देवता अपना भाषण बन्द करें तो मैं भी कुछ बोलूँ। उनके चुप होते ही बोली : "जानती तो बहुत दिनोंसे थी। सुना भी बहुत था। अभी-अभी उपन्यास पढ़कर समाप्त किया है।"

जवाबमें वे सूने-सूनेसे एक ओर देखकर हल्के-हल्के मुसकराते रहे। स्पष्ट ही अभी भी वे टेलीफोनकी बातोंमें खोये थे। कौन थी दूसरी ओर?—मैं कुछ देर अपनी बातके उत्तरकी राह देखती रही, फिर जाने कैसे मुँहसे निकल गया : "कभी आइये न, हमारी ओर?"

वे सहसा चौंके। एकक्षण उनकी भौंहें फड़कीं। बोले : "अच्छी बात है, आऊँगा कभी। अब चलूँ?"

मुझे लगा जैसे मुझसे कहीं ग़लती हो गई। मेरे 'कभी आइये' कहनेमें मानो ध्वनित होता हो, देखिए वैसे तो हम बहुत व्यस्त आदमी हैं, लेकिन कभी जब मन न लगता हो, कोई काम न हो, सिनेमाका 'शो' शुरू हो चुका हो, तब आ जायें तो अच्छा रहेगा। कुछ समय हम दे सकेंगे। मगर 'कोई कहता था' कहकर मेरी कहानियोंके बारेमें कहना मुझे भी चुभा। इन्होंने ज़रूर मेरी कहानियाँ पढ़ी हैं, और अब बन रहे हैं। एक तो लड़की कहानी-लेखिकाकी कहानी कोई न पढ़े, यह मैं मान नहीं सकती। फिर दूसरे, इसी मासकी 'धारा' पत्रिकामें इनकी भी तो कहानी छपी है मेरीके साथ। कैसे हो सकता है कि उन्होंने उसे न पढ़ा हो? फिर ध्यान आया कि यह जो टेलीफोनसे किसीसे कह रहे थे कि "आप तो हवाई-जहाज़ और एयर-कण्डीशण्ड कूपोंमें चलनेवाले लोग

राजेन्द्र यादव की डायरी : कुछ पन्ने (अस्त-व्यस्त)

१० जुलाई, '५८

अँग्रेज़ी अक्षर 'एस' से शुरू होनेवाले नामोंमें, पता नहीं क्या है कि मैंने उनसे हमेशा कुछ-न-कुछ पाया ही है···सुजाताजीको ही लीजिए··· कथाकार सुजाताजीकी मृत्युका समाचार मुझे एक विचित्र-से सन्तुष्ट उल्लाससे भर गया है। अब मैं निर्द्वन्द्व होकर उनकी डायरीके इन कुछ पन्नोंको पाठकोंके सामने रख सकूँगा। पिछले दिनों तो मैं उनसे मिलते कतराता था। देखते ही पूछतीं : 'राजेन्द्र, तू लाया नहीं मेरी डायरी?' मैं टाल देता—'दीदी, कहीं काग़ज़-पत्रोंमें रख दी है। उन्हें किसी दिन सँभालूँगा तो ले आऊँगा। मुझे करना भी क्या है उनका?' वे आशंका और खुशामदसे कहतीं : 'देख भैया, उसमें जाने-जाने क्या-क्या बचपने की उलटी-सीधी बातें लिखी हैं। मैंने खुद उन पन्नोंको एकाध बार कहानीका रूप देनेकी बात सोची, पर फिर जाने क्या सोचकर रख दिया।' बात सच है। सुजाता और उदयके सम्पर्ककी यह डायरी उन दिनोंका चित्र सामने लाती है जब वे स्वयं एम० ए० में पढ़ रही थीं और सुजाताजीके शब्दोंमें ही, 'उदय अपने उस कालसे गुज़र रहे थे जिसे सफल लेखक आगे जाकर 'संघर्षके दिन' कहता है···'

जो सुजाताजी नहीं कर पाईं, उसे पूरा करनेका सन्तोष मुझे ज़रूर है; लेकिन मन के भीतर जाने क्यों, कोई अपराध-भावना भी कचोट उठती है। शायद इसी भावनासे किसी हदतक बचनेके लिए मैंने निश्चय किया है कि अनावश्यक प्रसंगों या अप्रासंगिक बातोंका निर्ममतासे सम्पादन कर डालूँगा।

सुजाताजीकी आत्माके प्रति क्षमा-प्रार्थी हूँ।

मैं उनकी आहत-असहाय आँखोंको क़लमकी नोकके साथ चलते देखता हूँ, फिर भी जाने क्यों मुझे उनकी मृत्युपर ख़ुशी है। वह लेखक ही क्या, जो धिक्कार और उल्लासका अनुभव साथ-साथ ही न करे ''?

आज उपन्यासको अन्तिम रूप देनेके लिए इसे टाइपराइटरपर लिखना शुरू कर रहा हूँ।

६ अगस्त, '५८

पिछले सात-आठ महीनोंसे शरीर-कष्ट है। बैठनेमें दिक़्क़त होती है। फिर भी नब्बे पन्ने टाइप किये हैं, पिछले ३५-४० दिनोंमें। परसों ये नब्बे पन्ने ज़बर्दस्ती उठकर चले गये। मैं नहीं चाहता, मेरी चीज़को कोई अधूरा या अनफ़िनिश्ड देखे'''इसे जब मैं अन्तिम रूप दे दूँ तब तो सभी को अधिकार है'''लेकिन वह अधिकार बड़ा था और पन्ने चले गये। फ़ैसला मिला कि 'यह नहीं छपेगा।'

कारण पूछा गया तो पता चला 'कारण कुछ नहीं, बस छपेगा ही नहीं'''

फिर जब कारण पता चला तो याद आ गई भाई श्रीमोहन सिंह सैंगरकी बात। उपदेशके मूडमें एक दिन कहा था : 'आपलोग न अपने समाजको देखते हैं, न लोगोंको। कुछ फ्रेंच, रूसी और अँग्रेज़ी उपन्यास पढ़-पढ़कर ठीक उन्हीं लाइनोंपर यह उपन्यास और कहानियाँ लिख डालते हैं। इनमें सिर्फ़ लोगों और जगहोंके नाम भारतीय होते हैं, बाक़ी सभी विदेशी होता है। आपलोगोंका अपने देशका अध्ययन क़तई नहीं है।'

कैसे समझाऊँ उन्हें कि सैंगरजीकी बात शत-प्रतिशत सही है। चेखव, ज़्विग, ज़ीद और मॉम यही तो मेरे ऊपर इन पिछले दिनों छाये रहे हैं। सो इसमें भी लोग, स्थितियाँ, वातावरण, समस्याएँ, भाषा कुछ भी अपना नहीं है। सभी कुछ दूसरोंका है। फिर उन्हें इतना डर क्यों है'''?

४ नवम्बर, '५८

जैसे-तैसे आज उपन्यास पूरा कर डाला है। बीचमें टाइप रुक गया था। पता नहीं अंकुश बाहरी थे या भीतरी। जैसे सिगार जलता है··मन्द मन्थर सुलगता रहता है, शायद कुछ उसी तरहकी इस कहानीकी गति हो गई है···आवेश और उत्तेजनासे पागल मनोभावों और घटनाओंकी आकस्मिकतासे भरी हुई कहानियाँ पढ़नेवाला साधारण कथा-रसग्राही पाठक, पता नहीं इसे पढ़ भी पायेगा भी या नहीं···न तो कहीं बाढ़पर आई नदीके भावावेगोंकी दनदनाहट और न ऑस्करवाइल्डीय भाषामें शरत्की कहानीके आँसू बहाते पात्र···मनोरंजन और रोचकताका कोई भी तो फ़ॉर्मूला नहीं है। अपने पाठकपर मुझे कभी भी अविश्वास नहीं रहा (वही तो मेरा बल है) लेकिन हरक्षण 'नाटक' चाहनेवाला, मनकी विभिन्न सतहोंपर चलनेवाले 'नाटक' को समझनेकी कोशिशमें लगे, इस कहानीके पात्रोंको कहाँ तक अपना बना सकेगा—यही ज़रा शंका है···

प्रथम-पुरुष डायरीमें लिखी गई कहानीमें घटना सीधे रूपमें न आकर स्मृतियों और मूड्समें प्रतिफलित होकर आई है—कहीं हल्का-सा प्रतिबिम्ब भर है। जहाँ तल गहरा होता है वहाँ धाराका प्रवाह खुद ही मन्थर नहीं हो जाता···?

१ जनवरी, '५८

··· ने कहा, और लोगोंने भी कहा कि जब उपन्यास तुमने लिख ही लिया है तो उस पुरानी पड़ी पाण्डुलिपिको अन्तिम रूप दे ही क्यों नहीं डालते ? खुद मैंने भी महसूस किया कि अब मैं उससे भावात्मक रूपसे अपनेको बिल्कुल काट चुका हूँ, इसलिए अब उसे अन्तिम रूप दे ही देना चाहिए···अधूरे कामका बोझ दिलसे उतरे तो कुछ और करनेमें भी मन लगे। दिमाग़ हमेशा ही तो घिरा रहता है। लेकिन डर लगता था कि उसे पढ़ूँगा [illegible] लगेगा।

डर लगता है कि इसे लिखनेके पीछे प्रेरणा क्या रही है ? क्योंकि खुद मेरा मन उन देशी-विदेशी उपन्यासोंसे बहुत ही ऊब गया है जिनके नायक कलाकार या लेखक हैं। किताब खोलते डर लगता है : कहीं इस उपन्यास या कहानीका नायक भी कम्बख्त लेखक-पत्रकार-कवि या चित्रकार ही न निकल आये। और इसी अपराध-भावनासे मेरा मन डूबा रहा है कि एक और उपन्यासमें लेखक साहब हीरो बना दिये गये···जब लेखक हीरो बनता है तो उसका सीधा अर्थ है : एक धीरोदात्त नायकका अवतार हो रहा है। पूरे उपन्यासमें उसकी ही महिमा बखानी जाती है, उसे सब्जैक्टिव टच दिया जाता है, हर सम्पर्कमें आनेवाली लड़कीसे उसे पुजवाया जाता है···और उसकी करतूतोंकी सफ़ाई दी जाती है। बिना पूरा पढ़े, या सूँघकर ही अपनी राय क़ायम करनेवाला पाठक और जिल्दवादी समीक्षक इसे भी शायद ऐसा ही पायें···

लेकिन एक सवाल मुझे अक्सर तंग करता है : क्या कहानी-उपन्यास का लेखक लेखन-सामग्रीसे भरा निर्जीव बक्सा ही है ? उसका काम 'भीतर भरे हुए' को केवल बाहर 'उलीचना' और 'उँडेलना' ही है ? लेखन उसकी अपनी भी चिन्तन-प्रक्रिया नहीं बन सकता ? कि उस चिन्तन-प्रक्रियामें वह रेडी-मेड विचार पाठकको दे ही नहीं, खुद मथे और पाये भी ? हो सकता है इस दृष्टिसे मैंने अपनेको पात्रोंके रूपमें बाँटकर मुखर-चिन्तन या लाउड-थिंकिंग ही किया हो और लिखनेके दौरानमें पात्रोंके साथ-साथ या उनकी मार्फ़त अपनी उलझनें और समस्याएँ सुलझानेकी कोशिश भी की हो···

३१ अगस्त, '५७

आज मैं चौंक पड़ा। देखा कि अरे, आलोचककी खालके भीतर यह आदमी तो एकदम···। अपनी डायरीके कुछ अत्यन्त ही रोचक, व्यक्तिगत और सरस पन्ने सुनाकर कुहनियोंके बल उठे हुए नामवरसिंह

बोले—'बारह सालसे लेकर सत्तर साल तकका हर लेखक हमारे यहाँ प्रेमकी थीमको ज़रूर घसीटता है···लेकिन सचमुच एक भी तो ऐसा उपन्यास नहीं है जो आपको आकण्ठ डुबा दे····लगे कि आप सचमुच प्रेम की गहराइयोंमें उतरकर आये हैं···प्रेमके नामपर या तो सस्ते शरीरवादी उपन्यास हैं या इण्टरकी अधकच्चेरी भावुक लड़कियोंको अपील करनेवाले रुदन, समर्पण, चरणस्पर्श, त्याग और उन्मादके गद्य-काव्योंसे भरे घोर प्लैटोनिक, 'आँसू-धकेल' टीयरजर्कर्स। प्रेमका अर्थ या तो उनमें घोर शारीरिक उत्तेजनामें किये गये आलिंगन-चुम्बन मिलता है या फुसफुसे लोगोंकी गिलगिलाती छिछली आदर्शवादी भावुकता···शरीर और आँसुओंके ज्वारका नाम ही क्या प्यार है? या कहा जाय, क्या प्यार यहीं तक सीमित रह जाता है? अगर ऐसा ही है तो मद्राससे आनेवाले हिन्दी-सिनेमा ही क्या बुरे हैं?' और फिर हमलोग देर तक बातें करते रहे कि प्रेम किस तरह सूक्ष्म और अनजाने रूपसे सारी मानसिक बनावटको स्तर-स्तर बदलता है, कैसे एकान्त और मधुर और आत्मीय-क्षण देता है। बहुत सचाईसे 'अज्ञेय' को छोड़कर इसका चित्रण करनेका प्रयत्न किस-किसने किया है···बंगाली तो खैर, अपनी आँसू-रुँधी आँखोंके कारण उस पक्षको देख ही नहीं पायेंगे···

जब तक दूसरों की भलाई-बुराई करते रहे तब तक कोई बात ही नहीं, लेकिन जब मेरी छातीसे अपनी आँखोंकी दुनाली अड़ाकर—"निकालो तुम्हारे पास क्या है?" के अन्दाज़में, छिद्रान्वेषिणी निगाहोंसे उस विकट आलोचकने मुझे ही घूरना शुरू कर दिया तो मैं करवट बदलकर सो गया। हिन्दीमें क्या, क्यों लिखा जा रहा है इसका जवाब आधीरातमें मैं क्यों दूँ? मानो सब मेरी ही शहसे लिखा जा रहा हो···आप साहित्यके डाक्टर और दारोगा दोनों हैं मैं कहाँ दाल-भात में···? और मैं क्या लिखकर रख आया हूँ, इसका मैं ज़िक्र ही दबा गया।

२ जुलाई, '५७

आज उपन्यासका पहला रूप लिखकर समाप्त कर दिया। पूरे ढाई-महीने खा गया। करता क्या, कॉपी साइज़के तीन-चार पन्नोंसे ज़्यादा एक दिनमें लिखा हो नहीं जाता। लोग इतना सब कैसे लिख लेते हैं? दूसरा कोई, पाँच दिनोंमें इसे लिखकर अलग करता। लेखनको जीविका बनाकर इस युगमें इतनी कम लेखन-शक्तिपर कैसे रहूँगा आखिर? मोहन राकेश का कहना है कि 'होल-टाइमर' होकर भी परिमाणमें मैंने कुछ नहीं लिखा, गुणमें लिखपानेकी तो समस्याने ही तंग नहीं किया कभी…। ठीक ही तो है। मई ४७ में पहली रचना छपी थी। ग्यारह सालमें तीन उपन्यास और पचास-साठ कहानियाँ…और?

सचमुच, बड़ी ही कष्टकर बेगार है यह लिखना…जो कुछ भी लिखा है वह किसी भी मायनेमें सन्तोषजनक है? …क़तई…क़तई नहीं…! मन होता है सब फाड़-फूड़ डालूँ…लेकिन बस, यही उम्मीद है कि शायद कभी किसी अच्छे लिखनेकी भूमिका या ट्रेनिंगके रूपमें ही आज तकका यह लिखा काम आ जाय…

५ नवम्बर, '५८

पता नहीं अपने उपन्यासके शुरूमें ये सारे उलटे-सीधे ढंग और क्रम से लिखे पन्ने जाने चाहिए या नहीं…लेकिन क्या कहीं भी बेचारे लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने पाठकसे सीधे बातें कर सके…? कुछ अपनी कह सके…उसकी सुन सके? सैकड़ों पन्नोंमें 'केवल अपने लिए' वह दो-पन्नोंका उपयोग भी नहीं कर सकता…?

५, ग्रीक चर्च रो
कलकत्ता—२६

हैं'' यह बात ज़रूर वे हमें ही आते देखकर कह रहे होंगे। यह जतानेको कि हमारा भी परिचय 'बड़े लोगों' से है।

''मिल तो लिये ही। अब घर जानेसे ही क्या है?'' वे सीधे मेरी ओर न देखकर बोले। स्वरमें नम्रता थी और निगाहें लाइब्रेरीसे बाहर।

न आयें अपने घर बैठें—मेरे मनमें आया। किसीका बनना मुझे बहुत बुरा लगता है। मैं जानती थी, रचनाके बारेमें बात करना लेखककी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। बोली: ''नहीं, मैं आपके उपन्यासके बारेमें बातें करना चाहती थी कुछ। अभी-अभी पढ़कर चुकी हूँ। उसके एक पॉइण्टपर रेखासे भी काफ़ी बहस हो गई थी। रेखा मेरी क्लास-मेट है।''

तीर निशानेपर लगा। वे मुसकरा पड़े और इधर-उधर देखकर बोले—''आइये, चलते-चलते ही बातें करें। यहाँ तो लोगोंको बाधा पड़ेगी।''

इसे कहते हैं कहानी-लेखिकाकी निगाह। मैं विजयसे मुसकराई। बाहर उन्होंने बड़े ही तटस्थ बनकर पूछा: ''कैसा लगा आपको?''

''यहाँ नहीं। किसी दिन आपको फ़ुर्सत मिले तो घरपर ही बातें करूँगी विस्तारसे।'' मैं अनजाने ही फिर पहली बातपर आगई। निहायत भोलेपनसे कहा: ''मुझे आपकी रश्मिके बारेमें बहुत-सी बातें पूछनी हैं। बताइये आपको समय कब है?''

उन्होंने ऐसा भाव दिखाया जैसे वे बहुत ही व्यस्त व्यक्ति हों और ख़ाली समय पाना उनके लिए कठिन समस्या है। मनमें हँसी आई, और ऊपरसे श्रद्धा सँजोये रही। वे बोले ''देखिये, मैं वायदा नहीं करता, लेकिन आया तो परसों सन्ध्याको सात बजे तक आ जाऊँगा। आप राह मत देखिये।''

''अगर-मगर नहीं, आप आ रहे हैं।'' मैंने ज़ोर देकर कहा। काग़ज़

निकालकर अपना पता और टेलीफोन नम्बर लिखकर बोली—"इस नम्बरपर टेलीफोन कर दीजिए।"

"देखिए, वायदा नहीं करता। असलमें उसदिन एक सज्जन छः-सात बजे तक मिलने आयेंगे। नहीं आये तो आपकी तरफ़ आ ही जाऊँगा।" वे नमस्कार करते बोले : "अब चलूँ?"

वे सीधे चले गये। मन ही मन मुझे हँसी आगई चलनेपर। यहाँसे तो सीधे चले गये हैं। मोड़पर ज़रूर देखेंगे मुझे।

अपने उपन्यासका ज़िक्र आते ही मुझे निकालकर ले आये और ख़ुद ही व्यस्त बनकर चल दिये। इन बातोंको मैं ख़ूब समझती हूँ। जानती हूँ मित्र आयें या न आयें, लेकिन ये ज़रूर आयेंगे। नारीका निमन्त्रण हो, और पुरुष—वह भी कलाकार—अस्वीकार करदे? सारे दिन जाने क्यों मनपर बड़ी प्रसन्नता छाई रही है। आख़िर लोग कहानी-कारके रूपमें जानने तो लगे ही हैं मुझे। मैंने एकदम बुलाकर बुरा तो नहीं किया? कहीं यों न सोचने लगें कि मुझे एकदम सस्ता समझ लिया है? नहीं, ऐसा नहीं सोचेंगे। लड़की हूँ, हो सकता है चाहते हुए भी संकोचवश ज्यादा न बोल पाये हों पहले-पहल। आख़िर ये लेखक लोग क्या-क्या सोचते हैं हमलोगोंके बारेमें? और ठीक वही लिखते हैं जो सोचते हैं? मुझे फोन नहीं देना चाहिए था। कहीं यह न सोचें कि बहुत बड़े घरकी फोनवाली लड़की है, इसलिए बुलानेकी धृष्टता कर रही है। या हो सकता है हिम्मत ही न पड़े। नहीं, ऐसा नहीं है। बम्बईमें रहते हैं आख़िर। जाने-बूझे आदमी हैं। इन लेखक लोगोंका दिमाग़ भी पता नहीं कैसे-कैसे चलता होगा। कहीं उन 'फूल' जी की तरह पीछे लग गये तो?

उन 'फूल' जी की याद करके तो आज भी मन सिहर उठता है। आपने कहीं किसी कहानीमें मेरा पता पढ़ लिया। चले आये घर। कुछ अपनी छपी चीज़ोंकी कटिंग भी लाये थे, "जी, मैं फूलचन्द 'फूल' हूँ।

आपकी कहानी बड़ी अच्छी लगी। मुझे भी लिखनेका शौक़ है।" और इसके बाद जो चुप हुए तो फ़िलासफ़रोंकी तरह तीन घण्टे बैठे-बैठे सिगरेट फूँकते रहे। घरवाले परेशान कि किसे बैठा लिया है जो उठनेका नाम ही नहीं लेता। छः बजे आकर रातको दस बजे गये। बैठे-बैठे आप खोये-खोये ऐसे देखते रहे मानो जीवनके जाने किन गम्भीर रहस्योंको मनके भीतर छुपाये हुए हैं। उस दिन तो सच, इतनी बोर हो गई थी कि रोने-रोनेको हो आई। जाने क्या प्रभाव डालना चाहते थे अपनी इस अदासे? दूसरे दिन सोलह पन्नोंका लम्बा खर्रा चला आया। क्या-क्या लिखा था उसमें याद भी नहीं है। फोन आया तो मैंने साफ़ कह दिया—"आपने क्या मुझे बेकार समझा है, या बेघर-बार हूँ मैं? आपको चुप बैठकर सिगरेट पीनी है तो जाकर समुद्रके किनारे बैठिये।" बादमें सुना, उन्होंने मुझे लेकर कोई बहुत गन्दी कहानी लिख डाली है। कहीं ये साहब भी ऐसे ही हुए तो? नहीं, ये ऐसे नहीं होंगे। वह तो सूरतसे निहायत घुटा हुआ लगता था। लेकिन पता नहीं, उदयकी सूरतमें ऐसा क्या था कि मुझे लगा जैसे मैं सहसा चौंक उठी हूँ।

...जाने क्यों फिर तेजकी याद आने लगी है। सचमुच मुझे भूल गया तेज...?

मंगल, ४ जून

आज सारे दिन सोचती रही कि उन्हें किस कमरेमें बैठाया जाय। ड्रॉइंगरूम तो ठीक नहीं रहेगा। पता नहीं, एटहोम महसूस करें या नहीं। पापाके सोफ़े-कुर्सी देखकर जाने क्या सोचें। दूसरे वहाँ बैठेंगे तो पापासे भी परिचय कराना पड़ेगा, व्यर्थमें दोनोंके सामने धर्म-संकट आयेगा। पापा डॉक्टर आदमी, उन्हें साहित्यसे क्या लेना-देना? वे रेडियोमें मेरा नाम सुनकर, अख़बारोंमें तस्वीर देखकर, कहानी पढ़कर और लोगोंसे यह सुन-कर ही फूले रहते हैं: "डाक्टर साहब, आपकी लड़की बड़ी होनहार है। प्रतिभा है सुजातामें।" इस सबसे उनकी आँखें चमक सकती हैं, वे गद्-

गद हो सकते हैं; लेकिन सच बात है, चाहे लेखक हो या कोई और, एक बहुत ही साधारण स्तरका कुर्ता-धोती पहने आदमी, उनके घर आकर बड़े अफ़सरों या धनियों जैसा सम्मान पाये, यह उन्हें शायद अच्छा कम लगे। कहेंगे तो कुछ नहीं। सोचती हूँ, एक चलता-सा परिचय कराके सीधे अपने कमरेमें ही लाया जाय। लाइब्रेरियन साहब तो कहते थे कि लड़कियोंकी सूरत देखते ही उनके प्राण सूख जाते हैं और उस दिन सम्पादक जी बताते थे कि भले घर उठाने-बिठाने लायक नहीं हैं। कहीं किसीने पापासे कह दिया तो जान खा लेंगे कि कैसे-कैसे लोगोंसे मिलती-जुलती हूँ मैं? जाने किसके कहनेमें आकर आपने मेरा अच्छा-खासा सितार बन्द करा दिया—नहीं, इन नचकैयों-गवैयोंकी न कोई जात-पाँत न स्टैण्डर्ड। अकेले-दुकेले देखें तो बदतमीज़ी कर बैठें। लाख रुपयेकी इज़्ज़त जाय।

खैर, जो भी हो। एक बार बुला लिया है तो निभाना ही पड़ेगा। कोई ऐसी-वैसी बात देखूँगी तो नहीं बुलाऊँगी आगेसे। भीतर यही सब सोचती हुई मैं सुबहसे कमरा ठीक करनेका प्लान बनाती रही। कुर्सियाँ कैसे रक्खी जायँ? कुछ अच्छी-अच्छी किताबें निकालकर मैंने सामने ही रैकपर रक्खीं, ताकि आते ही निगाह पड़े। साथ ही ऐसा भी न लगे कि आज ही निकाली हैं। सारी चीज़ोंको सधे, सँवरे और सुथरे ढंगसे रक्खा जाय या बिखरे और लापरवाह ढंगसे—यही निर्णय करनेमें मेरा काफ़ी वक्त गया। बिखरी हुई चीज़ोंमें कलाकारों जैसी निश्चिन्तता रहती है। कल गुलदानमें ताज़े फूल लगा दूँगी। फ़ुरसत मिले या न मिले, या याद ही न रहे इसलिए आज ही एक मोटी भारी-भरकम-सी किताबको बीचसे खोलकर मेज़ पर रख दिया, लगे पढ़ रही थी। जाने किस समय आ जायें, कल। आज भी जाने क्यों, कई बार बाहर जाकर देखा। कल एकदम ऐसी बेचैनी दिखलाऊँगी तो घरवालोंको अच्छा नहीं लगेगा। आज भी कई बार बाहर आने-जानेसे समझेंगे कि यह मेरा अभ्यास है। नौकरसे कहा—एक कोई बहुत सादेसे कपड़ोंमें आयेंगे। उन्हें 'मेरे

कमरेमें सीधे भेज देना। उनके हाथमें एकाध किताब होगी। ऐसा न हो कि कोई मरीज़-वरीज़ समझकर ख़ुद ही टाल दे। या पापाकी तरफ़ मोड़ दे। फिर बालकनीके दो-एक चक्कर लगाये। दुबारा इधर-उधर घूमती अक्काको सुनाकर कह आई, "जब वे आजायें तो सीधे चाय-नाश्ता ले आना। मुझे कहनेके लिए उठकर न आना पड़े।"

मन ही मन देखा, उन्हें खिड़कीकी तरफ़ बैठाना ज्यादा ठीक रहेगा। मेरी मेज़ किताबें, खिड़कीसे दीखता शिवाजी पार्कका हरियाला मैदान, फिर मकानों और नारियलके कुंजोंकी गोटोंवाला समुद्र—सामने एक रम-णीक वातावरण रहेगा। पर्दा हटाना पड़ेगा किसी बहाने। पहलेसे हटा दूँगी तो सुंदर पर्दे और मेरी रुचिकी प्रशंसामें बाधा पड़ेगी। अगरबत्ती पीछे जलनी चाहिए, ताकि धुँआ मन्थर गतिसे खिड़कीकी ओर लहराये। कोई तस्वीर तो ऐसी नहीं है जो अच्छे टेस्ट की न हो। तस्वीरोंको ध्यानसे देखा। रवीन्द्रनाथका एक रेखा-चित्र, सुधीर खास्तगीर द्वारा बनाई हुई गाँधीजी की तस्वीर और दो-एक लैण्डस्केप। ठीक तो है। मगर उन्हें खिड़कीकी ओर मुँह करके बिठाना ठीक नहीं होगा। असलमें उधर मुझे मुँह करके बैठना चाहिए, ताकि रोशनी मेरे चेहरेपर भरपूर पड़े।

बुध, ५ जून

संध्या : ६ बजे

...उनके आनेमें एक घण्टेकी देर है और समय बहलानेके लिए मैं डायरी लिखने बैठ गई हूँ। मनमें यह भी भाव है कि जब वे आकर दरवाज़े पर खड़े हो जायें तो मैं डायरी लिखते-लिखते इस तरह चौंक कर उठूँ जैसे, अरे आपके आनेकी बात तो मेरे दिमाग़से ही उड़ गई थी। बाहरके कई चक्कर लगा चुकी हूँ। अपने इस उतावलेपन पर खीझ भी होती है। आना होगा आजायेंगे, इसे लेकर इतना सिर-दर्द करनेकी क्या ज़रूरत है।

सारी बातोंके बावजूद दिनभर बड़ी अजब बेचैनी और गर्व महसूस होता रहा कि एक प्रसिद्ध और मेरी दृष्टिसे सफल व्यक्ति मुझसे मिलने आ रहा है। वह तो मैंने ही बात सँभाल ली, वर्ना उसदिन क़रीब-क़रीब नाराज़से ही हो गये थे। कई बार क्लासकी लड़कियोंसे बात-बेबात कह दिया : "भई आज शामका हम कोई प्रोग्राम नहीं रक्खेंगे। आज तो हमारे यहाँ उदयजी आ रहे हैं।" एकाधने पूछ लिया : "कौन उदय ?" तो मैंने झिड़क दिया— "अरे, लो। है न एकदम मूर्खा। वही तो अपनी लाइब्रेरीमें जिनका नया उपन्यास आया है। प्रोफेसर वर्मा बड़ी तारीफ़ कर रहे थे। आप उदयको नहीं जानतीं ?—मैं कहती हूँ कुछ कोर्सके बाहर भी पढ़ा लिखा करो।" कहनेवाली बिचारी झेंप मिटाती— "कौन हम तेरी तरह कहानीकार हैं बाबा ?"—एकने जैसे कराहकर कहा—"तुझे नाम पैदा करना है। हमें तो वही कहीं जाकर या तो टीचरी करनी है या बहुत हुआ तो दो-चार दर्जन बच्चे पैदा करने हैं।" अपनी ही बातसे झेंप उठनेवाले उसके चेहरेकी ओर ध्यान न देकर मैं तुच्छतासे मुसकरा देती—बेचारियोंकी ज़िन्दगी !

इस समय मैंने कपड़े नहीं बदले। अधिकसे अधिक सादा रहनेका विचार है। ऐसा न लगे कि दस मिनट पहले ही साड़ी बदली है। डायरी लिखते मिलनेकी बजाय यह भी हो सकता है उनके आते ही मैं भीतर चली जाऊँ। कमरेमें बैठाकर नौकर कहे : "बाई ग़ुसलख़ानेमें हैं।" फिर मैं क्षमा माँगती-सी निहायत ही सादे वेशमें बिना बाल काढ़े ही आऊँ। कहीं ऐसी कोई हरकत न हो जाये कि किसी उपन्यास कहानीमें लिख डालें···लो फोनकी घण्टी बज रही है···किसी मरीज़का होगा। उठा लेगा मिट्ठू। अरे, मुझे ही आवाज़ लग रही···

संध्या : सात बजे

तबीयत ऐसी भन्ना रही है कि मन होता है ये सारे काग़ज़-पत्तर फाड़ कर चिथड़े-चिथड़े कर डालूँ। कमरेकी सारी चीज़ें उलट-पलट दूँ।

सचमुच इन कलाकार लोगोंकी ग़ैर-ज़िम्मेदारियोंके मारे नाकमें दम है। ऐसा पता होता तो रेखाके साथ वही प्रोग्राम बना लेती। ज़रा हैंगिंग-गार्डेन्समें ही मज़ा रहता।

आपका फोन आया : "देखिए सुजाता जी, कैसे कहूँ। बड़ा लज्जित हूँ। मेरी बहन ज़बर्दस्ती सिनेमा घसीटकर ले जा रही है। वाक़ई, बड़ा ही अफ़सोस है कि मैं नहीं आ पारहा।"

जीमें आया फोन पटक दूँ। बुझे स्वरसे बोली : "ख़ैर, कोई बात नहीं। वैसे मैं आपके आनेकी राह ही देख रही थी। बाहर थी, भागी-भागी चली आ रही हूँ, कहीं आप आकर अकेले बैठे बोर न होरहे हों। मैं तो बहुत-सी बातें करनेको भरी बैठी थी। लेकिन जब बहनकी बात है तो कहूँ ही क्या? आपका यह आना ड्यू रहा।"

"अब क्या कहूँ? मैं ख़ुद आऊँगा। आनेसे पहले फोन कर दूँगा। क्या करूँ, बहनकी बात टाल नहीं सकता, नहीं तो···"

"अरे नहीं। ऐसा क्यों करते हैं? अच्छा, ऐसा कीजिए आप अपना फोन बता दीजिए। मैं ख़ुद याद दिला दूँगी, वर्ना, आप बड़े आदमी हैं। भूल-भाल जाँय।"

उस तरफ़से वे हँस पड़े : "नहीं जी, अपने पास कोई फोन-वोन नहीं है। जो कोठरी है वह भी किसीको बुलाने-बैठाने लायक़ नहीं है। इस-लिए किसीको बुलाता-बुलाता भी नहीं हूँ। अच्छा है, इस बड़े आदमी की पोल न खुलवायें।"

और जब धीरेसे हँसकर फोन रख दिया तो कुछ देर तो उनकी खुले ढंगकी बातोंपर भरी-भरी हँसी आती रही, पर फिर मन तलखी और झुँझलाहटसे भर गया। मुझे साफ़ लगता है यह बहन-वहनकी बात बिलकुल झूठ है। वे या तो अपने आपको बहुत तीसमारख़ाँ लगाते हैं कि नौसिखुओं-से क्या मिलें, या फिर सचमुच बहुत ही झेंपू हैं—लड़कियोंके सामने प्राण निकलते हैं। ऐसा ही था तो कहा क्यों था उन्होंने?···बड़ा दम्भ है!

मेरा आजका सारा प्रोग्राम और दिन बरबाद कर दिया न। पता नहीं, अपनेको क्या समझते हैं!

हीनता और व्यर्थताकी कचोट जहाँ मनको बोझिल बना रही है और उसे क्षुब्ध झुँझलाहटके रूपमें बाहर बखेर देना चाहती हूँ वहीं एक निश्चिन्तता भी है: चलो जान छूटी। अब फिरकी-फिर देखी जायेगी।...

बृहस्पति, ९ जून
प्रातः, साढ़े पाँच

प्रोफ़ेसर साहबकी बात रातभर दिमाग़में दुहराती रही, "ये लोग दो किताबें लिखकर ही पता नहीं अपनेको क्या समझने लगते हैं। रसका एक सवाल पूछ लिया जाय तो बग़लें झाँकने लगें। और बिहारीके एक दोहेका अर्थ इनके बाप भी नहीं समझा पायेंगे। इनको इण्टरके इम्तहानमें बैठा दो, न एक-एकको फेल कर दूँ तो नाम बदल देना। साहित्यिक हुए हैं तुलसी और सूर...” और भी न जाने कितनी और क्या-क्या गालियाँ दे लेनेके बाद भी, मनमें एक अनजानी उदासी और बोझिलता-सी छाई रही और उनकी इस उपेक्षापर बार-बार भीतरसे रोना-सा आने लगा। जब कह दिया था तो आये क्यों नहीं? सचमुच, क्या मेरा लिखना किसी क़ाबिल नहीं है? कॉलेज, घर-बाहरकी सारी प्रशंसा क्या केवल मुझे बहकाने और भुलाये रखनेके लिए है? वे सब एक 'उदीयमान प्रतिभा' को प्रोत्साहनभर देनेके लिए कहे गये शिष्टताके वाक्य हैं, और कुछ नहीं? मैं लड़की हूँ, यही इस सारे यशका आधार है? जीमें आया कि अपने इस सारे लिखेको फाड़ डालूँ। लेकिन सुबहतक अवचेतन रूपसे मनमें एक कचोट बैठ गई थी कि इस व्यवहारके पीछे चाहे लड़कियोंसे झेंपना हो या अपनेको बहुत तीस-मारखाँ लगाना; इस आदमीकी असलियतसे एकबार टक्कर ज़रूर लेनी है।

शनिवार, ८ जून

पिछले दो-तीन दिनोंसे एक अजब चीज़ अपने भीतर मार्क कर रही हूँ। बस-स्टॉपपर खड़े-खड़े अचानक लगता है जैसे पीछे उदय खड़े हैं, मैं पीछे मुड़कर देखूँगी और चौंककर कह उठूँगी, "अरे, उदय जी, आप?" लगता, जैसे कॉलेजके बाहरकी सड़कपर ही अचानक वे जाते दीख जायेंगे, या जैसे ही मैं किसी लोकल-स्टेशनमें घुसूँगी, तो देखूँगी कि वहाँ हाथमें एक किताब दबाये वे भी टहल रहे हैं। मैं अनजाने रूपसे पास जाकर उन्हें चौंका दूँगी। इस बम्बईमें लाखों आदमी रहते हैं और इस तरहकी कल्पना कितनी निराधार है—यह भी मैं जानती हूँ; फिर भी अनुद्वेगपूर्ण निरन्तर चलती प्रतीक्षा है और कॉलेजसे आते ही सबसे पहले अक्कासे पूछती हूँ: "कोई फोन आया था क्या?" मैंने देखा, इन दिनों मुझे लाइब्रेरीमें जानेके कई काम निकल आये हैं—शायद पहलेकी तरह वहीं मिल जायँ? आज पैदल उस रास्ते भी मार्च किया, जहाँ एकाध बार उन्हें आते-जाते देखा था। व्यर्थ ही दो-एक किताबें खरीद लाई और साँझ-तक सोच लिया कि नहीं मिलते तो जायँ भाड़में। इतना अहंकार? अब मिलें भी तो वह रुखाई दिखाऊँगी कि याद करेंगे...

रविवार, ९ जून

आज उदयसे मुलाक़ात ही नहीं हुई, मेरे साथ आये भी...

कॉलेज साहित्य-सभाकी एक गोष्ठी थी और उसमें वे भी आये थे। मन्त्री अरुणाने कई बार मुझसे कहा—"देखिए, गोष्ठी बड़ी 'डल' हो रही है। लोग व्यर्थ ही आपसमें उलझ रहे हैं। सुजाता जी, आपने कोई कहानी भी नहीं पढ़ी। अब ऐसा कोई विषय उठाइए कि लोग दिलचस्पी भी लेना शुरू करें।" मेरा इरादा शुरूमें चुप ही रहनेका था, लेकिन इस अरुणाके ज़रिये अपने नाटक 'ध्रुवस्वामिनी'के लिए हॉल लेना था।

झेंप लगी कि क्या सवाल उठाऊँ? फिर आया, क्यों न उदयजीको ही घसीट डाला जाय! बड़ा अपनेको उपन्यासकार लगाते हैं! इससे इनको यह भी पता लग जायेगा कि मैं सचमुच इण्टैलिजैण्ट और समझदार हूँ 'यों ही बेचारी लड़की' नहीं हूँ। हालाँकि मुझे देखते ही उन्होंने इसबार अतिरिक्त नम्रता से नमस्कार किया था, लेकिन दूर पड़ जानेसे बात बादके लिए रह गई।

मैंने सवाल क्या-क्या किये यह तो याद नहीं है, लेकिन इतना ज़रूर है कि उदयको काफ़ी सफ़ाई देनी पड़ी और फिर भी लोगोंको उनके जवाबोंसे सन्तोष नहीं हुआ। गोष्ठीके बाद अलग आकर वे बोले : "आज आपने अपना बदला निकाल लिया। उस दिनके लिए सचमुच, मैं बहुत लज्जित हूँ। क्या करूँ, तैयार होकर निकला तो देखा, सामने बहन आ गई। बोली, 'नहीं, कहीं नहीं जाना। सिनेमा चलेंगे।' क्या करता?" माथेपर बिखरे हुए बालोंको समेटकर यह वाक्य उन्होंने कुछ ऐसे भोले अन्दाज़से कहा कि मनमें आया हँस पड़ूँ। एक निमिष भरको आया, उनके शेष बालोंको ख़ुद समेट दूँ : 'हज़रत, करते आप कुछ भी, लेकिन इन बालोंको तो समेटिए।' लेकिन ऊपरसे निहायत गम्भीर बनी रही : "नहीं-नहीं, लज्जाकी क्या बात है?" और इस तरह जैसे किसी औरको खोज रही हूँ, सिर घुमा-घुमाकर इधर-उधर देखती रही—"आपकी बहन साथ ही रहती हैं क्या?"

"नहीं जी, जाते हुए दो-एक दिनको रुक गई है। अच्छा, अब कब फ़ुरसत है आपको?"

मैं उनसे बातें कर रही हूँ, इसे प्रोफेसर वर्माने कई बार मार्क किया। मेरे मुँहसे निहायत ही लापरवाहीसे निकल गया : "जब भी आपको फ़ुरसत मिल जाय। मैं तो कॉलेजके बाद घर ही रहती हूँ। रेखा-वेखाके साथ इधर-उधर निकल गये, तो कह नहीं सकती।" लेकिन अपना लहजा मुझे ही बड़ा अशिष्ट-सा लगा। अगर कोई सौजन्यवश नम्र है तो इसका अर्थ अनावश्यक रूपसे उद्धत हो जाना तो नहीं है। वैसे ही कम

दम्भी नहीं हैं। इसलिए सारी बातको परिहासका रूप देते हुए आगे जोड़ दिया—"भगवान्ने हमें कोई ऐसी बहन ही नहीं दी कि सिनेमा-नाटक दिखाने घसीट ले जाती।" और इस बार सचमुच मैंने देखा कि उनका चेहरा झनझनाकर लाल हो उठा : अरे, यह तो दम्भी-वम्भी कुछ नहीं, झेंपू है! कई बार मनमें कुलबुलाहट होती रही कि कोई ऐसी बात कह दूँ और चेहरा फिर उसी तरह लाल हो उठे। किसीको चिढ़ानेमें भी सच-मुच कितना आनन्द आता है। बालोंकी पिनसे मैं अपने नाखून साफ़ किया करती थी और तेजको इसी बातसे बड़ी चिढ़ थी। मैं थी कि उसके सामने अदबदाकर यही करती। मैंने पूछा : "अब कहीं जायेंगे क्या?" अपने स्वरमें मैंने ध्वनित होने दिया; जैसे फिर शायद अपनी बहनसे मिलने जाना हो।

व्यंग्यको उन्होंने पकड़ा और हठ-पूर्वक बोले—"नहीं, अभी तो कहीं नहीं जाना। चलिए।" उनके यों अचानक तैयार हो उठनेपर मैं धर्म-संकटमें पड़ गई। खास तौरसे कॉलेजके कुछ लोगोंके बीच उदयका नाम अच्छे सन्दर्भमें नहीं लिया जाता, उनके साथ यहाँसे बाहर निकलना सबका ही ध्यान अपनी ओर खींचेगा। पर अब क्या हो? प्रोफ़ेसर वर्माको खास तौरसे बुरा लगेगा। हुंह, मेरी हर गति-विधिके परिचालक वे ही हों, ऐसी अण्डरस्टैण्डिंग तो मैंने कभी नहीं दी। दूसरी दिशाओंसे अपना ध्यान हटानेके लिए रास्तेभर मैं उनसे सिर्फ़ कॉलेज और उस गोष्ठीपर ही बोलती आई, यहाँकी सारी राजनीति और भीतरी बातें बताती रही, और वे कभी गम्भीरतासे और कभी हँसकर सुनते रहे। मैं उन्हें सीधे अपने कमरेमें ले आई...

रास्तेभर जिस आशंकाकी मैं कल्पना करती आई थी, कमरेपर आ-कर उसे मैंने मानो नये सिरेसे देखा। मेरा सख्त ऑर्डर था कि मेरी अनुपस्थितिमें मेरे कमरेमें कोई क़दम न रखे। कई बार इस बातपर महाभारत हो चुका था। अब देखा : सुबह यह रिबन और क्लिप मेज़-

पर डालकर चली गई थी, सो यों ही पड़े थे। क्रीमकी शीशीका डिब्बा खोलकर मेज़के नीचे छोड़ गई थी वह भी यों ही रक्खा था। अपनी इस सनकपर मुझे इस समय बड़ा क्रोध आया। कमसे कम कमरा झाड़-बुहार तो जाता ही। यों बहुत अस्त-व्यस्त नहीं था; लेकिन जैसा मैं चाहती थी वैसा भी नहीं था। कोई बहुत हल्के क़िस्मकी कहानियोंकी किताब बिस्तर-पर पड़ी थी, और बुक-मार्ककी जगह उसमें कंघा लगा था। कहीं उसपर इनकी निगाह न पड़ जाय, जाने क्या सोचें। मैंने आते ही अपने हाथकी सारी किताब-कापियाँ उसी किताबपर डाल दीं और उस 'अपराध'-को छिपानेके मानसिक संकोचको ज़रा खुले व्यवहारसे ढँकनेके लिए उन्हें कुर्सीकी ओर संकेत करके ख़ुद पलंगपर बैठती हुई बोली—"कहिए, चाय पियेंगे या कॉफ़ी, या कुछ ठण्डा?"

"जी, इस समय तो कुछ नहीं चलेगा···" मेरी किताबोंको निगाहोंसे टटोलते हुए वे बोले।

"देखिए, मैं कॉलेज और घरमें अपने खुलेपनके लिए काफ़ी बदनाम हूँ। अक्का भी कहती है शर्म-हया इसे छू नहीं गई है, लेकिन आपके सामने मुझे काफ़ी तमीज़से रहना पड़ रहा है। लगता है इससे काम चलेगा नहीं। मैंने पलंगपर, पीछे दोनों हाथ टिका दिये और अनजाने ही उस किताबके दीखते कोनेको भीतर सरका दिया। सामने दीवारकी तस्वीरके शीशेमें मुझे अपनी परछाईं दिखाई दे रही थी और अपना वह पोज़ मुझे बहुत अच्छा लगा।

"अक्का कौन?" प्रयत्नपूर्वक वे मुझे सीधे नहीं देख रहे थे।

"हमलोग इधर बहुत दिनोंसे हैं न, सो मैं अम्माको अक्का कहने लगी हूँ। भैयाकी देखा-देखी कहने लगी।"

"ओः," वे जैसे इस कमरेमें अपनेको बड़ा अस्त-व्यस्त पा रहे थे। कुछ देर चुप रहकर बोले—"आप तो बहुत ही पास रहती हैं।"

"आप भी इधर ही कहीं रहते हैं क्या?"

"बस यहीं ब्रॉडवेके सामने ही ज़रा हटकर समझिए।" फिर शायद उन्हें ध्यान हो आया कि वे अपनी व्यक्तिगत बात ले बैठे हैं। पूछा : "क्या लिख रही हैं आजकल ?"

"यह तो मैं ज़्यादा उत्सुक थी आपसे जाननेको। उस उपन्यासके बाद क्या लिखनेकी योजना बन रही है।" मैं जानती थी कि किसी भी लेखकको झुकानेके लिए सबसे पहला प्रश्न यही करना चाहिए।

"मैंऽऽ...?" वे 'मैं' को खींचकर बड़ी निराशासे हँसे—"आपकी इस बम्बईमें कोई आदमी लगकर लिखनेका काम कर सकता है? बाहर निकलो तो भाग-दौड़, क्यू, सीटियाँ, भोंपू, रेलों-ट्रामोंकी चिचियाहट—जैसे किसी तेज़ीसे घूमती चर्खीपर आदमी बैठा हो, ज़रा पकड़ छूटी नहीं कि जाने कहाँ जा गिरे। और जिस चालमें आप रहते हों, उसकी कोठरीमें धुँआ, घुटन, फिसलन, शोर, लड़ाई-झगड़ा, चोरी, एक मुसीबत है? बताइए इसमें आदमी क्या लिखे? लिखते वक़्त तो सचमुच अपने शहरोंकी बड़ी याद आती है।" उनकी भौंहोंपर एक पनीला बादल जैसे घिर आया। मुझे लगा जैसे उनकी भौंहोंकी बनावटमें कुछ ऐसी बात है जो मुझे चुभ जाती है...

और नौकरसे कॉफ़ीके लिए कहने जाते हुए मैंने एक बार उनके चेहरेको ग़ौरसे देखा—साँवला रंग, लम्बा चेहरा, घनी भौंहें और माथेपर तिलक या शिवके तीसरे बन्द नेत्र जैसा किसी घावका लम्बा-सा निशान। इस आदमीके दिलमें भी जाने कैसी-कैसी स्मृतियाँ और आकांक्षाएँ होंगी। अक्का कुछ और न समझे, इसलिए बताया कि बहुत बड़े लेखक हैं, कॉलेजमें सबसे बड़े प्रोफ़ेसर हैं, बड़ा नाम है, लेकिन रहते बहुत सादा हैं। अपना कोठी-बंगला सब है, कार है। देखकर कोई जान भी नहीं सकता कि इतने बड़े आदमी हैं।

लौटी तो वे खिड़कीसे बाहर खुले चन्द्राकार मैदानको देख रहे थे। कमरेमें प्रवेश करनेसे पहले एक बार अपनेको जाँचनेवाली निगाहोंसे ऊपर-

से नीचे तक देखा था। साड़ीके पल्लेको कन्धेसे लाकर बग़लमें खोंस लिया था। इससे शरीर ज़्यादा चुस्त दिखाई देता है। बाँहें खींचकर नीचेकी ओर माथेपर झूल आई लटको यों ही रहने दिया, अच्छी लगती है। पता नहीं उदयने कैसे जान लिया कि मैंने प्रवेश किया है। 'शायद नारीकी उपस्थितिको पुरुष अपनी हर चेतनासे पा लेता है।'—मनमें सूक्ति आई। कहीं लिखनेमें प्रयोग करूँगी। हँसी भी आई। मुसीबत है लेखक होना भी। ज़िन्दगीकी हर बातको बस, लिखनेकी दृष्टिसे सोचना। आते ही मैंने अपने पलंगकी किताबों, मेज़के काग़ज़ोंको देखा, उन्हें मेरी अनुपस्थितिमें छुआ तो नहीं गया है। वे ज्यों-के-त्यों थे। हाँ, खिड़कीका आधा पर्दा एक ओर सरका दिया गया था।

"बम्बईमें तो आदमीको सिर्फ़ दो ही जगह रहना चाहिए।" वे मेरे आते ही मानो अपने आपसे कह रहे थे : "एक तो यहाँ शिवाजी पार्कमें या फिर कहीं दूर जुहू या वारसोवाके शान्त किनारोंपर। यह खुला ग्राउण्ड, मकानोंकी क़तारें, सीमेण्टके फुटपाथ और चिकनी-चिकनी सड़कें, सामने नारियलके पेड़ और दूरपर सागरकी लहराती चादर, इठलाती खुनकीली हवा—रीयली इट्ज़ रोमैण्टिक···ऐसी शांति···"वे खोये-खोये-से कहते रहे—"मेरा एक परिचित बिज़नेसमैन मित्र बताता था कि जब इस शोर-शराबेसे ऊबकर उसकी तबीयत कहीं दूर भाग जानेकी होती है, तो वह अपनी बिल्डिंगकी सबसे ऊँची छतपर चला जाता है और कानोंमें बुरी तरह रूई ठूँसकर दो-चार घण्टे शान्तिसे आराम करता है···" फिर उस मित्रकी इस हरकतपर खुद ही हँसे। रुककर बोले—"आदमी यहाँ नहीं लिखेगा तो कहाँ लिखेगा?"—शायद तभी उन्हें याद आ गया—यह सारी बातें सोलहवीं सदीके टिपीकल भावुक लेखकों-जैसी हैं, और कमज़ोरी प्रकट करती हैं। इसीलिए उसी बातको आगे बढ़ाकर जैसे यथार्थकी धरती पर ले आये—"तभी तो आप ऐसा अच्छा लिख लेती हैं कि रश्क हो। अपना कुछ नया लिखा बताइए न?"

अपनी प्रशंसासे तन-मन न पुलक उठे, यह असम्भव है। साड़ीकी पटलियोंको उनसे बचाकर मेज़ तक आई और क़ाग़ज़-किताबोंको ठीक करती हुई बोली : "कहाँ लिखा जाता है कुछ? हमारा सारा वक्त तो ये कोर्सकी किताबें खा लेती हैं। कभी-कभी तो ऐसी चिनचिनाहट छूटती है कि सबको खिड़कीसे बाहर फेंक दूँ। पर फिर सोचकर रह जाती हूँ कि एक डिग्री हो जायेगी तो आगे कमा खायेंगे, वर्ना कोई कौड़ियोंको नहीं पूछेगा।"

उदय हँस पड़े : "क्यों बेकारकी फ़िक्रोंमें अपना वक्त बरबाद करती हैं, जिसे ज़रूरत होगी खुद कमाकर खिलायेगा। मेरा मन तो वाक़ई कभी-कभी लड़की बननेको करता है। मौज़से खाओ और जब पतिदेव ऑफ़िस चले जायँ तो पड़ोसियोंसे लड़ो कि सीढ़ी कौन झाड़ेगा। न चिन्ता न फ़िक्र। शादीसे पहले माँ-बापके सिर खाया, बादमें ज़िन्दगीभरको नौकर मिल ही जाता है।"

"बन जाइए न, मना कौन करता है। अब तो बहुत लोग बदल रहे हैं। अभी कल ही तो अखबारमें था···" लेकिन जब भीतर-ही-भीतर मुझे इस बातपर झेंप उमड़ी कि एकदम इस तरहकी बातें मुझे नहीं करनी चाहिए। कहीं यह न समझ लें कि बहुत 'चालू' लड़की है।

"उस लिहाज़से आपमें पुरुषोंके ज्यादा गुण हैं।" और वे ज़ोरसे हँस पड़े। कितनी ज़ोरसे हँसते हैं! वह तो पापा नहीं हैं, अक्का सुनेंगी तो क्या समझेंगी? स्पष्ट ही उनका लक्ष्य मेरा बेझिझक व्यवहार था।

बिट्टू चाय और नाश्ता ले आया। मेज़के पासकी कुर्सीपर बैठकर प्याले सीधे करते हुए मैंने कहा—"अच्छा, यह बात छोड़ें। मज़ाक़की बात नहीं है। एक मदद आपको हमारी करनी है। दो-एक कहानियाँ इधर-उधर क्या छप गई हैं लोग बहुत बड़ा कहानीकार समझने लगे हैं। अज़ब उलटे-सीधे ख़त लिखते हैं। कोई बहन बनाता है, कोई समझता

है कि मैं वरमाला लिये उन्हींके लिए तैयार बैठी हूँ। खैर, अब इस सबकी लाज़ कैसे रक्खी जाय। एक भी तो कहानी कमबख्त दिमाग़में नहीं आती।"

"तो मतलब, मैं लिखकर दे दूँ?" जब मैं चायमें चीनी डालने लगी तो दो उँगलियोंसे दो चम्मच चीनीका संकेत करके वे मेरे चेहरेको भरपूर निगाहोंसे देखते बोले। उन्होंने मुझे कब किस भावसे देखा—यह अनकांशस रूपमें हर क्षण पढ़ती रही। नारीमें एक बड़ी विचित्र शक्ति होती है। अगर आज्ञा दी जाय, तो मैं कहूँगी, अपने छोटे रूपमें वह अन्तर्यामी होती है। वह शब्द दे पाये, या समझकर उसे अस्वीकार या स्वीकार करे यह दूसरी बात है; लेकिन पुरुषके मनमें आनेवाली हर भाव-लहरको जैसी सचाईसे वह पढ़ सकती है, कोई मनोवैज्ञानिक नहीं पढ़ सकता। वह निगाहें तौलती है और चालाकसे-चालाक निगाहोंको उससे चुराया नहीं जा सकता। बिना उनकी ओर देखे, चेहरेपर उनकी निगाहें महसूस करते ही मैं जान गई कि अब उनके मनमें पहले जैसी लापरवाही और उपेक्षा नहीं है। विशेष रूपसे उन निगाहोंसे वे कहानीकार सुजाताको नहीं, युवती सुजाताको देख रहे हैं। शायद यह देखनेके लिए कि वह लड़की कैसी है जो यों बेझिझक ऐसी बात कह सकनेका साहस कर रही है। निश्चय ही उनके दिमाग़में यह भी आया कि कहीं पिछली कहानियाँ भी तो मैंने यों ही किसीको चायपर बुलाकर नहीं लिखवा लीं। छिः क्या सोचेंगे लेकिन उनके बोलनेमें जो एक घनघनाती चुनौतीका भाव था, उससे मेरे मनमें तो आया कि सचमुच मज़ा तो रहे अगर सामने बैठे इस दम्भी व्यक्तिको मैं ऐसा प्रभावित कर लूँ कि यह मेरे नाम-से कहानियाँ लिखे। बहुत असम्भव है क्या? देखा जाय, एक बार यह खेल भी? और मेरे मनमें उस क्षण बड़ी विकट कसमसाहट हुई कि चाहे एक बार शालीनता और नैतिकताकी सारी हदें तोड़ देनी पड़ें; लेकिन इस [illegible]। तभी ध्यान आया विवाहित हैं या अविवाहित? मैंने उनकी बातके जवाबमें कुछ कड़े शब्दोंमें कहा—

"जी नहीं, अच्छी-बुरी जैसा भी लिखती हूँ, कहानियाँ मैं ख़ुद ही लिखती हूँ। सुनते हैं आपने बहुत पढ़ा है। कुछ किताबें हमें सुझा दें तो हम भी कहानीकी टैकनीकके बारेमें सीख लें।"

"किताबें पढ़नेसे ही तो टैकनीक नहीं आती।" होठोंसे प्याला हटाकर वे बोले—"और किताबें अपने प्रोफ़ेसरोंसे पूछतीं, तो ज़्यादा अच्छा होता।"

"प्रोफ़ेसर लोग जैसी किताबें बताते हैं वह सुना नहीं आपने लाइब्रेरियन साहबसे? वे बेचारे कोर्सकी किताबें तो बता नहीं पाते, यह कहाँसे बतायेंगे?" मैं बच्चोंकी तरह शिकायतसे भुनभुनाई। इतनी बड़ी होकर मैं यह क्या बचपना कर रही हूँ, इस बातका ध्यान आया तो बड़ी लाज लगी; लेकिन फिर याद आया कि पुरुषको तो नारीका बचपना कभी बुरा नहीं लगता। बल्कि उसे तो वह मुग्ध ही करता है।

वे बुज़ुर्गाने सन्तोषसे मुसकराये, मानो कह रहे हों: लड़की दसवेंमें पढ़े या एम० ए०में उसका बचपना नहीं जाता। अपनी बात जारी रक्खी: "आप भी ग़ज़ब करती हैं। सूर, तुलसी, बिहारी और घनानन्द पढ़ानेवाला हर लैक्चरर अपनेको ख़ुदा समझता है। उसकी समझमें साहित्यको समझनेका कोई दूसरा अधिकारी है ही नहीं। रस, स्थायी-भाव और संचारीभावोंके नाम जानकर वह अपनेको गहन मनोवैज्ञानिक घोषित करता है और भरतके नाट्य-शास्त्रके ग़लत-सलत उद्धरणोंके भावोंकी कसौटीपर टालस्टायके 'वार एण्ड पीस' को फ़ेलकर डालता है।"

उन्होंने ऐसी गम्भीरतासे बन-बनकर यह बात कही कि जैसे-तैसे मेज़पर प्याला रखकर मैं खिलखिलाकर हँस पड़ी। प्रोफ़ेसर वर्मा जो कुछ कहा करते थे उसका यह दूसरा पहलू था। उनका पक्ष लेकर बोली "देखिए, यह आपकी ज़्यादती है। कुछ मजबूरी उनकी अपनी भी होती है। उन्होंने अपने समयतक साहित्यको जहाँ तक देखा-जाना वहीं तक तो वे बेचारे बोल सकते हैं। आपको तो वह सब बीस साल पुराना लगेगा ही।"

"ठीक है। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। ऐसा ही मानें और अपनी सीमाओंमें रहें, लेकिन फिर वे ऐसा क्यों मानते हैं कि उनके चोटीदार गुरुने डिवीज़न और पोज़ीशनके प्रत्यक्ष और परोक्ष आश्वासन-पर जो भी कुछ बताया, उसके अलावा सब गाली देने लायक़ ही है। सारी परेशानी तो तब उठती है जब हर प्राइमरीका हिन्दी मुदर्रिस अपनेको साहित्यकार कहता है, और इसी मुग़ालतेमें रहता है। सुना है आपने किसी अँग्रेज़ीके प्रोफ़ेसरको अपनेको अँग्रेज़ीका साहित्यकार घोषित करते ?" फिर जैसे वे बिफरकर बोले : "सुजाता जी, मजबूरी कहकर आप उन्हें बचा नहीं सकतीं। ये मजबूरियाँ ख़ुदाने तो नहीं बनाई थीं कि आप हर वक्त कॉपियाँ जाँचने, पेपर सेट करने, नोट्स और टैक्स्टबुक लिखाकर अपना नाम डाल देनेकी तिकड़ममें ही रहिए, अपनी मूर्खता-को मजबूरी कहिए और बुग्घू-जैसा मुँह बनाकर 'हमारे यहाँ तो शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया'...के छौंक लगा-लगाकर गालियाँ दीजिए।"

उनकी उत्तेजनापर मैं हँसकर बोली—"अच्छा, छोड़िए। आप उनके लिए क्यों अपनी कॉफ़ी टोस्ट ठण्डे करते हैं।" वे जब तक टोस्ट खाते रहे, मैं सोचती रही कि इनके चेहरेपर ऐसी क्या चीज़ है जो मुझे रह-रहकर चुभ जाती है। लगता है, उसे कहीं मैंने देखा है। कुछ देर चुप रहकर बोली—"आप बहुत ख़ार खाये बैठे हैं क्या इन लोगोंसे ?" इस सबको सुनें तो प्रोफ़ेसर वर्मा क्या कहें, मेरे सामने हरबार उसीकी तस्वीर आ रही थी।

"मेरा तो मन करता है कि इन लोगोंपर एक ऐसा उपन्यास लिखूँ कि इनकी तबीयत दुरुस्त हो जाय।" वे बोले—"बी० ए० की कॉपी थर्ड-ईयरके गोबर-गणेशको जाँचनेको देकर आप ट्यूशन पढ़ाने चले जाते हैं। एक दूसरेकी नक़ल करके नोट्स छपा लेते हैं। कोर्समें लगवानेके लिए प्रकाशक इनसे क्या-क्या ज़लील काम नहीं कराता ? फिर बातें वही पचास साल पुरानी। वह भी इतनी किताबी कि सुनकर ग़ुस्सा आये।

आखिर इतने साल इन्होंने पढ़ाया, कुछ समझे भी, या यों ही निगलते और उगलते रहे?"

जब वे घूँट-घूँट कॉफ़ी पीने लगे तो मैं उठी? एक कहानी लाकर सामने रख दी। "यह कहानी मैंने अभी-अभी लिखी है। इसे ज़रा देखकर बता दें कि क्या सुधार होना है। प्रोफ़ेसरोंको प्रोफ़ेसरी करने दीजिए, आप थोड़ी, हमारी मदद कीजिए।" मैंने कुछ अधिकार-पूर्वक विषय बदला। मुझे लगा, जैसे मेरे सामने यों सहसा उत्तेजित होकर उन्होंने मुझे अपनी बात कहनेका साग्रह अधिकार दे दिया है।

तनी भौंहें ढीली पड़ गईं। उनकी भौंहोंका तनना, उत्तेजनाके बादकी खिसियानी मुसकराहटकी झेंप, सभी कुछ मुझे कुछ-कुछ परिचित-सी लगीं। मनमें आया कि अरे, इस भंगिमा और भौंहोंकी यह गति तो मेरी बहुत परिचित है। लेकिन कहाँ, सहसा याद नहीं आया, तो मन ज़िद करके उसीको खुरचने लगा।

"कब लिखी?" आवाज़ गिराकर वे कहानीको उलटते-पुलटते बोले।

"अभी दो-तीन दिन पहले ही तो पूरी की है बड़ी मुश्किलसे। आप इसमें सुझाव दीजिए।" यह मैं झूठ बोल रही थी। कहानी पुरानी थी और इसके बाद मैं दो-तीन और भी लिख चुकी थी, लेकिन इसे मैं अपनी अच्छी कहानी मानती थी। और लोगोंका भी विचार ऐसा ही था। मैंने यह कहानी उन्हें प्रभावित करनेकी दृष्टिसे ही दी थी। कहानी पलटते हुए उनके चेहरेकी प्रतिक्रिया देखनेके लिए कनखियोंसे देखा तो बात फिर चुभी कि इस चेहरेका कुछ है जिसे मैं बहुत ही निकटसे जानती हूँ। दाँतोंमें अटकी चीज़को जब तक निकाल न ले, जीभ वहीं आस-पास मँडराया करती है, मेरे मनमें देरतक वह बात घुमड़ती रही।

"देखिए, सुजाता जी, एक बातका अगर बुरा न मानें तो मैं कहूँ।" वे कॉफ़ी पी चुकनेके बाद रूमालसे कसकर मुँह पोंछते हुए बोले—"मैं

ज़रूरी नहीं मानता कि हर चीज़पर राय दी ही जाये, लेकिन जिसपर भी राय देता हूँ बहुत ही खुलकर देता हूँ। आप लिखना शुरू कर रही हैं, अच्छा हो राय वग़ैरह न पूछें और आत्म-विश्वाससे लिखती चली जायँ। कहानी मैं शौक़से पढ़ूँगा, और मुझे आपकी कहानियाँ वैसे पसन्द हैं।"

उस क्षण मेरे मनमें यह आये बिना न रहा कि न मालूम यह अपनेको क्या समझता है। इसकी सफलताने इसका दिमाग़ बिगाड़ दिया है। मैंने अत्यन्त ही निरपेक्षतासे कहा—"मैं वैसी कच्ची नहीं हूँ, उदय जी। मुझे भी स्पष्टवादी लोग ही पसन्द हैं। मैं खुद मुँहफट हूँ। सारे कॉलेजमें 'मर्दानी लड़की' कह-कहकर लोगोंने बदनाम कर रक्खा है। मैं तो आपसे खुद ही कहनेवाली थी कि अगर मेरी कोई बात आपको बदतमीज़ीकी लगी हो तो माफ़ करदें। हम दो ही भाई-बहन हैं सो घरवालोंने बिगाड़ दिया है। इसलिए आप बिलकुल ही निश्चिन्त होकर अपनी राय दें। मुझे इससे लाभ ही होगा।" तभी दिमाग़में टकराया, क्या अजब लोगोंकी टक्कर है: एक मर्दानी लड़की है तो दूसरा ज़नाना पुरुष। एकको कम उम्रमें ही यशने बिगाड़ दिया है तो दूसरेको प्यारने। 'टक्कर' शब्द मनमें अटका। क्या सचमुच यह टक्कर ही है? हरेकसे यों टकराते फिरनेकी बातको मनकी नैतिकताके संस्कार नहीं सकारते। लेकिन आखिर अपनेको कुछ लगानेवालेसे टकराकर उसकी असलियत देख लेनेमें हर्ज़ ही क्या है? एक बार यह बात भी दिमाग़में आई, कहीं अभी-अभी कही बातका ये कोई दूसरा अर्थ न लगालें। नारीकी किस बातका क्या अर्थ ये लोग लगा लेंगे, कोई नहीं जानता। ले लेंगे तो ले लें: मैं तो चाहती हूँ कि लें। थोड़ी-सी ढील देनी होगी।

"बहन कहती है कि तुम अपनी राय बेकार क्यों देते फिरते हो? खैर, अच्छा है। देखूँ मेरी रायका क्या असर आपपर पड़ता है?" वे उठ खड़े हुए—"अब चलूँ?"

उनके एकदम इस प्रकार उठ खड़े होनेसे मुझे भी उठना पड़ा।

यह उठना अप्रत्याशित ही था। मेरे मुँहसे निकला : "अरे, अभी मैंने आपके उपन्यासपर तो बातें की ही नहीं। हमलोग भी जाने किस बेकार-की बहसमें पड़ गये।" उठनेसे मेरे कानका रिंग झमक उठा और डूबते सूरजकी किरणोंका प्रतिफलन वहाँ कौंधा। ध्यान आया : रेखा कहती है कि 'दाहिने कानको ठीक कन्धेके ऊपर लाकर बायीं कनपटीके एंगिलसे देखने-पर तेरे फ़ीचर्स बड़े आकर्षक लगते हैं। इस समय मैं उसी पोज़में खड़ी थी। मैंने देखा कि उदयने उस चेहरेको प्रशंसाभरी निगाहोंसे देख लिया है। लेकिन यह कमज़ोरी पकड़ी न जाय इसलिए वे मेरे कन्धेके ऊपरसे खिड़कीके पार खोये-से देखने लगे थे। पार्कमें कुछ लड़के फ़ुट-बॉल खेल रहे थे। एक बहुत लम्बी लाल कार सड़कपर दूर धीरे-धीरे चल रही थी। उन्होंने मुझसे अभी तक सीधी निगाहें नहीं मिलाई थीं। मैंने उन्हें अपने आपको देखनेके काफ़ी मौक़े दिये थे, लेकिन उन्होंने बड़े झिझकते-डरते और बहुत उड़ते-उड़ते ही देखा था। मैंने जब ख़ुद सीधे देखा तो उनकी निगाहें ही नहीं उठीं। बड़ा कमज़ोर व्यक्ति है! उसदिन मेरे सामने यह साफ़ हो गया कि यह इस व्यक्तिके अहंके क़िले-की सबसे कमज़ोर दीवार है। तो कर डालूँ एक बार यहींसे हमला? अवचेतनमें यह सोचते-सोचते मैंने एक बार जब उनके चेहरेको फिर देखा तो निगाहें फिर भौंहोंपर अटक गईं। इन भौंहोंको मैंने बहुत पाससे देखा है, ये तो मेरे दिलके बहुत निकट रही हैं। हाँ···याद आया, ये तो तेजकी भौंहोंसे कितनी मिलती हैं। यही तो जबसे मेरे मनमें चुभ रही थीं और मैं मानो शब्द देते डरती थी। मानो शब्द लेकर मैं बातको स्वीकार कर लूँगी और उसे स्वीकार करना तेजके प्रति ग़द्दारी होगी···लेकिन तेज मेरे जीवनमें अब रह कहाँ गया है? लन्दनमें अँग्रेज़ मेमके साथ जाने उसे अब मेरी याद आती भी होगी या नहीं···उसने मेरे साथ विश्वास-घात नहीं किया?

जाने क्यों, अब नहीं लिखा जाता···अक्षरोंमें बार-बार तेजकी आकृति उभरने लगती है···मैं सिर्फ़ तुम्हारी ही तो थी तेज···

दिलचस्पी नहीं है। आवाज़को रोकनेके लिए अपने मुँहके पास हाथ लगाकर भी बातें वे बहुत धीरे-धीरे कर रहे थे। यह इनकी कौन-सी बहन है जो अक्सर इनके दिमाग़पर छाई रहती है और उसे वे ऐसे तन्मय-भावसे फोन किया करते हैं? उधर मुँह फेरे हुए भी मैंने सुना :

…"तो आज ही जा रही हो न मद्रास?…अरे, ये कोई घूमनेका वक्त है आजकल?…और मद्रासमें ऐसा घूमने लायक़ है क्या?…न न… भाई, हमें इतनी फ़ुरसत कहाँ? मज़दूर आदमी हैं। आज कमायेंगे नहीं तो कल खायेंगे क्या? कार्यकर्ता होते तो हम भी पानीकी जगह संतरे-के रससे प्यास बुझाया करते।…ना भाई, यहाँ ज़िन्दगीकी रेस ही दम नहीं लेने देती, घोड़ोंके पीछे कहाँ-कहाँ दौड़ते फिरें?…तो फ़्री-स्टाइल कुश्ती भी है? तभी तो…जाओ बाबा, तुम्हीं देखो…हमने तो देख ली दिल्लीमें और तबीयत भर गई…"

बहन इनकी अच्छी खाती-पीती लगती हैं! लेकिन इनकी हालत तो बिलकुल दूसरी है। वे बातें करनेमें ऐसे डूब गये थे कि दीन-दुनियाका होश नहीं था। इसबार मैंने उन्हें भरपूर निगाहोंसे देखा। मनमें आया कि पापाके चैम्बरमें ले जाऊँ और आपरेशन-टेबिलपर लिटाकर चाक़ूसे इनके व्यक्तित्वकी एक-एक परत उधेड़कर देखूँ…एक-एक सैलको डिसैक्ट कर डालूँ। फिर अपनी इस कल्पनापर हँसी भी आई। तभी ध्यान आया कि उदयकी भौंहें मुझे फिर चुभ रही हैं। तेजका पूरा चेहरा आँखोंमें कौंध गया। कैसा कहा करता था : "तुम्हारे बिना ज़िन्दगी सूनी-सूनी लगेगी। मन नहीं लगेगा तो मैं तो भाग आऊँगा। कह दूँगा डैडीसे, मुझसे नहीं चलता यह सब।" और अब?…अंग्रेज़ मेम बग़ीचा लगवाया करेंगी और इंजीनियर साहब लौटकर आराम-कुर्सीपर पड़ जाया करेंगे : "हनी, आइ'म डैम टायर्ड टु डे!" एशियामें अपने ढंगका अकेला डैम है। बड़े-बड़े देशी-विदेशी इंजीनियरोंके साथ काम करना पड़ता है। दम मारनेकी फ़ुरसत तो मिलेगी नहीं।

सारे दिन धूल-धक्कड़में कपड़ोंका नाश हो जाया करेगा। शार्कस्किनके बुश्शर्ट और गैबर्डीनकी पतलूनोंकी जगह खाक़ी ज़ीनका निकर और कमीज़ पहने ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियोंपर भटकते कैसा लगा करेगा?··· विलायत न गया होता तो शायद हमलोग हो···। सचमुच, वे भी क्या दिन थे!···जाने क्या मज़ा आता था कमबख्तको मुझे टीज़ करनेमें!···मैं हेयर-पिनसे नाख़ून साफ़ करने लगी तो नावको कैसा डगमगा दिया था नैनीतालमें!···तब तो आप तैरना भी नहीं जानते थे।···हममेंसे कोई एक सरक पड़ता तो? एक बड़ी गहरी साँस निकल गई तो होंठ बुदबुदा उठे: जिनकी भौंहें बहुत मोटी-मोटी और घनी होती हैं वे बेवफ़ा होते हैं···दुष्ट।

तभी अपना नाम सुनकर मैं चौंक गई। टेलीफोनपर वे बोल रहे थे। "···हाँ, हाँ···सुजाता नाम है। पढ़ी है कोई कहानी···?···अच्छा, तब तो मान लिया कि ज़रूर अच्छी कहानी लिख लेती होंगी···लेकिन हमसे अच्छी क्या खाकर लिखेंगी!···बात करोगी?"

मैं एकदम बौखला उठी। पता नहीं किस अपरिचितसे मेरी बातें कराये दे रहे हैं? क्या बोलूँगी? जानती तक तो हूँ नहीं। पर शायद उधरसे भी ऐसी ही कठिनाईके कारण इनकार हो गया···। चलो जान छूटी ··। मुझे तो इतनी-सी बातपर पसीना आगया। गर्व भी हुआ···मैं भी एकदम अनजानी नहीं हूँ···। याद आया, इन्हें बातें करते काफ़ी समय हो गया। लेकिन उनकी तन्मयताको मैं खड़ी-खड़ी देखती रही। हमारे भैया तो हमसे इस तरह बातें नहीं करते घुल-घुलकर। वे तो जब देखो तब डाँटे रहते हैं···मानो उन्हें बस डाँटनेका ही हक़ है। उदयने फोन रख दिया और गहरी साँस लेकर बोले: "उफ़, इससे बातें करना भी पूरा महाभारत खोलना है···।" लेकिन उनकी इस बातमें, स्नेहकी पुलक थी। मुझे जैसे वे सफ़ाई दे रहे थे। वे अभी-भी उन्हीं बातोंमें खोये थे···। उसी तरह बोले—"जहाँ भी जायेगी, बस तुम भी चलो।"

यों तो यह एकालाप ही था; लेकिन अब मुझे भी कुछ बोलना ज़रूरी हो गया"'वे कुर्सीपर बैठे थे। मैंने सोफ़ेकी टेकके सफ़ेद कवरकी सिकुड़नें निकालते हुए पूछा—"आपकी बहन क्या यहीं रहती हैं?"

इस बार वे टूटकर चौंके। "बहन?—हाँ, बहन यहीं रहती थी पहले तो। अब तो उसके हस्बैण्डका ट्रांसफ़र हो गया न।" फिर याद करके मुसकराये: "बड़ी शातिर है।" फिर ठीक ऐंगरी पैकके अन्दाज़से दोनों हाथ लाचारीमें फैलाये। बोले: "यहाँ हमारे साथ कौन रहेगा'''? अकेले पड़े रहते हैं सरदार मुलायम सिंहके साथ। किसी दिन आपको मिलाऊँगा बहनसे।"

"ज़रूर, ज़रूर।"

नारीके सामने पुरुष जब अपने बिखरेपन, अस्तव्यस्तता और निरीहताकी बातें करता है, अपने आपसे शिकायतें करता है तो उसका निश्चय एक गम्भीर अर्थ होता है। उसे सहानुभूति चाहिए'''उसे एक पतवार चाहिए'''। समझी। तो मेरा अनुमान ग़लत नहीं है। यह इनके गढ़का सबसे कमज़ोर कोना है ही''

"अच्छा, आपको बड़ी तकलीफ़ दी। अब चलूँगा।" तभी सुना। एकदम हाथ जोड़े वे उठ खड़े हुए। हाथोंमें मेरी कहानी थी।

"और सोच लीजिए।" आँखें मिलते ही मैं व्यंग्यसे मुसकरा दी, अर्थ था किसी औरको फोन-वोन न करना हो। फिर मैं उन्हें जाते देखती रही।

सोमवार : १० जून

सुबह उठी तो तबीयत बहुत खुश और हल्की थी, और जैसे-जैसे दिन सरकता गया, मनपर एक अनजान बोझ लदता चला गया। सोकर उठी तो बिस्तरपर लेटे-लेटे, मन ही मन उनकी एक-एक तस्वीरको देख-देखकर मज़ा लेती रही, और बाँहोंमें बँधे तकियेपर रक्खा बायाँ गाल

मुसकराता रहा। मगर साँझ होते-होते यह विश्वास हो गया कि जो मैं कर रही हूँ, वह वर्जनीय है, अनुचित है और शायद किसीके प्रति विश्वास-घात है...। लेकिन विश्वासको घात न करनेका ठेका मैंने ही लिया है ?

आज मुझसे एक लाइन नहीं पढ़ी गई। अभी-अभी टेबिल-लैम्प लगाये मैं आधी उठी, एक किताब खोलकर मुसकराती, उदास होती, जाने क्या-क्या सोच रही थी। दिनभर बड़ी उमँगी-उमँगी रही—मैं किससे जाकर कहूँ : 'देख, आज उदय मेरे यहाँ आया था। मैंने उससे दो घण्टे बातें कीं।' उदय मेरे यहाँ आये थे यह बात मुझे पुलकित किये थी या मैंने उन्हें अपने यहाँ बुलाकर कृतार्थ किया था, यह मेरी समझमें नहीं आया। सही है, व्यक्तिके रूपमें उन्हें शायद बहुत लोग न जानते हों, और सभी कलाकार उदयसे परिचित हों; लेकिन उनका उपन्यास पढ़कर जाने मुझे क्यों लगा जैसे मैं व्यक्ति उदयकी बहुत भीतरी सतहों तकसे परिचित हूँ। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व मेरे यहाँ आया, इससे मैं भले ही अंशतः उपकृत हुई होऊँ; लेकिन व्यक्ति उदयपर तो मैंने 'कृपा' ही की है—यह मैं भीतर-ही-भीतर महसूस कर रही थी। उपन्यास कहानियोंमें ये लोग चाहे जो लिखते हों, लेकिन व्यक्तिगत रूपमें इन्हें वह व्यवहार कहाँ मिलता है जिसके लिए इनकी आत्मा तरसती रहती है ? कहीं पढ़ा था, कि कला मनुष्यकी काल्पनिक इच्छा-पूर्ति—विशफुल थिंकिंग—ही तो है। एक क्षणको कहीं भीतर गुपचुप-सा प्रश्न उठा, उपन्यास-सिनेमाकी तरह ज़रा-सी ढील देकर देखूँ ? शग़ल ही रहेगा।...हिश्ट, मर जायेगा बेचारा !...और प्रश्न दबा लिया...।

कल उदयकी दो बातें बड़ी अजीब लगीं : एक तो बात बे-बात लड़कियोंकी तरह लाल पड़ जाता, और दूसरे एक भावस्थिति या वार्तालापको तोड़कर अचानक ही तटस्थकी तरह चल खड़े होना। आज सुबहसे ही मुझे ऐसा लग रहा है, मानो हमलोगोंका मिलना दो अप-

रिचित व्यक्तियोंका मिलना नहीं, अपरिचित परिस्थितियोंमें दो परिचितोंका मिलना है। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही लगा। हो सकता है, इसका कारण यह हो कि मैंने उसके बारेमें इतना अधिक सुन लिया है, और दो-एक बार उनकी शक्ल-सूरतसे परिचित हो ली हूँ, कि उनके बारेमें प्रायः सभी बातें जानती हूँ। मनमें दो-एक बातें खटकती हैं। लेखक होनेके जोशमें मैंने कहीं बहुत अधिक लिबर्टी तो उनसे नहीं ले ली?— यह भी मैं जानती हूँ कि नारीकी ली हुई लिबर्टीका पुरुष शायद ही कभी बुरा मानता हो। जहाँ तक मेरा अनुमान है, यह चीज़ प्रच्छन्नरूपसे उसके अहंको सन्तुष्ट ही करती है। लेकिन वह उस लिबर्टीको प्रायः एक ही अर्थमें लेता है कि 'माल-पटाऊ' है। कहीं मेरी बात-चीत, उन्मुक्त फ़िकरे-बाज़ीसे उन्हें ऐसा तो नहीं लगा कि मैं कुछ 'यों ही-सी' लड़की हूँ? मगर इतना विश्वास है, पहले वे चाहे जो कुछ सोचें, कहानी पढ़नेके बाद प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकते। मैं उत्कट प्रतीक्षासे व्याकुल हो उठी कि वे जल्दी-से-जल्दी मेरी कहानी पढ़कर अपनी राय बतायें। मन होता है कि सुबह ही मैं उनके यहाँ जाकर चौंका दूँ: अपनी कहानीपर आपकी राय जानने आई हूँ। यह जाननेकी इच्छा भी बड़ी प्रबल है कि ये 'सफल' और 'श्रेष्ठ' कहे जानेवाले लेखक व्यक्तिगत जीवनसे कैसे होते हैं? शायद जल्दी-से-जल्दी उनसे घनिष्ठता बढ़ा लेनेकी आतुरताके पीछे भी यही भाव हो।

...इस समय मैं यहाँ लेटी हूँ। हो सकता है वे वहाँ मेरी ही कहानी पढ़ रहे हों। कैसा लग रहा होगा? कहानीकी कौन-कौन-सी पंक्तियाँ उन-पर क्या-क्या प्रतिक्रिया कर रही होंगी, यह जाननेकी ऐसी आकुलता मनमें हुई कि एकदम हाथकी किताब एक तरफ़ रखकर मैं कहानीकी एक छपी प्रति निकाल लाई। (उन्हें हाथकी लिखी दी थी।) उन्हें कहाँ कैसा लग रहा होगा, सोच-सोचकर एक-एक लाइनको जैसे बिलकुल नये सिरेसे दो-दो बार पढ़ा। जिन हिस्सोंको मैं बहुत अच्छा समझती थी, उन्हें

फिरसे उनकी दृष्टिसे बिलकुल नये और तटस्थ और एकदम अपरिचित पाठककी दृष्टिसे पढ़ा।

…यह इनकी बहन कौन है? रेस देखने शायद मद्रास जा रही है। बहुत धनी है क्या? अच्छा, कहीं ऐसा तो नहीं है कि मेरे सामने 'इन्फ़ीयारिटी' फ़ील करते हों और व्यर्थ ही एक धनी बहनकी कल्पना खड़ी करके हमारे ऊपर प्रभाव पैदा करनेकी कोशिश कर रहे हों? शायद यह भी जताना चाहते हों कि देखो, मेरा इतनी लड़कियोंसे सम्पर्क है। बहुत लोगोंकी आदत होती है। कहाँ, कहानी पढ़ी थी किसीकी कि एक लड़कीको कोई पत्र नहीं लिखता था तो वह खुद अपने ही नामसे अपनेको प्रेम-पत्र लिखकर आत्म-संतोष पाती थी। मुझे लगता है, यही बात ठीक है, वर्ना मेरे सामने ही दो-बार फ़ोन करनेकी क्या ज़रूरत थी?

हुँह, मैं भी क्या व्यर्थकी बातें लेकर बैठी हूँ…कोई और काम नहीं है मुझे? इम्तहान नहीं देना क्या?

मंगल : ११ जून

आज क्लासमें उदयका नाम जिस रूपमें आया उससे मन तो हुआ कि मैं खड़ी होकर विरोध करूँ, लेकिन रेखा कलाईपर हाथ रक्खे रोके रही। प्रो० वर्माने कहा था कि "जो नैतिक नहीं है, जो समाजके सामने एक आदर्श उपस्थित नहीं कर सकता, वह अच्छा साहित्य दे ही नहीं सकता। जो अपना चरित्र नहीं सुधार सकता, वह क्या खाकर समाज और साहित्यको सुधारेगा? एक हैं यहाँ"…पता नहीं, उदयसे प्रो० वर्मा इतना क्यों चिढ़े हैं, कोई मौक़ा नहीं छोड़ते। जब देखो तब कहते हुए सुन लो : "अजी कुछ नहीं, जब देखो, तब कॉफ़ी-हाउसों और सड़कोंपर आवारोंकी तरह हा-हा हू-हू करते घूम रहे हैं। न पोज़ीशनका ख़याल, न व्यवहारमें गंभीरता। मैं तो अक्सर मिला हूँ, अध्ययन भी कोई ऐसा

खास नहीं है। फ्रांस, इंगलैण्डके बोहेमियन लेखकोंकी नक़ल करते हैं।"

उदयके बारेमें यह सब नया नहीं है। बहुत बातें मैंने सुनी हैं उनके बारेमें। कुछ कहते हैं कि वे नम्बरी स्नॉब और दम्भी हैं, अपने आगे किसीको कुछ लगाते ही नहीं। कुछके खयालसे वे ज़रूरतसे ज़्यादा छिछले, और चीप हैं। कुछके लिहाज़से वे बहुत ही अध्ययनशील, गम्भीर और सौम्य हैं और कुछ उन्हें निहायत बना और घुटा हुआ कहते हैं, जो हमेशा दो-एक किताबें साथ रखकर धाक जमानेकी कोशिश-में रहता हो। एक दल उन्हें देशी-विदेशी पूँजीपतियोंका दलाल बताता है और दूसरा उन्हें रूसी एजेण्ट घोषित करता…। सम्पादकजीने तो बताया ही था कि यह भले घरोंमें आने देने लायक़ व्यक्ति नहीं है…।

फिर भी मैं सोच रही हूँ कि ऊँचा साहित्य लिखनेके लिए लेखकको समाजके बने-बनाये नियमोंके अनुसार 'आदर्श व्यक्ति' 'परम शीलवान्' और 'नैतिक पुरुष' होना ही चाहिए? बसमें बैठी हुई मैं रास्तेभर रेखासे इस बातपर बहस करती आई। रूढ़िवादी, महान् कैसे हो सकता है यह मेरी समझमें नहीं आता। ये शील, चारित्रिकता, आदर्श आज जिन अर्थोंमें जाने जाते हैं वे सब रूढ़ियाँ नहीं हैं तो और हैं क्या? मैंने कहा : "मैं उदयका बचाव नहीं करती, और न मैं उसे ऐसा महान् मानती हूँ। बननेके प्रौसेसमें है। चलता चला गया तो हो सकता है कल कुछ बन जाय, नहीं तो दो-दिन बाद खुद मर जायेगा। लेकिन एक बात मेरी समझमें नहीं आती कि संसारके जिस भी बड़े चिन्तक, कलाकारको ले लो; प्रायः वे लोग 'आदर्श' और 'अनुकरणीय' व्यक्ति नहीं ही रहे हैं। उन्होंने नैतिकता और आदर्शोंकी रूढ़ियोंको तोड़ा है। यही क्यों, साहित्यके बुरे चरित्र जितने दिलको छू जाते हैं अच्छे छू पाते हैं? शायद कलाके सबसे जीवित चरित्र वे हैं जो अच्छे नहीं हैं। यों अच्छे और बुरे सभी लोग होते हैं लेकिन कलाकारके पास उस बुरेकी कचोटको महसूस करनेवाला दिल भी होता है। वही तो उसे और लोगोंसे अलग करता है

और जिस कलाकारने जितनी गहराईसे इस कचोटको महसूस किया है, वह उतना ही ऊँचा साहित्य दे पाया है।"

मेरी बातोंपर रेखा जिस व्यंग्यसे मुसकराती रही, वह झुँझलाहट पैदा करता था। मानो मैं जबर्दस्ती उदयका बचाव कर रही हूँ। सचमुच मैं उदयको डिफ़ेण्ड ही कर रही थी क्या?···लेकिन, विश्वास नहीं होता कि उदय ऐसे हैं···। लोगोंने उन्हें दूरसे देखा है, अपने स्वार्थों और धरातलोंसे ऊपर उठकर नहीं देखा।···एक दिन एक कवि-सम्मेलनमें सुनी रामावतार त्यागीकी कविता खुद-ब-खुद उभर रही है :—

"जी रहे हो जिस कलाका नाम ले ले,
कुछ पता भी है कि वह कैसे बची है?
सभ्यताकी जिस अटारीपर खड़े हो,
वह हमीं बदनाम लोगोंने रची है!"

लेकिन फिर ख़याल आया "कविता, तर्क नहीं होती···"

बृहस्पति : १३ जून

जाने क्यों, बुराईके प्रति स्त्रियोंका विशेष रूपसे एक स्वाभाविक आकर्षण होता है—यह मैंने अपने अनुभवसे जाना है। 'बदनाम' और 'दुश्चरित्र'के रूपमें पहचाने जानेवाले पुरुषोंके प्रति मैंने अपने भीतर एक बड़ा उत्कट और दुर्जेय-सा आकर्षण पाया है। साथ ही यह भी नहीं लगा कि यह बहुत अस्वाभाविक है। शायद सभी स्त्रियोंके साथ यही होता हो। ऐसा क्यों है? मुझे इसका कारण यह लगता है कि [पुरुषकी 'बदनामी' और 'दुश्चरित्रता'के पीछे कहीं-न-कहीं किसी नारी या नारियोंके सम्पर्कका होना आवश्यक ही है] और यही हर नई नारीके लिए बहुत बड़ा आकर्षण है कि आखिर इसमें ऐसी बात क्या है कि उन स्त्रियोंने इसे इतनी लिफ्ट दे रखी है? क्या यह अप्रत्यक्ष रूपसे नारियोंका 'ट्रेड-यूनियनिज़्म' नहीं है?

अपने इस विचित्र विश्लेषणपर मन-ही-मन हँसी आती रही। मैं देर तक पागलोंकी तरह अकेली हँसती रही।

अपने मनकी मजबूरियों और कमज़ोरियोंको आदमी किस तरह सामान्य बनाता है। कैसे वकीलकी तरह केस तैयार करता है। यह मनका 'छिछोरापन' ही तो नहीं है जो मुझे यों सोचनेको मजबूर कर रहा है?

गाँवकी एक कोई बुआ आई थीं। उन्होंने ही पापाको पढ़ाया था और बड़े ही कड़े स्वभावकी थीं। मैं तो कभी बचपनेमें उनके पास गई हूँगी। लेकिन सुन-सुनकर ही मनपर उनका आतंक छा गया था। पापा अब तक उनसे डरते हैं। पता नहीं क्यों, सोते समय अवचेतनसे उनका एक वाक्य उभर-उभरकर सामने आने लगा। आते ही मुझे देखकर जाने किस सिलसिलेमें बोली थीं—"जग्गी,—(पापाका नाम योगेश है) इस लौंडिया पै नज़र ना रक्खै है क्या? बड़ी आज़ाद कर रक्खी हैगी। मुझसे तो देक्खा नहीं जावे भैया। रंग-ढंग बिलकुल छिछोरियों जैसे कर रक्खे हैंगे।" सुना तो भीतर जाकर खूब रोई, खूब रोई। दो दिन लगातार रोती रही। खाना नहीं खाया। हालाँकि पापाने तभी डरते-डरते कह दिया था—"अरी जिया, बम्बई है यो। कोई तेरा मेरठ बुलंदशहर ना है। बोलणा चालणा नहीं आयेगा तो बैठके मुँह ताकेगी? कहानी लिखने लगी है, ड्रामा यूनियनकी जॉयण्ट सेक्रेटरी हो गई है। अब ड्रामा करैगी। 'ध्रुवस्वामिनी बनैगी।" बुआने माथा ठोक लिया: "हाय राम, इत्ते मर्दोंके सामने? तू तौ नाक कटा क्कै छोड़ैगा फैसनमें आक्कै। ना भैया, तेरा जो जी चाहै कर, पर बच्चोंका तो आग्गा देख। ला, इसे मेरे साथ भेज। हमें नहीं रखनी अपनी लौंडियाँ यहाँ। अरे, लाख रुपयेकी इज्जत ही जब चली जायैगी, तौ हम क्या फिर मात्था कूट्टेंगे?" खैर, वह जो हंगामा मचा सो अलग एक क़िस्सा है। जब भी मैं बाहर निकलती, किसीसे हँसकर बातें करती, किसी तरफ़ देखकर मुसकराती तो यह 'छिछोरी' शब्द कीलकी तरह चुभ उठता।

मैं उदयके सामने इतना खुल गई, उन्हें यहाँ ले आई, साथ बैठकर गप्पें लड़ती रहीं, यह क्या 'छिछोरापन' था ?

आज सुबहसे लग रहा था, जैसे आज ज़रूर ही उदयका फोन आयेगा, रह-रहकर लगता कि मैं कमरेमें घुसूँगी, तभी पापाके कमरेमें घण्टी बज उठेगी। ग़ुसलखानेमें गई तो कान फोनपर लगे रहे। कॉलेज जानेका समय आध घण्टा टाल दिया, शायद इसी बीचमें आ जाये। आफ़िस, दूकानोंके खुलनेकी वजहसे उस समय फोन बहुत व्यस्त रहते हैं, आध-पौन घण्टेमें प्रायः सब नॉर्मल हो जाता है। ···लेकिन फोन नहीं ही आया।

शुक्र : १४ जून

सुबह सोचा था कि अगर वे खुद, या उनका फोन नहीं आया तो मैं उनके यहाँ पहुँच जाऊँगी। यह क्या हरक़त है ? कहानी लेकर ही बैठ गये। दूसरे किसीको भी तो काम हो सकता है उससे। ऐसी भी क्या लापरवाही ?···लेकिन मनके भीतर कहीं धुँधला-धुँधला-सा यह भी था कि न आयें तो देखूँ, कहाँ रहते हैं···। आखिर हो क्या गया ? कहीं किसी बस, कारकी चपेटमें तो नहीं आ गये···? कहानी जेबमें रक्खी हो और स्ट्रेचरपर लदे चले जा रहे हों। लेकिन दो-दिनसे अखबारमें कोई ऐसा ऐक्सीडेण्ट नहीं दिखाई दिया···। कहीं उनकी बहन जी साहिबा तो उन्हें उठाकर नहीं चलती बनीं ? कौन है यह कम्बख्त आखिर ?

हमलोगोंने आगे मिलनेका कुछ तय भी तो नहीं किया था ? फिर भी मेरी कहानी उनके पास है, और यही मेरे लिए मन-ही-मन बहुत बड़ा आश्वासन है कि या तो वे कहानीके लिए खुद ही मुझसे मिलेंगे या सम्पर्क करेंगे। आज और ठहरती हूँ फिर मैं ही उनसे मिलनेकी कोशिश करूँगी। पर मुझे विश्वास था, वे खुद आयेंगे। मैं चाहती हूँ कि वे आयें। क्यों चाहती हूँ ? मैंने मन-ही-मन प्रश्न किया। फ़ौरन ही उत्तर

मिला, कि मुझे उनका पता जो नहीं मालूम। अगर मैं मिलूँ भी तो आखिर कहाँ मिलूँ? अपने इस उत्तरपर खुद ही हँसी भी आगई···

शनिवार : १५ जून

कल डायरी लिखते-लिखते अचानक एक बड़ी अजब बात दिमाग़में आई थी। क्यों न उदयको लेकर एक कहानी लिख डाली जाय? जितनी बातें की हैं, या अब तक हुई हैं, क्या वे सब एक कहानीके लायक़ नहीं हैं? मुझे खुद ही अपना यह आइडिया कमालका लग रहा है। कहानी-लेखकपर कहानी लिखी जाय? खुद नाईकी हजामत बना डाली जाय? बड़े अपनेको तीरन्दाज़ लगाते होंगे। इस थीमपर फिर ग़ौरसे विचार करूँगी। अध्ययनके लिए एकाध बार मिलना तो होगा ही।

आज सुबहसे ही मैं बड़ी उत्कण्ठासे प्रतीक्षा करती रही। अकारण ही बार-बार लगता, जैसे वे आ रहे हैं। शायद कल फोन इसीलिए न किया हो कि आज तो खुद आना है। कई बार खिड़कीके पास गई और लौट आई। आठ-दस लड़के विकेट गाड़कर क्रिकेट खेल रहे थे, और दस-बारह आदमी आस-पास खड़े देख रहे थे। किसी चीज़का विज्ञापन करनेवाला, रंग-बिरंगा छाता लिये खड़ा था। उसका सिर्फ़ छाता ही दिखाई देता था। इस बम्बईमें भी लोगोंको कितनी फ़ुरसत है! अगर दो आदमी चौपड़ भी खेलेंगे तो तीन उसे देखनेवाले वहाँ ज़रूर खड़े हो जायेंगे। खिड़कीपर खड़ी दोनों हाथों-को सिरके ऊपर ले जाकर जूड़ा बाँध रही थी कि 'माउथ-ऑर्गन' की आवाज़ सुनाई दी। वही पड़ोसका शाह है। पढ़ने-लिखनेसे कोई मतलब नहीं, जब देखो सिनेमा ऐक्टरके अन्दाज़में दूसरी ओर देखते हुए माउथ-ऑर्गन बजा रहे हैं। मानो मुझसे कोई मतलब ही नहीं। मन

झुँझलाहटसे भर गया। एक दिन इस तरह बाजा बजाते देखकर ज़रा मुसकरा क्या दी, अब जिन्दगीभरको पीछे ही पड़ गये। तब 'मूड' था, अब नहीं है। मैंने उसकी ओर जीभ बिराई और पर्दे खींचती हुई भीतर चली आई। पापाके कमरेमें यों ही घूमती हुई पहुँच गई। पहले रेडियो खोला। याद आया इस वक्त सिलोन या काश्मीरमेंसे कोई भी नहीं आरहा होगा। फ़ौरन ही बन्द कर दिया। टेलीफोनके पास पहुँची। लगा मैं रिसीवर उठानेको हाथ बढ़ाऊँगी, तभी एक चमत्कार होगा। घण्टी खुद-बखुद घनघना उठेगी और साश्चर्य मैं पाऊँगी कि उधर उदय हैं। अचानक पर्दा उठा और पापाने प्रवेश किया। उनके आने-ने मुझे कुछ ऐसा हड़बड़ा दिया कि अपने वहाँ होनेकी सफ़ाई देना ज़रूरी लगा। फ़ौरन ही फ़ोन उठाकर डायल घुमाने लगी।

"कहाँ कर रही है?" पापाने योंही पूछ लिया। मुझे लगा जैसे वे किसी विशेष अर्थसे पूछ रहे हों।

"कॉलेज लाइब्रेरी। एक किताब मैंने निकलवाई थी, उसे वहीं भूल आई हूँ।" मेरे मुँहसे निकला—"और हाँ, पापा तुम्हें लाइब्रेरियन साहब पूछते थे।"

और जब लाइनके दूसरी ओर कहीं गहराईमें घण्टी बजी तो मुझे ऐसा लगा जैसे रीढ़की हड्डीमें एक झनझनाहट दौड़ गई हो। सोफ़े-पर बैग रखकर पापा बाथरूममें हाथ धोने चले गये थे। किसी मरीज़को देखकर आनेके बाद वे सीधे जाकर हाथ धोते हैं। उधरसे लाइब्रेरियनने पूछा—"हल्लो ऽ ऽ।" तो मैं इस तरह बोल उठी जैसे यही बात पूछनेके लिए मैंने फोन किया हो—"देखिए, लाइब्रेरियन साहब, मैं सुजाता बोल रही हूँ। उदयजीका डाकका पता आपके पास है?"—"हाँ, हाँ, लेकिन क्यों?"—"उनके यहाँ अपने ड्रामेका निमन्त्रण भेजना है न?" उन्होंने पता बता दिया, और मैं फोन रखकर वहीं खड़ी-खड़ी नोट कर रही थी कि भूल न जाऊँ। पापा तौलियासे हाथ पोंछते हुए फिर आगये।

बोले—"सज्जी, अक्कासे ज़रा चायको तो बोल दे। तूने पी ली न ?"

"जी, पापा।" मैं बोली। अम्माको वे अक्का जाने कबसे कहते हैं; लेकिन आजसे पहले यह सम्बोधन इतना कानोंको विचित्र नहीं लगा था। पहले-पहल मराठी-भाषियोंके साथ रहना पड़ा था, सो 'अजी,' 'एजी', या सिर्फ़ 'सुनो' कहने वाले पापाको भी हमलोगोंके देखा-देखी एक सुविधा-जनक सम्बोधन मिल गया। एक लड़कीके पिताजी तो नौकरों-की नकलपर अपनी पत्नीको "मालकिन" कहते हैं। पहले शायद किसी कामको कहनेके साथ "अपनी मालकिनसे कह दो" कहते होंगे···फिर केवल 'मालकिन' रह गया। मुझे क्या कहकर पुकारा जायेगा ? हिश्ट···।

उदय आज भी नहीं आये, न···फोन। आज तो मुझे रोना आ-गया। मज़ा यह कि रोते वक्त मैं बड़ी गम्भीरतासे यह भी सोच रही थी कि देखो, कैसी बेवकूफ़ीकी बातें कर रही हूँ मैं आजकल। कोई देखे तो क्या कहे ? फिर बादमें देर तक सोचती रही कि इस रोनेका कारण क्या उदयका न आना ही है ? नहीं। व्यक्तिके रूपमें तो उन्होंने मुझे इतना प्रभावित और इम्प्रैस किया ही नहीं कि मैं बादमें दूसरी बार मिलनेको ललकूँ। कहीं उपेक्षाकी एक कसकती हुई कचोट थी जो आँखोंमें आँसू ले आई। मेरा लिखना क्या वाक़ई इस लायक़ नहीं है कि किसीको प्रभावित कर सके। मात्र एक 'दया' है, एक 'लड़की' होनेकी रियायत है कि लोग इतनी लिफ्ट देते हैं ?

अक्सर यह कसक भी मैंने अपने भीतर अनुभव की है कि मुझे जो प्रशंसा और चर्चा मिल रही है, उसके पीछे मेरी प्रतिभा या कृतित्व नहीं, नारी होना ज़्यादा है। जिस भी पत्रिकामें मैंने उल्टी-सीधी रचना भेजी, दूसरे ही दिन सम्पादकजीका स्निग्ध उत्तर आ पहुँचता है। क्या-क्या आश्वासन और प्रोत्साहन उसमें नहीं होते। पत्रिका आती है, पारिश्रमिक मिलता है और मैं पाती हूँ कि मेरी रचना नये सिरेसे

लिखकर छाप डाली गई है। अक्सर लोगोंको मैंने शिकायत करते सुना है कि, "साहेब क्या कहें, हमारे पाठक तो ऐसे जड़ हैं कि आप अच्छी-से-अच्छी चीज़ लिख डालिए, भूलकर भी अपनी पसन्द-नापसन्द लेखक तक नहीं पहुँचाते। सम्पादक टिकट तक खा जाते हैं।" पर मेरा अनुभव बिलकुल दूसरा है। मेरी पहली कहानी छपी कि पत्रोंका ढेर लग गया था। सच कहती हूँ, बड़ा गर्व होता था, बड़ा अच्छा लगता था। सहेलियोंसे कहती, 'समझती क्या हो, एक कहानी छपी और ख़त लाते-लाते पोस्टमैन परेशान हो गया।' और पत्र पढ़-पढ़कर हमलोग मज़ा लेते। पत्र ऐसे-ऐसे मानो मैं वरमाला लिये बस उन्हींकी राहमें बैठी हूँ। किसीका जीवन सूना था, किसीका हाहाकारभरा···। लेकिन मैं जानती थी कि यह मेरी कहानीका नहीं, मेरे नामके साथ लगे "कुमारी" शब्दका प्रताप है। मेरे घरवाले, मेरे इस नये रूपसे परेशान काफ़ी रहे हैं। जो-जो पत्र आये हैं, अगर वे सब अम्माको बता दूँ तो दूसरे दिनसे डाकियेको इधर क़दम न रखने दें। सहपाठियों और "यों ही दर्शन करने" आने-जानेवालोंके ख़ातिर-ख़र्चेसे हम सभीको कितनी परेशानी उठानी पड़ी है, मैं ही जानती हूँ। वह तो शुरू-शुरूका जोश था सो निभ गया। पहले पापा-अक्काको भी प्रच्छन्न सन्तोष हुआ था कि हमारी बेटी नाम कर रही है, लेकिन फिर यह सब वक़्तकी बरबादी और सिर-दर्द हो गया। वह तो भला हो उस बेचारे फूलचन्द 'फूल' का, एक दिन चार-घण्टे बैठकर 'बोर' क्या कर गया, हमलोगोंने निश्चय कर लिया कि इन दर्शनार्थियोंको आगेसे लिफ़्ट नहीं देनी है।

और यही मुझे अक्सर कोंचता है। ठीक है, मुझे लड़की होनेका पुरस्कार मिल रहा है; लेकिन मुझसे पहले भी तो लड़कियोंने लिखा है। न जाने कितनी नारी कवियित्रियाँ और लेखिकाएँ हैं। उन लोगोंने अपने दिनोंमें चाहे जितना शोर मचाया हो, साहित्यिक मूल्य-महत्त्व उनके लिखेका कोई क्यों नहीं मानता? देखती हूँ, विवाहके बाद वे अच्छी-खासी

गृहस्थिनें बन गई हैं, और उनकी "प्रथम श्रेणीकी प्रतिभा" आज बच्चेके तकियेका गिलाफ़ काढ़नेमें ही दिखाई देती है। लिखना तो दरकिनार, उन्हें पढ़ने तकसे घृणा हो गई है। इस सबसे बचनेके लिए, हो सकता है मैं शादी न करूँ; लेकिन क्या ? ये सारे प्रोत्साहनों और प्रशंसाओंका घटाटोप केवल मेरी नारी' तक ही रह जायेगा ? कोई भी मेरी प्रतिभा और योग्यताको जाँच नहीं पायेगा ? आशंका और भयका घुन जैसे मुझे हरक्षण खाता रहता है। जब भी कहीं अपनी तारीफ़ सुनती हूँ तो लगता है जैसे कोई भीतर बोल रहा हो—'देख, यह तारीफ़ तेरी नहीं, तेरे लड़की होनेकी है !'

लेकिन जब कोई लड़की होनेकी तरफ़ ध्यान नहीं देता और रचनाओंके ही बलपर उन्हें उपेक्षा या आलोचना देता है तो मैं दुहरे अपमानसे क्यों तड़प उठती हूँ ? यानी खुद चाहती हूँ कि रचनाके बलपर जाँचो या न जाँचो मगर यह मत भूलो कि मैं लड़की हूँ। अजब द्वन्द्व है।

खैर, अब मिले तो यह उदयका बच्चा, ऐसा व्यवहार करूँ कि याद आ जाये, कोई मिली थी। बड़े आये बीस-मिनट हमारे फोनको घेरकर अपनी "बहनजी" से प्रेम-वार्ता करनेवाले। मान लो, इस बीचमें कोई अर्जेण्ट-केस हो पापाको बुलाना चाहे तो ? उनका क्या गया, हमारा तो नुक़सान हो गया न।

रविवार : १६ जून

कुछ अजब ढंगकी नींद आई आज रात। लगा जैसे कल जो-जो बातें सोचीं या लिखी हैं, वे लिखी या सोची नहीं बल्कि उन्हें ठीक उसी भाषामें किसीके साथ डिस्कस करती रही हूँ और जो कुछ मुझे याद रह गया है, वह उसी वार्तालापकी भाषा है। दूसरा आदमी कौन था, यह याद नहीं है। हो सकता है रेखा हो, उदय हो या तेज हो···। अजब बात है, जब उदयसे मिलती हूँ, तभी तेजकी याद आती है, वैसे आती ही नहीं।

"अक्का, मैं ज़रा कुलकर्णी साहबके घर तक जा रही हूँ। कोई फ़ोन-वोन आये तो कह देना कि दो-घण्टेमें आ जाऊँगी। रेखाके पास मेरी लाइब्रेरीकी किताब है, उससे कुछ ड्रामेके बारेमें भी तय करना है।"

एक कॉपीको गोल-मोल मरोड़ती, चप्पल घिसटाती हुई मैं जल्दी-जल्दी नीचे उतर आई। धूप कुछ तीखी थी। नीचे आकर दो लड़कियोंको छाते लगाये जाते देखा तो ध्यान आया कि अपना पैरासोल ले आती तो कैसा अच्छा था। दोनों लड़कियाँ अपने-अपने छाते फिरकिनियोंकी तरह घुमाती चली जा रही थीं। प्रबल इच्छा हुई कि दौड़कर मैं भी अपना छाता ले आऊँ और खूब घुमाऊँ। हँसी भी आई, अपनी इस इच्छा-पर। यह क्या कभी-कभी बच्चों जैसी मचलन मेरे भीतर होती है? पता नहीं, कहाँ जानेके लिए निकली थी, रेखाकी तरफ़...या उदयकी तरफ़? लेकिन होंगे इस वक़्त वे घरमें? जाने, क्या करते हैं? किसी अख़बार वग़ैरामें काम करते होंगे, और क्या? हर्ज़ क्या है? ज़्यादा दूर तो है नहीं, यों ही घूमती हुई देख आऊँगी। न मिलेंगे तो कमसे कम जगहका अन्दाज़ा तो हो ही जायेगा। जिज्ञासा है, आख़िर ये लोग क्या-क्या पढ़ते हैं, क्या लिखते हैं? फिर मनमें हुआ 'कि उँह कौन जाये, व्यर्थ ही उन्हें भी ग़लत-फ़हमी हो जायेगी। चलो, रेखाके ही यहाँ, ज़रा देर हा-हा ही-ही रहेगी। आना तो उन्हें ख़ुद ही चाहिए था। अगर आशा करते हों कि मैं आऊँगी, तो ग़लती है। आखिर लड़की हूँ, इतनी-सी बात उनके दिमाग़में नहीं आई होगी? और आखिर ऐसे भी क्या बड़े लेखक हैं? बम्बईमें सैकड़ों बड़े लेखक भरे पड़े हैं। ज़रा सम्पादकजीसे इशारा कर दूँ, वे सबसे मेरा परिचय करा दें। वे तो मुझे 'कृतार्थ' करनेको उधार खाये बैठे हैं।—मुझे कैथरिन मेन्सफ़ील्ड बनानेको कहते थे...पहले गिन्नीको मीरां और महादेवी भी तो बना रहे थे।

इसी सब दिमाग़ी उधेड़-बुनमें मैं लेडी जमशेदजी रोडके बस-स्टैंडपर आ खड़ी हुई। 'क्यू' लम्बा था। सामने 'कैमिल्स-इंक' का बोर्ड देखती

मैं सोचती रही, कि नये आदमी इन बोर्डोंको कितने ध्यानसे पढ़ते होंगे। हमारे लिए तो ये बिलकुल बेजान हो चुके हैं। मेरे सामने कसा ब्लाउज़ और जीन पहने बिलकुल लड़कों जैसे सुनहले बाल कटवाये, धूपका चश्मा लगाये एक पारसी या ऐंग्लोइण्डियन लड़की खड़ी थी। एक 'बस' आई, लेकिन मुझसे तीन आदमी पहले ही कंडक्टरने लाइन रोक दी। लोग घूर-घूरकर जब इसकी निकली छातियोंको देखते होंगे, तो इसे थोड़ी-बहुत झेंप तो आती ही होगी। हो सकता है, सन्तोष और आनन्दकी गुदगुदी महसूस होती हो। मान लो, अपनी कहानीकी हीरोइन एक ऐसी लड़कीको बना डाला जाय तो कैसा रहे? एक ऐसी लड़की जो घोर 'अनैतिक' है और शरीरको क़तई महत्त्व नहीं देती। रोज़ नये सम्बन्धोंमें विश्वास करती है—नित्य नये और अपरिचित लोगोंको 'कृतार्थ' करती है और कभी उनका नाम-पता, कुछ नहीं पूछती। एक राजा था जो रोज़ एक नई लड़कीके साथ सोता था और सुबह मरवा देता था—कहाँ पढ़ी थी यह कहानी? कोई कहता था, नित्य नये पुरुषके सम्पर्कमें आनेमें ऐसा ही आनन्द और थ्रिल है, जैसे नित्य संगीतकी नई-नई ट्यूनें सुननेमें। संगीत सचमुच आदमीको अज़ब ताज़गी दे देता है। "बुद्धिमानोंका समय काव्य, कला और संगीतमें ही बीतता है।" "जो संगीतका रस नहीं जानता वह साक्षात् सींग-पूँछ-हीन पशु है।" तो फिर रोज़-रोज़ नई-नई संगीतकी ट्यूनें सुनी जायें? छिश्ट, मैं भी बहुत बिगड़ती जा रही हूँ।

एक हॉकर आँखोंके आगेसे अख़बार तैराता ले गया। तभी मैं चौंक पड़ी; सामनेवाले फ़ुटपाथपर उदय जैसा ही कोई जा रहा था। हाँ, वही तो हैं। कहीं, मेरे यहाँ ही तो नहीं जा रहे? मुँह खोलकर चिल्लाते-चिल्लाते, मैं खुद नहीं जानती, कैसे रुक गई। लोगोंका खयाल न होता तो शायद चिल्ला पड़ी होती। साड़ीकी अगली पटलियोंको हाथमें उठाकर 'क्यू' छोड़कर उधर लपकी। सड़क पार करते-करते एक कारको गुज़र

जाने देनेके लिए रुकना पड़ा तो खयाल आया कि इस तरह दौड़ना ग़लत है। उन्हें खुद ही देखना चाहिए था, मुझे क्या ज़रूरत है? बहुत घनिष्ठ परिचय होता तब भी कोई बात थी। मुलाक़ात तो वास्तवमें हमारी एक ही हुई है। छोड़ो भी, जाने कितनी देरको मुसीबत लगे जानको। और मैं एकदम रुककर अपनी जगह लौट पड़नेको हुई कि लाल बसपर 'बी० ई० एस० टी०' के बड़े-बड़े, अक्षर मेरे सामनेसे गुज़र गये। बस गई। अब जाने कब नम्बर मिलेगा। हो सकता है हमारे यहाँ ही जा रहे हों, व्यर्थ ही लौटें। सुनें तो सही, क्या राय बनाई हमारी कहानीपर? और मैंने सड़क पार कर ली।

फ़ुटपाथपर वह और नीचे उनकी बौनी-सी परछाईं चली जा रही थी। मैं जब जल्दी-जल्दी उनके पास पहुँची तो हाँफने लगी थी। इस बीचमें सोच लिया था, कहूँगी—"कवि आँखें बन्द करके चले तो ठीक है, लेकिन कथाकारको तो आँखें खुली रखनी चाहिए।" इन शब्दोंको दोबार मनमें दुहराया।

लेकिन जैसे ही बग़लमें पहुँची कि उन्होंने चौंककर मेरी ओर देखा। "अरे, मैं तो आपकी ही ओर जा रहा था। इधरसे गुज़रा एक मित्रके यहाँसे, तो लौटते हुए सोचा, आपको भी देखता चलूँ।"

मनमें आया कह दूँ: क्यों जा रहे थे मेरी ओर? यों वक्त-वेवक्त जब मुँह उठा और चल दिये? यह तो ठीक नहीं है। पापा, अक्का वैसे ही मेरे 'दोस्तों' से परेशान हैं। उसमें आपकी संख्या और बढ़े। मैंने कहा: "इस वक्त मैं आपको कहाँ मिलती? वह तो बाई-चांस मैंने बस-स्टैण्डसे आपको देख लिया जाते हुए, सोचा कहीं मेरी ही ओर न जा रहे हों। आजकल हमारे कॉलेजमें ड्रामा हो रहा है न?"

"नहीं, मैं तो वैसे ही इस कहानीको लौटाने जा रहा था। आप न होतीं तो घर दे आता।" वे जैसे अपनी ग़लती महसूस करके हत-प्रभ हुए।

"वाह, मैंने आपको यह सिर्फ़ पढ़नेको ही थोड़े दी थी ? मैं तो इसपर आपकी राय जानना चाहती थी। मुझे समझाइए, कहाँ क्या सुधार होने हैं ?"

"अरे, इस लायक़ हम हैं कहाँ…?"

उनकी इस विनम्र होनेकी शालीनताको काटकर मैं बोली—"आप मुझे फोन कर लेते तो ज़्यादा अच्छा था।"

इसपर उन्होंने चौंककर मुझे ऐसे ढंगसे देखा, जैसे उम्मीद कर रहे हों कि मेरी इस बातमें उनकी किसी कमज़ोरीका मज़ाक उड़ाया गया है। उनकी इस आशंकापर सच ही मज़ाक करनेकी इच्छा हो आई—"आपकी बहन आगईं मद्राससे ?" वे एकदम लाल पड़ गये। जैसे 'फोन' और 'बहन' एक ही मज़ाकके दो रूप हों। अपनेको संभालनेके लिए रूमालसे मुँह और गर्दन कसकर पोंछते बोले—"बम्बईकी सारी नमकीन चीज़ें अच्छी लगती हैं, बस इस चिपचिपाहटवाली नमकीन गरमाहटसे ही भाग उठनेका मन करता है। हमारी तरफ़की कोल्डनैस इतना परेशान तो नहीं करती।" वे मुसकराये तो मुझे लगा कि इस 'नमकीन गरमाहट' और 'कोल्डनैस' में मैं भी आती हूँ। अनजान बनकर मतलबकी बात पूछी—"आपने कहानी देख ली ?"

"अब यह यहाँ बताऊँ ?" शायद वे आशा करते थे कि मैं कहूँ चलिए घर ही चलें। लेकिन आज रविवार है, पापा घर ही होंगे, इसलिए घर ले जाना नहीं चाहती थी। चुप रही तो बोले—"आइए, किसी होटल-रेस्त्राँ में ही बैठा जाय ?" फिर अपने प्रस्तावकी प्रतिक्रिया जाननेके लिए मेरी ओर देखा।

"होटल में ?" मैंने हाथकी कॉपीसे आँखोंपर आनेवाली धूप बचाते हुए कहा—"वहाँ तो बड़ा शोर होगा न।"

"तो कहाँ चलेंगी ? चन्दनवाड़ी चला जाय ?" उन्होंने मरघटका नाम होटलके शोरकी बातके जवाबमें मज़ाकमें लिया था; लेकिन जैसे

शब्द बीचमें ही टूट गये। हम दोनोंके ही मनमें एक साथ बात आई। मनचलोंका कोई जोड़ा ज़रूर मैटिनी न जाकर वहीं कहीं मँडरा रहा होगा (ऐसे एक जोड़ेपर भी मुझे कहानी लिखनी है) न भी होगा तो औरोंके लिए हम लोग ख़ुद क्या होंगे ? और सच बात यह है कि घरके पास ही उनके साथ देखा जाना पता नहीं क्यों बहुत अच्छा नहीं लग रहा था। कोई परिचित ही इधर आ निकले।

होठोंपर तल्ख़ मुसकराहट उभर आई थी। वे कह रहे थे—"बम्बईमें रहनेवालोंके लिए तो होटलके बाद दूसरी जगह मरघट ही है।" फिर जैसे मेरे संकोचको समेटते हुए से लापरवाहीसे बोले—"आइए, आप भी किस सोचमें पड़ी हैं। मुझे भी आपसे इस कहानीके बारेमें कुछ कहना है। सबसे पहले तो इतनी सुन्दर कहानीके लिए अपनी बधाई दे दूँ।" और मुझे स्पष्ट लगा जैसे मेरे कन्धेपर हाथ रखकर मुझे मोड़ ले चलनेके लिए उनका हाथ उठते-उठते रह गया। कभी-कभी किसीका यों अधिकार-पूर्वक कुछ करनेको कहना भी कैसा अच्छा लगता है। अरे, मैं तो पिछली सारी झुँझलाहट और नाराज़ी भूल गई।

"लेकिन यह ध्यान रखिए, मुझे जल्दी लौटना है। पापा खानेको बैठे रहेंगे।" मैं चलते हुए बोली। हालाँकि मुझे पता था, घर कोई काम नहीं करना और जब मैं रेखाके यहाँको कहकर जाती हूँ तो अक्का निश्चिन्त ही हो जाती हैं। बादमें हमेशा डाँटती हैं।

मैंने चलते हुए व्यग्र-भावसे पूछा—"लेकिन आपको कहानीमें कम-ज़ोरी क्या लगी ?"

"इतनी बेक़रारी नहीं," वे बुज़ुर्गीसे मुसकराये। सामने ईरानी-रेस्त्राँ-को लक्ष्य करके सिर उठाये मुसकराते देखकर रुद्ध व्यग्रतासे मैंने दाँत पीसे। मनमें आया कोई तीखी-सी बात कह दूँ। यह बड़प्पनका ढोंग, यह पैट्रोनाइज़िंग ढंगकी मुसकराहट मुझसे सही नहीं जाती। लोग कितनी कम उम्रमें ही कितना बनने लगते हैं !

रेस्त्राँमें ज़्यादा भीड़ नहीं थी। बैरेने खाली केबिनका पर्दा खोल दिया। हमारे भीतर जाते ही छल्लेदार पर्दोंको झटका देकर फैलाते हुए पूछा—"काय सेठ ?"

खुलकर आरामसे बैठते हुए वे परिहाससे मुसकराये—"तुझे हम लोग क्या सेठों जैसे दिखाई दे रहे हैं ?"

काग़ज़ोंके टुकड़ोंकी गड्डी और दूसरेमें नीली-गन्दी पेंसिल लिये उभरे कल्लोंवाला साँवला बैरा मजबूरीमें मुसकराया। पता नहीं क्यों, मुझे उनका यह बनना भी अच्छा नहीं लगा। यह बैरे, कुली, कबाड़ियोंसे दिखा-दिखाकर मिलना और फिर उनपर एक भावुकताभरी कहानी लिख डालना इन लोगोंका फ़ैशन हो गया है। 'हम कितने मनुष्य हैं', मानो यह दिखानेका यही एकमात्र तरीक़ा हो। वे मेरी ओर देखकर पूछ रहे थे—"आप क्या लेंगी ?"

"कुछ नहीं। मैं तो चाय ही लूँगी। अभी खाकर आ रही हूँ।"

"पापा शायद शामके खानेके लिए इन्तज़ार करेंगे।" मेरे झूठपर मुझे झेंपनेका अवसर दिये बिना वे जल्दीसे बोले—"ख़ैर, आप चाहे खायें या न खायें, हमें तो कहीं-न-कहीं पेट भरना ही है। आज यहीं सही।" फिर बैरेको चाय और बटाटा-बड़ोंका आर्डर दिया।

जब बैरा चला गया तो चार कुर्सियों और एक मेज़वाले घुटे छोटे-से केबिनमें केवल अपनेको पाकर हम दोनों ही एक विचित्र संकोचसे भर उठे। "अरे, बैरा सुनो।" जैसे उन्हें कुछ और सहसा याद आया हो, इस तरह उन्होंने ज़रा-सा उठकर पर्देसे बाहर सिर निकालकर बैराको देखा। फिर बिना उसे बुलाये लौट आये, लेकिन पर्देमें जान-बूझकर एक फाँक छोड़ दी। लगा, जैसे पर्देमें ज़रा-सी सन्धि छोड़नेके लिए ही उन्होंने यह नाटक किया था। मानो इसके ज़रिये वे बाहरकी 'दुनिया' के भी सम्पर्कमें रहना चाहते थे, पर जैसे वास्तवमें वे उस फाँकसे बाहर-की दुनियाको गवाह बनाना चाहते थे, कि हमलोग सिर्फ़ चाय ही पीने

आये हैं, इन कैबिनोंको जैसा कुछ अभ्यास है, वह सब नहीं है। बैरा आकर दो गिलास पानी रख गया और उसे अपनी असावधानी समझकर आदतन फिर पर्दे ठीककर गया तो एक दूसरेकी ओर देखकर हम लोग बड़े ही सहज-रहस्यमय ढंगसे मुसकराये—मानो कह रहे हों, देखा, बैरा भी उसीका अभ्यस्त है जो हमलोगोंके बीचमें क़तई नहीं है।

इस भावनाको दूर करनेके लिए मैंने गिलास उठाकर मुँहसे लगा लिया और उन्होंने पासकी कुर्सीपर रखी कहानीको उठाकर मेज़पर ज़ोरसे रखकर एकदम गम्भीर व्यस्ततासे कहा : "मेरी जो भी राय होगी उसे आप गम्भीरता पूर्वक नहीं लेंगी—यह उस दिन आपने कहा था" फिर उसी बातको बढ़ाकर सीधे विषय-वस्तुपर आकर बोले : "इस कहानीका प्लॉट आपका नहीं मोपासाँका है।"

"एँऽऽ!" खटसे गिलास मेरे हाथसे फिसल पड़ा और मेज़की काँचकी सतहपर ज़ोरसे गिरकर पानी फैलाता हुआ लुढ़का तो मैं हड़बड़ाकर एकदम उठ खड़ी हुई। वे गिलास पकड़नेको लपकें, तबतक गिलास धरतीपर गिरकर चूर-चूर हो चुका था। मैं लज्जासे कटी-सी जाती हुई कपड़ोंसे पानी झाड़ने लगी। तब तक काउण्टरपर जालीदार बनियान और तहमद पहने "मनीजर" ने ऊँचे स्वरमें कहा : "दो नम्बरमें क्या हुआ, देखेगा।"

बैरा सीधा आकर बड़ी रहस्यमयी अनुत्सुक मुसकराहटसे इस तरह बोला जैसे यह तो यहाँ रोज़ होता है, इन केबिनोंमें बैठनेवाले अपने होशमें कहाँ होते हैं; बड़ी स्वाभाविक बात है : "छोकरा, गिलास झाड़ेगा।"

मैं झेंपकर पानी-पानी हुई जा रही थी। चेहरा एकदम झन्ना उठा था। मेज़ पुँछ गई। वे फिर बड़प्पनसे मुसकराये : "अरे, आप तो बहुत कच्ची हैं।" पहले तो मुझे लगा था जैसे वे मेरे संकोच और उस स्थितिमें बौखला उठनेका आनन्द ले रहे हैं, पर फिर मुझे उस लज्जासे

उबारते-से वे मेरी ओर न देखकर बोले—"देखिए, कलाकी दुनियामें कमज़ोर आदमीके लिए कोई जगह नहीं है। यहाँ तो बहुत मोटी-खालका आदमी होना चाहिए। नक़ल और छायाका आरोप, गालियाँ, और जब कुछ न हो पाये तो उपेक्षा, यहाँके रोज़ इस्तेमाल होनेवाले हथियार हैं।" अपने व्यवहारकी बेबसी और प्रतिरोधकी प्रबल इच्छाका एक ऐसा द्वन्द्व मनमें हुआ कि मुझे रोना आने लगा। घुटे गलेसे बोली—"लेकिन मोपासाँकी तो आजतक मैंने ऐसी कोई कहानी नहीं पढ़ी। मैं तो पढ़ती ही बहुत कम हूँ।" पता नहीं क्या चीज़ थी कि भीतर चुभती-पैठती चली जा रही थी और कुछ रह-रहकर तिलमिला उठता था। मैं साड़ीके पल्लेसे कसकर सिर झुकाये धूपका चश्मा पोंछती रही।

वे जैसे किसी बहुत ऊँचे स्थानसे नपी-तुली मुसकराहट चेहरेपर लाकर बोले—"इतनी ज़ोरसे पोंछेंगी तो चश्मेके काँच निकल आयेंगे। लीजिए, आप तो एक ही बारमें रो पड़ीं। यहाँ तो यही सब सुनते-सुनते कान पक गये कि आपका उपन्यास 'स्टीनबैक' के उपन्यासकी नक़ल है, उसकी शैली 'ग्राहमग्रीन' की और विषय-वस्तु 'काफ़्का' की है। सब मिलाकर समरसेट मॉ, म और सात्रकी बुरी तरह छाया है। कहानियोंके तो सारे प्लॉट ही निर्विवाद रूपसे रूसी और फ्रेंच लेखकोंके चुराये हुए हैं।" फिर जैसे मुझे सान्त्वना देते-से बोले—"लेखकको बड़ी क्रूरता-पूर्वक अपने और दूसरोंके प्रति तटस्थ रहनेकी ज़रूरत है, सुजाता जी। यह सब नारी-सुलभ कमनीयता यहाँ काम नहीं देती। फिर मेरी बात आपने पूरी सुनी कहाँ? मैं तो कहता हूँ कि ऐसे सजीव कथोपकथन, मनोभावोंका ऐसा जानदार वर्णन मैंने आजतक पढ़ा ही नहीं। और निस्संकोच भावसे आपमें एक प्रथम श्रेणीकी कहानी-लेखिकाके गुण हैं। लेकिन प्रभावोंसे बचनेके लिए बड़ा ही सचेत रहनेकी ज़रूरत है।"

"मैं इसके लिए तैयार नहीं थी। माफ़ कीजिए, बात आपने इतने अचानक ढंगसे कही," मैं अबतक सुस्थ हो चुकी थी। सँभलकर बोली :

"विश्वास रखिए मैं बहुत ही मज़बूत हूँ। अपनी कमज़ोरी आपको बताऊँ, मुझे वैसे ही पढ़ने-पढ़ानेका ज़्यादा शौक़ नहीं है। दूसरे ये विदेशी नाम कुछ ऐसे अजब होते हैं कि समझमें ही नहीं आता कि कौन किससे, किसके बारेमें बोल रहा है। किसीका नाम मुज़िस्की है तो किसीका नाद्येज्दा फ्योदारोव्ना। एक घण्टा तो इस नामको समझनेको चाहिए। दूसरे, सच मानिए, मुझे मोपासांकी कोई कहानी याद नहीं है।" मैं सफ़ाई देती-सी बोली।

बैरेकी चाय रखने देनेके बीचमें चुप रहकर वे बोले—"देखिए एक बात है। हमलोग अगर दो बातोंपर एकमत हो जायँ तो बड़ा अच्छा हो। एक तो यह कि मैं कुछ बदतमीज़ और मुँह-फट हूँ, दूसरे हर बातको कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कहनेका मुझे बहुत अभ्यास है। इसलिए इतनी छूट आपको देनी होगी कि कहनेका बुरा न मानें और अगर किसी भी बातसे असहमत हों तो अपना विरोध साफ़ शब्दोंमें ज़ाहिर करें। साथ ही मेरी बातको उचित काट-छाँटके साथ ही स्वीकार करें। वे निहायत गम्भीरतासे बटाटा-बड़ाकी प्लेट बीचमें रखकर बोले—"थोड़ा-सा तो लें न।"

"नहीं।" उनकी सारी प्रशंसा मुझे बिना छुए ही निकल गई। अपनी हरकतपर अब और नये सिरेसे झेंप आ रही थी। देखो, मैं भी कैसी मूर्खा हूँ, कुछ नहीं तो गिलास ही गिरा दिया। क्या कहेंगे, बननेको ऐसी मज़बूत बनती हूँ, 'मैं यों हूँ, मैं यों हूँ!' एक बात कह दी, हो सकता हो, झूठ-मूठको उत्तेजित करनेको ही कह दी हो, और यों बौखला उठी। मैं चश्मेकी दोनों कमानियाँ खोलती और बन्द करती उनकी बात ध्यानसे सुननेकी मुद्रामें बैठी रही। वे चम्मचसे खाने लगे थे।

"मैं तो यह कह रहा था कि इस कहानीको पढ़कर मुझे मोपासाँकी एक कहानी याद हो आई थी। अच्छा, यह बताइए आपको कौन-सा देशी-विदेशी लेखक पसन्द है?"

"मैंने बताया न, कि विदेशी लेखक अपनी समझसे परे हैं और देशी

लेखक···" मैं अब पूरी तरह स्वस्थ हो चुकी थी। उनके पीछे केबिनकी दीवारमें एक बड़ा पतला-सा कील जैसा छेद था। शायद इस केबिनमें झाँकनेके लिए होगा। सचमुच ऐसा कौन-सा लेखक है, मुझे एकदम छाँटनेमें नहीं आ रहा था। इस दृष्टिसे तो कभी पढ़ा ही नहीं। एक-एक लेखकको मनमें तौला और ना-पास कर दिया। तभी याद आया कि मुझे खुद इनसे ही कुछ बातें पूछनी थीं। यह टॉपिक ख़त्म होनेपर करूँगी। कहदूँ "मुझे तो आपकी ही चीज़ें ज़्यादा पसन्द हैं?" मस्का ज़्यादा हो जायेगा। तभी एकबात दिमाग़में आई, अपनी रचनाओंको इनके ज़रिये प्रकाशमें नहीं लाया जा सकता? पत्र-पत्रिकाओंसे तो इनके सम्बन्ध बहुत अच्छे हैं ही। ज़रा-सा सहारा ले लेनेमें क्या हर्ज़ है? यह बन्दूक़ इन्हींके कन्धेपर रखकर सही। मुहाविरेपर ख़ुद हँसी आई। कहानीकी दृष्टिसे इनका अध्ययन भी हो जायेगा, इनकी ऊँचाई और गहराईकी असलियत भी जान लेंगे। फिर बीचमें एक अच्छा पुल हो जायेगा। कितने तीर हैं एक शिकारसे? गलेके पीछे बड़ा चिपचिपा-सा लग रहा था। मैंने अपनी दोनों मोटी-मोटी चोटियाँ सामनेकी ओर कर लीं। इनपर मुझे काफ़ी गर्व है। ऐसा हो नहीं सकता कि देखनेवाला प्रभावित न हो। मैंने उनकी निगाहें पकड़ीं कि वे देख रहे हैं। लेकिन झट फिर दूसरी ओर देखने लगे। अपनी इस चुप्पीकी सफ़ाई देती-सी बोली—"यहाँ तो सच, पंखा होते हुए भी बड़ी चिपचिपाहट है।" छोटे-से रूमालसे कनपटियाँ पोंछीं—"देशी लेखकोंमें मुझे तो शरत् बहुत पसन्द हैं।"

"भावुकता बहुत है उसमें। प्लॉट भी उसके पास दो ही हैं। दूसरे वह विचारोंसे बहुत रूढ़िवादी है। गिरी हुई स्त्रियोंका चित्रण उसने बहुत सहानुभूतिसे किया, लेकिन उन्हें कभी उठानेकी कोशिश नहीं की। कुल-वधूके सामने गिरी स्त्रीको लानेसे तो वह आदमी हमेशा डरता रहा। कुछ विदेशी लेखक पढ़िए और उनसे कहानी लिखनेकी कला सीखिए।" फिर अचानक ही वह पूछ बैठे—" आपको मेरा उपन्यास कैसा लगा?" बात

कहकर वे ख़ुद ही शरमा गये। "यह मत समझें कि मैं इसी सिलसिलेमें पूछ रहा हूँ। यों ही बाइ द वे बात आगयी। आपने कहा भी था कि कुछ कहना चाहती हैं।"

इसबार समझदारीसे मुकसरानेकी बारी मेरी थी। मैं जानती थी कि किसी-न-किसी बहाने यह प्रश्न मेरे ऊपर मँडरा रहा है। बिना चुटीलेकी चोटीके सिरेको इस तरह हिलाकर जैसे उसे पंखा कर रही होऊँ, मैंने भौंहें ऊपर उठाईं और गम्भीरतासे कहा: "सच बताऊँ? मैं तो आपकी तरह आलोचना करना जानती नहीं। मैं तो शुद्ध पाठिकाकी तरह बताऊँगी।'

"वही तो मैं सुनना चाहता हूँ।" वे तटस्थ बोले।

"अच्छा, वह जगह-जगह काफ़ी बोर नहीं है?"

एकबार चौंके, फिर जवाबमें इस तरह खिलखिलाकर हँसे कि मैं सहसा ही हतप्रभ हो उठी: "इतनी जल्दी बदला लेंगी?"

मैंने दृढ़ता-पूर्वक कहा—"बदला नहीं है, सच बात है। उसमें कुछ जगहें तो ऐसी 'बोर' हैं कि पन्ने पलटे बिना नहीं रहा जाता और कुछ जगहें ऐसी हैं जो किसी उपन्यासमें मुझे नहीं मिलीं।"

"जैसे?" वे जेबमें कुछ टटोलते रहे।

"ऑब्ज़र्वेशन—अर्थात् निरीक्षण। परिस्थितिका चित्रण, वातावरण, लोगोंकी भंगिमाओंका चित्रण और वार्तालाप, सचमुच बाँधे रखनेवाले हैं, लेकिन कुछ जगहें पढ़ना तो सज़ा काटना है।"

उन्होंने जेबमें पोस्टकार्ड और लिफ़ाफ़ोंकी एक गड्डी निकाली और मेज़पर रखदी। झुककर चाय सुड़कते हुए तटस्थ भावसे बोले: "यह पाउडरकी चाय पीते-पीते तो चाय पीनेका स्वाद ही मर गया। हाँ, यह पत्र उस उपन्यासपर आपसे मिलनेके बाद आये हैं।"

"सर्टिफ़िकेट साथ ही लिये फिरते हैं?" मुझसे मज़ाक किये बिना नहीं रह गया। एकाध लिफ़ाफ़ेकी हैण्डराइटिंग ज़नानी थी। लिफ़ाफ़ा एकाध बहुत ही ख़ूबसूरत था। मन हुआ उसे निकालकर देख लूँ। पर

ठण्डे स्वरसे बोली—"लेकिन मैं कभी भी सर्टिफ़िकेटोंसे प्रभावित नहीं होती।"

झेंप मिटाते-से कहा—"आपको प्रभावित नहीं कर रहा। लेकिन देख लीजिए, आपकी लड़कियोंने ही क्या लिखा है? मेरे एक गुजराती लेखक-मित्र कहा करते हैं कि 'गर्ल्स एण्ड विमेन आर द मोस्ट इण्डिस्क्रिमिनेटिंग रीडर्स'। अर्थात् आप ज़िन्दगीभर उन्हें पढ़नेको दिये जाइए, वे अपनी रुचि ही नहीं बना पायेंगी। खराब उपन्यास है तो उसकी बुराई करती जायेंगी, लेकिन पढ़ती जायेंगी।"

"वाह, यह गुजराती लड़कियोंकी बात होगी। हमें पसन्द न हो तो हमसे आगे एक लाइन नहीं पढ़ी जाती।" मैं प्रतिरोधके भावसे बोली। वे प्लेट खत्म करते रहे। मैं जानती थी वे मुझे पत्र पढ़नेका समय दे रहे हैं। सभीमें उनकी तारीफ़ भरी थी। अपने चेहरेकी प्रतिक्रियाएँ भाँपने-वाली उनकी निगाहोंको मैं महसूस करती रही। खूबसूरत लिफ़ाफ़ा हाथमें आया ही था कि वे बोले: "यह मेरी बहनका पत्र है।"

"कौन बहन?" मैं समझ तो गई, मगर बनकर बोली।

"वही, जिन्हें उसदिन टेलीफ़ोन किया था।" उनका चेहरा फिर लाल पड़ गया।

अथाह आश्चर्यसे पूछा: "एक ही शहरमें पत्र लिखती हैं?"

"नहीं, बाहर हैं।"

लिफ़ाफ़ेके रंगका ही काग़ज़ निकालते हुए पता नहीं मैंने उनके चेहरेपर कैसी एक बेचैनी देखी कि पूछा—"पढ़ लूँ? नाम क्या है आपकी बहनका?"

"नाम···नाम···कुछ नहीं, हाँ अपर्णा है।" वे हकला गये, फिर पत्रकी ओर इशारा करके कहा'—'क्या करेंगी पढ़कर? छोड़िए।" उन्होंने लिफ़ाफ़ा लगभग हाथसे ले ही लिया। मुश्किल था कि न देती। मनमें तो आया, एकदम दूसरी ओर मुँह करके जल्दी-जल्दी पढ़ डालूँ, लेकिन

इतनी अधीरता दिखाना अच्छा नहीं था। सारे पत्र मैंने लौटा दिये। पत्र लेते समय उनके चेहरेपर एक सन्तुष्ट स्वाभिमान था, मगर मेरा स्वाभिमान भीतर ही भीतर फुफकार उठा था। मनके बहुत भीतर कोई धीरेसे बोला—"आज लेलो, लेकिन यह पत्र एक दिन तुम मुझे ख़ुद पढ़ाओगे और मैं तब पढ़ूँगी नहीं" वे मानो हर बार मेरे व्यक्तित्वको ललकार रहे थे। एक ओर तो मेरी इच्छा होती कि पीसकर चूर-चूर कर डालूँ इनके इस सारे मुखौटे और 'मास्क' को, दूसरी ओर मन एक अनजानी दयासे भर उठता : छोड़ो, बेचारा नहीं जानता नारीके व्यक्तित्वको चुनौती देनेका क्या अर्थ है। बड़े-बड़े विश्वमित्र हाथ डाल गये, यह बेचारा है किस मुग़ालतेमें? अपने साथ ही घटी पिछली कई घटनाएँ मुझे याद हो आईं।

"आप बुरा मान गईं?"—जेबमें वापस पत्र रखकर वे कह रहे थे।

"नहीं तो। क़तई नहीं।" मैं अतिरिक्त जोशसे बोली।

"एकदम उदास और चुप हो गई न?"

उनकी इस बातने मुझे रेखाके एक रिमार्ककी याद दिला दी : "तू बड़ी इण्ट्रोवर्ट (अन्तर्मुखी) होती जा रही है। शादी-वादी कर-करा ले, वर्ना यह एकदम चुप हो जाना, यह बेलगाम बक-बक किये जाना तुझे पागल बना देगा।" सच, यह अचानक बातें करते-करते मैं क्या सोचने लगती हूँ? लेकिन दुनियाके सारे मर्ज़ों की बस एक ही दवा है—शादी? हुँह इनकी शादी हो गई? पूछूँ? हिश, क्या सोचेंगे? बातों ही बातोंमें अपने आप कह देंगे। जैसे इसी मानसिक स्थितिसे बचनेके लिए मैं बोल पड़ी : "मैं सोच रही थी कि आप अपनी बहनको बहुत ही प्यार करते हैं न?"—फिर अपनी बात साफ़ की—"हमें तो अपने भाईसे बड़ा डर लगता है। जब मिलेंगे तो लड़ेंगे।"

अरे, इसमें एकदम लाल पड़नेको क्या बात है? जैसे किसीने गुलाल

पोत दिया हो। वे झुककर पत्रोंकी गड्डीको कुर्तेकी बग़लवाली जेबमें रखने लगे। सिर झुकाये-झुकाये व्यस्ततासे बोले—"आपसे मिलानेवाला था। लेकिन वह कम्बख़्त चली ही गई।"

"कहाँ? वे तो शायद मद्रास गईं थीं। लेकिन लौटनेवाली होंगी अब तो।"

वे हँसे—"बहुत याद रखती हैं आप तो सारी बातें। वे लौटनेवाली जरूर थीं, लेकिन वहींसे सीधी अपने पतिके पास शिमला चली गईं। कोई ज़रूरी काम आ गया होगा।"

मैंने बाक़ी चाय एक साथ ख़त्म की ही थी कि वही फटी जालीदार बनियान पहने काला-सा छोकरा ख़ाली प्लेटें उठाकर कपड़ेसे मेज़ साफ़ कर गया। होटलमें इसका एक ख़ास अर्थ होता है। उन्होंने कुर्सीसे पीठ टिकाली और एकटक घूमनेवाले पंखेको देखने लगे। मैंने पूछा—"यहाँ क्या आपके साथ नहीं ठहरीं?"

"एक-एक कप चाय और लें?" वे सहसा सीधे होकर बोले।

"नहीं, आप ले लीजिए। लेकिन यहाँ तो बहुत ही घुटन है। चलें अब।" पंखेकी हवामें गर्मी तो अब कम हो गई थी; लेकिन इतने पास अकेले उनके साथ बैठना अब अजब-अजब-सा लगने लगा था। नीचेके खुले हिस्सेसे बॉयके पाँव आते-जाते दीख जाते थे। जब दुबारा चाय आगई तो उन्होंने मेरी बातका जवाब दिया—"मेरे पास उसे ठहरानेको जगह कहाँ है? वे लोग बड़े आदमी हैं।"

"ख़ास बहन हैं?"

"नहीं..." आगे जैसे बड़ी कठिनाईसे उन्होंने कहा—"कज़िन"

मैं दुष्टतासे मुसकराई। उनके चेहरेकी घबराहटपर व्यंग्य किये बिना नहीं रहा गया—"ख़ैर, यह शब्द तो बड़ा व्यापक है।"

"यानी?" वे सँभले।

"यानी क्या? अब ज़्यादा कुछ नहीं कहूँगी, नहीं तो आप और लाल-

पीले हो जायेंगे।" मुझे लगा हो-न-हो, ज़रूर कुछ दालमें काला है। कौन है वह? कैसी है? बिना अपनी बातपर उन्हें अधिक सोचनेका अवसर दिये मैंने पूछा—"आप क्या यहाँ फ़ैमिलीके साथ रहते हैं?"

"फ़ैमिलीका जो प्रचलित अर्थ है, उस अर्थमें तो अभी तक फ़ैमिली बनाई ही नहीं। यों घरपर सब हैं। यहाँ तो एक मित्रके साथ रहता हूँ।"

"घर—?" मैंने मेज़पर कुहनी टिका ली और कलाई मोड़कर उसके ऊपर ठोड़ी टेक ली। पतली-पतली उँगलियाँ और नाखून आँखोंके सामने थे। हथेलीके पीछेवाले हिस्सेमें "वी" की शक्ल बनातीं दो पतली-पतली नसें उभर आई थीं। गोरी खालमें वे अच्छी लगती हैं, लेकिन कमज़ोरी की निशानी भी। रेखा कहती है, इस पोज़में तू बड़ी मासूम और इनो-सेण्ट लगती है। मेरी आँखोंके सामने सिनेमाका एक सीन आगया। उससे ठीक इसी पोज़में नलिनी जयवन्त बैठी थी। सच, कैसी भोली-भाली लगती थी वो।

"घर मेरा मेरठमें है। वहीं सब भाई-बहन हैं।" चायका घूँट पीते हुए उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा, और फिर दूसरी ओर देखने लगे।

"अरे-ऽऽ?" मैं चौंक पड़ी—"हमलोग बुलन्दशहरके हैं। लेकिन पढ़ी तो मैं मेरठ ही हूँ। अच्छा, तभी उसदिन लाइब्रेरियन साहब कहते थे कि आप अपनी ही ओरके हैं। आप वहाँ किस सन् में थे? कभी देखा नहीं।"

"बी० ए० के बाद इलाहाबाद चला आया था। साहित्यिक बननेका बड़ा जोश था और सुनते हैं जो इस तीर्थका स्नान नहीं करता उसे साहित्यकी वैतरणीका किनारा तक नहीं मिलता। लेकिन पाया कि तीर्थंकरोंके घटा-टोपमें तीर्थ बेचारेका कहीं पता ही नहीं है। पण्डोंका भयंकर जमघट है वहाँ, अकेला-दुकेला देखें तो लूट-लाटकर संगम-समाधि दिला दें और अच्छा जजमान देखें तो दोनों वक्त चन्दन घिस-घिस कर लगायें।

घाटपर अपनी-अपनी छतरी लगाये बुज़ुर्ग, कमसिन-महंत और नये-नये मुर्गे फाँसकर लानेवाले उनके चेले-चाँटी; जो ख़ाली वक़्तमें गुरुजीका जय-नाद करें। मैं शुरूसे ही स्नॉब रहा हूँ, सो वहाँ भी नहीं पटी। आप मेरठमें कहाँ थीं?"

"इण्टर रघुनाथ कॉलेजसे करके यहाँ आगे पढ़ने आ गये।" और फिर मैं बड़े विस्तारसे उन्हें यह बताने लगी कि यहाँ आकर क्या-क्या दिक़्क़तें उठानी पड़ीं। अपने बारेमें बताते समय मैं हमेशा ही एक सहज उत्साहसे भर जाती हूँ और मेरा चेहरा खिल उठता है। चाय ख़त्म हो गई तो अनजाने ही हमलोग उठ खड़े हुए। एक ओर मुड़कर बग़लमें लटका पर्स खोलती-खोलती मेज़ोंके आड़े-तिरछे रास्तेसे बाहर दरवाज़ेके काउण्टरपर आई, तब तक वे पहले ही आ चुके थे। तरह-तरहके अमृत-बानोंमें बिस्किट, लैमनड्रॉप्सभरे मोटे-से 'मनीजर' के पास हाथसे ज़रा दूर ही दूर मुझे रोकते हुए वे बोले—"क्या कर रही हैं? यह नहीं होगा। मैं दूँगा।" उन्होंने जेबसे दो-तीन मुड़े-तुड़े काग़ज़ निकाले और उन्हींमेंसे पाँचका नोट निकालकर ऐसे प्रार्थना-भरे स्वरमें, हाथसे रोकते, पर साथ ही डरते हुए कि कहीं शरीरका स्पर्श न हो जाये—कहा, तो मैं रुक गई। मैनेजरके घण्टीपर हाथ मारनेसे पहले ही पीछेसे बैरेकी दबे गलेसे लगाई आवाज़ आई—"तीन चाय स्पेशल, एक बटाटा बड़ा, दस्साना। एक गिलास तोड़ा छै आना—एक रुपया।"

मैंने हँसकर पैसे रख लिये—"आप लोग समझते हैं कि पैसे देने और बिल चुकानेका काम सिर्फ़ आप ही लोगोंका है।"

नीचे फ़ुट-पाथपर आये तो वे हँसकर बोले : "यहाँकी यह नीलामकी-सी बोली मुझे बड़ी बुरी लगती है। कम्बख़्त इस तरह चीख़ते हैं कि चौराहेपर सुन लो।

"लेकिन यहाँ कौन किसीकी सुनता है?" बाहर फिर वही चुनचुनाती धूप थी, चौंधा था। एकदम आँखोंके आगे काले-काले अँधेरेके रोयेंदार

बादल तैर गये। मैंने चश्मा चढ़ा लिया। उन्हें काउण्टरपर पैसे देते देख, एक बात जो मनमें कहीं छिपी बैठी थी फिर उभर आई। ये काम कहाँ करते हैं ? मैं उनके चुप होनेकी राह देखने लगी।

"आप विश्वास नहीं करेंगी, सुजाता जी।" सामने चलते हुए वे कह रहे थे—"हम बम्बईके बारेमें सुना करते थे; लेकिन यह ऐसा क्रूर शहर है इसका अन्दाज़ा पहले कभी नहीं था। मोटर-साइकिलवाला सड़क चलते मुसाफ़िरको धक्का देकर या कुचलकर बिना पीछे मुड़े ही फ़ुल-स्पीड पर साइकिल भगाता ले जाय, यह सीन बम्बईमें मैंने जब दिन-दहाड़े देखा तो लगा जैसे मुझे ही गिराकर कोई चला गया हो। आप गिरिए, मरिए, यहाँ किसीको आपकी ओर देखनेकी फ़ुर्सत नहीं है। कोई यहाँ आपके निकट आनेकी कोशिश नहीं करता। वर्षों साथ रहिए, जैसे एक शिष्टाचार है जो रोज़ खिंचता चला जाता है···।"

जब लौटी तो सोचती आरही थी कि उफ़, आज कितनी बातें की हैं हमलोगोंने। शायद ठीक नहीं हुआ। इतनी जल्दी इतना खुल जाना अच्छा नहीं है, इस बातको मैं अनुभव कर रही थी; लेकिन जाने कैसा बातोंका प्रवाह था, वातावरणका प्रभाव था कि हमलोग बातें ही बातें करते रहे।

पहली मंज़िलके मोड़पर हो चप्पलोंकी घिसटाहटसे सिर उठाकर चौंक-कर देखा कि रेखा चली आ रही है। झुँझलाहट साफ़ थी चेहरेपर। मेरा कलेजा धक्से रह गया। याद आया, मैं तो अक्कासे इसीके यहाँ जानेको कहकर गई थी। इस कम्बख़्तको भी आज ही मेरे यहाँ आना था। अक्का वैसे ही मेरे 'लच्छनों'से खार खाये बैठी हैं; जाने ऊपर क्या-क्या भिड़ा आई होगी। जाने कितनी देरका विवाद छिड़े···

मुझे देखते ही रेखा फूट पड़ी: "मटरगश्तियाँ कर आई महारानी

५

जी ? मैं कहती हूँ कि आप कभी घरमें भी टिकती हैं कि जब देखो तब लोफ़री करती घूमती हैं।"

मैंने प्यारसे उसके गलेमें हाथ डाल दिया और कन्धेसे पकड़कर ऊपर ले चली। दबे गलेसे निहोरे भरे स्वरमें कहा : "अच्छा चल-चल, ऊपर लड़ेंगे। यहाँ नहीं; चल मुन्नी!" इसको ऊपर ले चलनेमें एक फ़ायदा और भी था कि अक्का थोड़ा कम बड़बड़ायेंगी। इसका लिहाज करके। बादमें तो सँभल ही जायेगा।

वह कुहनी झटककर मरखनी गायकी तरह बोली—"चल हट्ट, हम क्या घरसे फ़ालतू हैं तेरी तरह ?"

"तो चीख़ क्यों रही है दादी ?" मैंने उसी तरह ख़ुशामदके स्वरमें कहा—"यहाँ सीढ़ियोंपर कोई सुने-सुनाये।"

"तो सुन लेने दे। हमें क्या किसीका डर पड़ा है ?" उसने इस बार हाथ नहीं झटका। अनखाकर मुझे कृतार्थ करती-सी ऊपर चलने लगी। भुनभुनाती रही—"न वक़्त देखना न मौसम। दोपहर हो या शाम, जब देखो तब लिया और मटकते हुए आँखें लड़ाने चल दिये।"

"किससे आँखें लड़ाने गई थी मैं ?" मैं हँसी रोके थी।

"अब हमें पता है, जाने कहाँ-कहाँकी धूल फाँकती फिरती है ? तुझे भी बम्बईकी हवा लग गई है। आई थी तो बोल नहीं निकलता था। सीधे पल्लेकी धोती पहनती थी।"

"तेरे पुरखे तो यहीं धरती फोड़कर निकले होंगे ?" जाने क्यों बड़ी थकान-सी भी महसूस हो रही थी और कुछ रेखाकी सहानुभूति लेनेके लिए कि मैं बड़ी थकी हुई हूँ, हर सीढ़ीपर कराहकर और घुटनोंपर हाथ रखकर चढ़ती थी। उसके कानका सफ़ेद नगोंवाला फूल आज बड़ा ख़ूबसूरत लग रहा था। मैं बोली—"वह तो कह हमलोगोंके साथ कपड़े पहनना तब भी सीख गई है; वर्ना तुम्हारे चन्दापुरमें जैसी घुटनों तककी दुलंघी धोती पहनी जाती है वही पहने होती अभी भी।" लेकिन इस

मज़ाकमें भी उसके 'हवा' के मुहावरेपर फिर उदयका ध्यान हो आया था। इच्छा हुई, क्यों न इसीसे कुछ बातें कर डाली जायँ, उस समय मैं चाह रही थी कि किसीसे इस बारेमें कुछ बातें की जायें, कुछ सोचा जाये। रह-रहकर लगता था, आज कुछ बहुत बड़ा हुआ है; कोई ऐसी घटना हुई है जिसने मेरी चेतनाको आविष्ट कर लिया है। गम्भीर बनकर पूछा—"ऊपर कौन मिला था?"

"अरे मिलता कौन? अक्का तेरी हड्डी-पसली तोड़नेके लिए डण्डा लिये बैठी हैं। मैं और कह आई हूँ कि अभी तक तो सिर्फ़ रेडियो-वेडियो-पर कुछ पढ़ आती थी, अब सबके सामने 'ध्रुव-स्वामिनी' बनेगी···"

"मैं पूछती हूँ, हॉल तय हो गया?" मैं नाराज़ी-वाराज़ी सब भूल गई।

"अरे हो ही गया होगा साला, हमें क्या उसमें अपनी शादी करनी है? तुम जानो और अरुण जाने।"

"आय···हाय···। यह साला, यह शादी···" मैंने उसे फिर बाहोंमें भरकर कमर गुदगुदा दी—"बड़ी मस्ती आ रही है। अच्छा, यह मर्दानी गालियाँ देनेमें बड़ा अच्छा लगता है।"

"मस्ती आ रही है तुझे। चल, दूर हट। सारा बदन चिपचिपा रहा है।" वह खिलखिलाकर हँस पड़ी और लाल होगई। मेरे हाथोंसे छूटकर गरबेका एक घेर लेती हुई-सी दरवाज़ेकी घण्टीपर हाथ रक्खे खड़ी हो गई—रखे रही; हटाया नहीं।

"बस, बस भाई, कोई कहेगा, कौन गँवार आ गया।" मैंने रोका। तभी बिट्टूने भीतरसे हड़बड़ाकर चटखनी खोली। मैंने भीतर घुसते ही पूछा—"अक्का कहाँ है?"

"वर्मा साहबके यहाँ है। अभी आनेको बोला था।" वह रेखाको देखकर सहम गया था। मेरी साँसमें साँस आई। रेखाकी दुष्टतापर क्रोध आ गया। अक्काके बारेमें पूछनेका अर्थ कहीं यह बिट्टू मेरे मनका डर

न लगा ले, इसलिए एकदम पूछा—"इस रेखासे तुमने बैठनेको भी नहीं कहा ?"

"हमने तो बाईसे बहुत बोला, अभी अक्का आती होंगी, सज्जी बाई आयेंगी। ये बैठा ही नहीं।" वह सकपका गया।

पापा चैम्बर गये होंगे, मैं जानती थी। इसलिए निश्चिन्तताकी साँस ली। रेखाका सारा गुस्सा ठंडा हो गया था। मैंने व्यस्ततासे भीतर जाते हुए कहा—"अच्छा दो कप फुर्तीसे चाय बना दो, और देखो, कोई आया तो नहीं था न ? किसीका फोन-वोन ?"

और फिर जो रेखासे गप्पें लड़ी हैं कि बस। जाने हम लोग कब तक बातें करते रहे थे···मैंने बता दिया कि मैं उदयपर एक कहानी लिख रही हूँ।

मंगल : १८ जून

उस दिन रेखाने कई बार टोका : "सज्जी, तू सुन नहीं रही है। तेरा दिमाग़ है कहाँ आखिर ?" वह अपनेको उँडेलने आई थी और मैं खुद अपने आपमें इतनी भरी बैठी थी कि बीच-बीचमें मन न जाने कब बह जाता था। उस दिन तो वे बातें निहायत साधारण और स्वाभाविक लगी थीं, लेकिन आज जब उन सारे चित्रोंको सामने लाती हूँ तो हर तस्वीर एक नये अर्थसे जगमगाती लगती है। ओफ़, उस दिनकी सारी छुट्टी कैसे उदयको ही लेकर बीत गई थी।

रेस्त्राँसे बाहर निकलकर बम्बईके बारेमें उन्होंने जो राय दी थी उसपर मैं गम्भीर मुँह बनाये चुप रही। कुछ देर बाद बोली—"आप क्या सिर्फ़ लिखते ही हैं या किसी ऑफ़िसमें···?" उन्हें कनखियोंसे देखते हुए अपनी बात मैंने जान-बूझकर अधूरी छोड़ दी।

"क्या ऑफ़िस ?" एक गहरी साँस लेकर वे बोले—"जिनके साथ श्रद्धेय लग गया है, उन्हें छोड़कर हिन्दुस्तानमें सिर्फ़ लिखनेपर कोई रहा है आजतक ? बड़ा बंगला और मराठीका शोर है; लेकिन मुझे तो एक भी लेखक नहीं दीखता जो केवल अपने मनका लिख रहा हो और भले नागरिकके ढंगसे रह रहा हो। अपने वास्तविक 'कण्ट्रीब्यूशन' को सभी स्थगित करते चले जाते हैं और वह करते हैं जिसे 'मजबूरीकी मज़दूरी' कहा गया है। कोई अनुवाद करता है तो कोई सम्पादन, कोई टैक्स्ट बुक-में लगा है तो कोई किसी प्रेसका प्रूफ़रीडर। कोई साहब किसी नेताके लिए भाषण लिख-लिखकर दे रहे हैं, तो कोई दूसरे नामसे जासूसी और 'पौण्डी साहित्य' की रचना कर रहे हैं..."

"लेकिन आप तो काफ़ी प्रसिद्ध हैं न..." उदयकी इस बातसे मैं डर गई। सचमुच क्या यही वह लाइन है जिसमें मैं अपनेको डाल रही हूँ ?

"जी हाँ, मैं उन्हीं लोगोंकी बातें कह रहा हूँ जिन्होंने इसे अपना जीवन बना रखा है; वर्ना साहित्य कला-वला ये सब लोगोंके लिए मनो-विनोदकी ही चीज़ें हैं, या कहें कि अतिरिक्त क्वालिफ़िकेशन हैं। और जो जिस भाषाको थोड़ा बहुत पढ़-पढ़ा लेता है या कहीं किसी प्राइमरी स्कूल या हायर सेकेण्डरीमें टीचर या लेक्चरार है उसका तो कहना ही क्या है ? वह तो अपनेको उस भाषाका सार्जेण्ट समझता है।" वे उत्तेजित हो उठे थे। मैंने देखा कि उत्तेजनामें उनके नथुने कछुएके नथुनोंकी तरह फूल उठते हैं। चलते-चलते एक मकानकी बाउण्ड्रीसे बाहर फ़ुटपाथपर झाँकती पेड़की फ़ुनगीको हाथ बढ़ाकर तोड़ लिया और चबाते हुए चलने लगे।

मुझे लगा कि यह उनका दुखता फोड़ा है और इसे छूना नहीं चाहिए था। बातको हल्का मोड़ देनेके लिए पूछा : "आज कल आप क्या लिख रहे हैं ?"

"फ़िल्म 'ज़मानेकी रफ्तार' के सीन और डॉयलाग।" उन्होंने तल्खी से कहा—"पिछले तीन सालसे एक उपन्यास लिखनेकी सोच रहा हूँ लेकिन कभी भी इतनी .फ़ुरसत नहीं मिली कि उसपर सोच भी सकूँ, बैठकर मेहनत करनेकी बात दूर है।"

अचानक अपनेको कैडेल रोडपर पाकर मुझे होश आया। सामने पतली-सी गली और बिल्डिंगोंके पार धूपमें नीला-नीला समुद्र चिलक रहा था। किनारेकी ओरका पानी अपेक्षाकृत मटमैला था और दूर सलवटों-दार सतहपर लम्बी-लम्बी रुपहली मछलियोंकी तरह जगह-जगह लहरोंके झाग उछल उठते थे। वातावरणमें एक मधुर गरज थी। लम्बे-लम्बे ताड़ और नारियल-खजूरके पेड़ सनसना रहे थे। खारी-खारी हवा पसीना तो नहीं सुखाती थी; लेकिन धूपकी चुभनको ज़रूर शान्त करती थी। खाकी वर्दी पहने एक बेकरीवाला साइकिल-ठेलेको धकेले लिये जा रहा था। सिनेमाके नामके अक्षरोंपर खड़ी, बड़ी अदासे झुकी रंग-बिरंगी नायिका लखनवी सलाम कर रही थी। फ्लैटोंपर सूखती साड़ियाँ और कपड़ोंको देखकर ध्यान आया कि अक्का नहा चुकी होगी। हाय, जाने कितनी देर हो गई, अब चलूँ। फिर सोचा कुछ बातें ये ऐसी आ गई हैं कि एकदम बीच में-से तोड़कर चल देना अच्छा नहीं लगेगा। इधर ही चलेंगे, पार्क पार करके या तो मैं रेखाके यहाँ चली जाऊँगी, या सीधी घर। एक गंदी-सी पान-बीड़ीकी दूकानके सामने दो-तीन टैक्सी ड्राइवर बैठे ताश खेल रहे थे। हर पुरुष-निगाह द्वारा घूमकर किसी न किसी बहाने अपनी ओर देखा जाना अब कुछ ऐसे अभ्यासमें आ गया है, जैसे हवा पानी। कभी कोई इस तरह देखता है जैसे मुझे नहीं; मेरे पार किसीको देख रहा हो। कोई इस तरह देखता है जैसे वह तो उधर पहलेसे ही देख रहा था, मैं तो बीचमें अनचाहे आ गई। किसीकी निगाह बड़े ड्रामाई ढंगसे अचानक उठकर मुझे देखती है। अब तो कोई न देखे, तभी थोड़ा अप्रत्याशित-सा लगता है। मन होता है कि देखे। टैक्सी-ड्राइवरोंमेंसे कोई दूसरेके

कन्धेपर लदकर मुझे झाँककर घूरता-सा गा उठा—"चोरी-चोरी मेरी गली, आना है बुरा···आके बिना बात किये जाना है बुरा" पहले तो सभीके कान खड़े हुए थे कि शायद हम लोग टैक्सी लें; लेकिन हमारे ढंग-ढर्रेको देखकर वे फिर ताश फेंटने लगे थे। हम लोग पार्ककी ओर चल रहे थे। बहुत दूर किसी पैट्रौल-कम्पनीके विज्ञापनका लाल-लाल बोर्ड झलक रहा था।

"कॉलेजके लड़के-लड़कियोंकी तरह आपको भी यह सिनेमा यहाँ घसीट लाया क्या ?" मैंने हल्का व्यंग्यभरकर पूछा था। एक बार कनखियों-से (काले चश्मेकी आड़ बड़े कामकी चीज़ है) उन्हें तोला : कहीं इन्हें भी तो हीरो बननेका मुग़ालता नहीं है। नाक-नक्श ऐसे क़तई नहीं थे कि साइड हीरो भी बन सकें। हल्का ठिगना क़द, साँवला रंग और छरहरा बदन। एक सचेत असावधानीसे सँवारकर बिखराये गये बाल, माथेपर घावका निशान।

"जी नहीं, वैसा कोई शौक़ मुझे कभी नहीं रहा।" दृढ़तासे वे बोले—"ऐसोंको देखना हो तो कभी हमारी तरफ़ आयें; आपको अपने कमरा-साथी सिंह साहबसे मिला दें। वे हैं एक करैक्टर कि जिसपर कोई भी कहानी लिख सकता है। आप बी० कॉम० का इम्तहान देने गयें, जब एकाउण्टैन्सीका पेपर नहीं आया, तो सीधे नरगिसके साथ हीरो बनने यहाँ भाग आये। थोड़े दिन 'ब्लू-होटल' में काटे। इसी होटलमें उन जैसे बीसियों जवान आये और हीरो बन गये थे। यह होटलकी परम्परा थी, सो वहीं टिके। शूटिंग देखी, और दरबानोंको सिगरेट पिला-पिलाकर कारोंमें फर्राटेसे गुज़रते या कैन्टीनके बाहर चायका प्याला हाथमें लेकर डायरेक्टरके सामने खीसें निपोरते अपने उन आराध्य देवताओंको दूरसे देख-देखकर आध्यात्मिक सन्तोष पाया। इन्हींको फ़िल्मी पर्दोंपर देख-देखकर तो वे खाने, चलने, बोलनेके ढंग सीखा करते थे। और जब सब जोश ठण्डा हो गया तो अब 'पाटिल ज्वैलर्स एण्ड वॉच मेकर्स' के

यहाँ सेल्समैन हैं। अब यह कह-कहकर अपना बड़प्पन जताते हैं कि 'महल' में जो अँगूठी मधुबालाके हाथमें है, वह खुद मैंने बेची थी। इतना बोलकर शायद उदयको खुद लगा कि विषयान्तर बहुत हो गया, तो उन्हें अपना मूल प्रसंग याद आ गया। आधे मिनट रुककर अपने बोलनेका कारण देने-से बोले : "सुजाता जी, अपने बारेमें एक बात और बता दूँ। लोकाचारवश, नक़लमें या मज़ाक़में चाहे कुछ भी कहता रहूँ, लेकिन सचमुच अपने बारेमें आज तक मुझे क़तई मुग़ालता नहीं है। महत्त्वाकांक्षी ज़रूर हूँ। सो जहाँ तक समझता हूँ, कोई अपराध नहीं है। उस तरफ़ जानेवाली फ़िल्मोंकी कहानियोंसे मैं इतना ऊब गया था कि जोशमें आकर इधर भाग खड़ा हुआ। सोचा, चलो इन फ़िल्मवालोंको अच्छी-अच्छी कहानियाँ देंगे। आगे जाकर एक ऐसी फ़िल्म कम्पनी बनानेकी इच्छा थी जहाँ अँग्रेज़ी और बंगलाकी तरह बहुत प्रसिद्ध उपन्यास कहानियोंको ईमानदारीसे फ़िल्माया जाय। लेकिन यहाँ देखा कि न तो ये लोग पढ़ते हैं, न पढ़ना जानते हैं। बाक़ी दुनियामें क्या होता है जैसे इन्हें इससे कोई मतलब नहीं है। वही चार डांस, सात गाने, आँसू और चीखें, पिस्तौलें और होटलोंके जालसाज़ मालिक, तूफ़ान और मन्दिर—लीजिए कहानी ख़त्म हो गई। मैंने भी निश्चय कर लिया है कि लौटना यहाँसे नहीं है। लौटूँगा तो सफल होकर ही लौटूँगा। 'लौटके बुद्धू घरको आये' वाला हिसाब नहीं होगा।" वे नीचे अपनी चप्पलोंको देखते हुए चलते रहे। हमें देखते हुए लोग गुज़र रहे थे।

"क्या मतलब ?" मैं सहसा चौंक उठी।

"मतलब सीधा है।" वे उसी बुझी वाणीमें कहते रहे : "पैसा कमाना है। घरवाले बोझ, बिगड़ा हुआ, निखट्टू समझें; बाहरवाले निकम्मा और बेकार कहें, अगर खुद अच्छी जगह हुए तो हमदर्दी दिखायें, सिगरेट देकर कृतार्थ करें, हर हरकतसे यह जतायें कि बेचारेको कब-कब

मिलती होगी। दूसरी तरफ़ साहित्यमें युग-प्रवर्तकका डंका बजे—यह बिडम्बना अब सही नहीं जाती।"

"सिनेरियो और डॉयलागमें भी सुनते हैं कि काफ़ी मिल जाता है?" मैंने सान्त्वना देनेके भावमें कहा। हमारे दाहिनी ओर जगह-जगह पड़ती छोटी-छोटी गलियोंकी पीली रेत-ढँकी ढालू सड़कोंके पार रेतका हाशिया और समुद्र दिखाई देते थे। बायीं ओर पार्कका कोना था। यहाँपर बने इस क्रॉसका मतलब मेरी समझमें कभी नहीं आया। उसपर रोमन अक्षरोंमें आई० एन० आर० एस० और ऊपरसे चढ़ाई हुई माला। सामनेका वही खपरैलवाला बँगलेनुमा मकान पहले पड़ा, फिर हरियालीकी बाढ़ और बच्चोंके खेलनेके झूले इत्यादि। अपना फ्लैट अभी दिखाई नहीं देता था। मैंने अनुमान लगाया, सामनेके गैसके खम्भेसे मेरी खिड़की और भीतरकी ओरकी बाल्कनी ज़रूर दीखती होगी। वहाँसे मैं भी तो सड़कका यह हिस्सा देख लेती हूँ। कहीं कोई देख न ले। लेकिन इतनी दूरसे पहचान थोड़े ही पायेगा? फिर भी अक्काका क्या है, साड़ीके रंग या चालसे ही पहचान लें। यों ही खेलनेके लिए सड़कपर पड़ा एक खाली सिगरेटका डब्बा उठानेके बहाने मैं ज़रा रुकी और उदयके दाहिनी ओर आड़ करके इस तरह चलने लगी कि हमारे यहाँसे कोई देखे तो वे ही दीखें। इसबार देखा, वे मुझसे दो-चार अंगुल छोटे ही हैं।

"मिलता होगा।" वे लापरवाहीसे मेरी बातके जवाबमें बोले: "डायरेक्टर प्रोड्यूसर स्टोरी-राइटर, प्रमुख हीरो—अर्थात् एक ही व्यक्ति और पार्टनर-डिस्ट्रीब्यूटरके बीचमें हीरोइनको लेकर कुछ झगड़ा होगया है, सो फ़िल्म तीन-चार हज़ार फीट बनी पड़ी है। मैं पण्डित चोखेलालके साथ सिनेरियो और डायलॉगमें सहायक हूँ, मासिक वेतनपर। वे आधी तनख्वाह दिये जारहे हैं। कहानी किसी दूसरे प्रोड्यूसरको भिड़ा देंगे तो बाक़ी तनख्वाह भी दे देंगे। जायँ भाड़में। मुझे तो मोह सिर्फ़ यह है कि

कहानी मेरी है। चोखेलालने अपने साथ इसी शर्तपर मुझे छ: महीनेके लिए नौकर रक्खा था कि कहानी मैं दे दूँ, लेकिन जायेगी उनके नामसे उधर प्रोड्यूसर तेज़ था। वह फ़िल्ममें कोई ऐसी जगह नहीं रखना चाहता था, जहाँ उसका नाम न जाय। सो यों सौदा तय हुआ। मालूम नहीं, चोखेलालने मेरी कहानीको अपने नामसे देकर और प्रोड्यूसरका नाम जाने देकर कितने लिये।" जैसे यह सचमुच कोई मज़ाक है, इस तरह वे खुलकर हँस पड़े—"कहिए, है न बंबइया खेल ?"

उनके हँसनेके दर्दने मुझे छुआ। आड़से ज़रा-सा झाँककर देखा। मेरी खिड़कीका आधा पर्दा हवासे गुब्बारेकी तरह बाहरकी तरफ़ फूला था। भीतरकी बाल्कनीमें अलगनीपर साड़ी और तौलिया झूल रहे थे। अक्काको पापाजी वाले कमरेसे निकलकर अपनेमें जाते मैंने स्पष्ट देखा। मैं उदयकी आड़में न होती तो देख ही लेतीं। हमारे ऊपरकी बाल्कनीमें कापड़ियाके यहाँ छोटे-छोटे गमले लटके हैं, वहीं उनकी लड़की माला फ़्रॉक पहने नंगी-नंगी टाँगे दिखाती रेलिंगपर लटकी थी। यह जब देखो, तब यहीं लटकी रहती है। इतनी बड़ी हो गई, अपनेको बच्ची ही समझती है। हमेशा फ़्रॉक लटकाये रहेगी। कमसे कम एक दुपट्टा ही डाल ले सामने। तो, जनाबमें ऐंठ चाहे जितनी हो, हैं काफ़ी कष्टमें! मैंने इस दु:खद प्रसंगको मोड़ देनेके लिए कहा : "आपकी बहन तो काफ़ी खाती-पीती लगती…"

उन्होंने फिर एक गहरी साँस ली : "बहनसे ही माँगना होता तो घर ही क्या बुरे थे ? रूखी-सूखी खाते ही थे। वह बेचारी तो बुला-बुला कर रह जाती है। अब उससे सम्बन्ध सिर्फ़ फोनका ही रखता हूँ—वह भी जब कभी इधर आ जाती है तो।" मुझे लगा; जैसे वे अपने फोन करनेकी सफ़ाई दे रहे हैं। पास लम्बी-सी चमकती लाल-सफ़ेद गाड़ी तैरती चली गई और वे उसे देर तक ग़ौरसे देखते रहे। एक बातकी ओर ध्यान गया : वे हर गाड़ीको बड़ी ही हसरतभरी निगाहोंसे देखते थे,

और पीछेसे आने वाली हर गाड़ीपर चौंक उठते थे जैसे उनकी परिचित गाड़ी गई हो। मुझसे मज़ाक किये बिना नहीं रहा गया : "बहनकी गाड़ी पहचान रहे हैं क्या ?"

"नहीं, देख रहा हूँ कि कौन-सा मॉडल लूँ !" वे जानबूझकर इतनी देरका अवसाद हटानेके लिए खिलखिला पड़े। फिर एकदम सुस्त हो गये और दूर सागरके पार उड़ती चीलोंको देखकर बोले—"हमलोग भी सच, कैसे ख़याली पुलाव पकाने लगते हैं कभी-कभी। जब बम्बई आया था तो पता है, क्या सोचा करता था ?"

"क्या ?" अब इधर हवा चलने लगी थी। पल्लेको कमरमें खोंसते हुए मैंने पूछा—(मालाको देखकर मुझे अपने कपड़े ठीक करनेकी याद हो आई)।

"ऊँची-ऊँची शानदार बिल्डिंगें देखकर मैं सोचा करता था कि यहाँ ज़रूर कुछ ऐसा नाटकीय हो जायेगा कि थोड़े ही दिनोंमें एक बिल्डिंग मेरे भी पास होगी। हो सकता है, किसी करोड़पतिकी इकलौती बेटीकी गाड़ीसे टकरा जाऊँ, वह मुझे अस्पतालमें ले जाये, सेवा-शुश्रूषा करे और फिर मुग्ध हो जाये, या हो सकता है उसे किन्हीं गुण्डोंके चंगुलसे बचाकर उसके बापसे मेरा परिचय हो जाय। कुछ नहीं, तो किसी दिन मेरे नाम कोई लॉटरी ही खुल जाय। आप कुछ कहिए, ये बातें सोचनेमें आता बड़ा मज़ा है। लेकिन यहाँ आकर स्टेशनपर जब सामान ढोया तो सारे सपने हवा हो गये।"

"सामान ढोया ?" मैं सचमुच इस तरह चौंकी जैसे मेरे पाँवके नीचे अँगारा आ गया हो। मैंने उन्हें फिर ग़ौरसे देखा।

"जी हाँ, और करता क्या ?" वे फिर अपनेमें खोई-खोई उसी विषाक्त मुसकानमें डूबी मुद्रामें बोले। फिर अचानक जैसे सचेत हो गये। "ख़ैर, छोड़िए ये सब बातें। हमलोग भी क्या ले बैठे ? असलमें तब तक आपसे परिचय नहीं हुआ था न, वर्ना आपसे आकर भिक्षा माँग लेते—

'भिक्षां देहि...' उस सुजाताने खीर खिलाई थी, आप एकाध कप चाय तो पिला ही देतीं..."

दोनों ज़ोरसे खिलखिलाकर हँस पड़े। मैंने भी साथ दिया, लेकिन मन सहानुभूतिसे भर उठा। बुद्ध और सुजाताकी कल्पनाके रोमांससे अवचेतन मन गुदगुदा उठा। मैंने अपनत्व भरकर कहा—"नहीं, ऐसा नहीं है। मैं तो बहुत ही शुरूसे आपकी प्रशंसिका रही हूँ।"

"प्रशंसक बहुत लोग हैं। और इस दिशामें मैं अपने साथियोंकी अपेक्षा शायद कुछ अधिक ही सौभाग्यशाली रहा हूँ। लेकिन अपने देशमें तो प्रशंसा और पूजा करनेवाले देवताको लोग पत्थरका मानकर चलते हैं। उनके खयालसे न तो उसके हृदयमें कोई भाव उठते हैं और न उसे खाने-कपड़ेकी ज़रूरत महसूस होती है।" सामने दौड़ती मोटर-साइकिलके नम्बरपर निगाह गड़ाकर उन्होंने कहा—"कभी कभी तो सचमुच, मनमें आता है कि एक लम्बा-सा गेरुआ चोग़ा सिलवाकर साधु हो जाऊँ। धार्मिक लोग मूर्ख होते हैं और उन्हें बहकाने लायक़ लटके मुझे आते हैं। थोड़े श्लोक और चौपाइयाँ और याद कर लूँगा। ज़रूरत ग़ैर-ज़रूरत कोट कर दिया। कम-से-कम कुछ चेले बनेंगे, खाने-पीने और सेवाका आराम हो गया, समझिए। और कहीं कोई पति-रुष्टा सेठानी आ गई, तब तो कहना ही क्या है। दो-चार साहित्यिकोंको वैसे ही पाल लूँगा। कहूँगा—लो बच्चा, खाओ, और दण्ड पेलो। क्यों साहित्य-वाहित्यमें ज़िन्दगी खराब करते हो? यहाँ किसीको इसकी ज़रूरत नहीं है। न तुम्हारा साहित्य बिगड़ी तक़दीर सुधारता है, न पुत्र होनेका आश्वासन देता है, ब्लैक-मार्केटियरका परलोक सुधारनेका भी कोई नुस्खा तुम्हारे पास नहीं है। फिर आखिर करता क्या है यह?" अपनी इस कल्पनापर उन्हें बच्चोंकी तरह खूब हँसी आती रही। फिर बोले—"और अभी सिरका शनीचर गया थोड़े ही है। हो सकता है किसी दिन कमण्डलु लेकर द्वार आ खड़ा होऊँ। आ जाऊँ न?" उन्होंने सीधे मेरे चेहरेको देखा।

"जब मन हो शौक़से आइए।" मैंने कहा। लेकिन भावलोकके इस रोमानी-स्तरपर यह बात दिमाग़में टकराये बिना न रही कि मौक़े-बेमौक़ेके लिए यह मुझे 'पटा' रहे हैं। कहीं सचमुच ही किसी दिन आ खड़े हुए तो मैं क्या करूँगी? बड़े तेज़ होते हैं ये लोग भी। लाख भावुकता-की बातें करेंगे, लेकिन निगाहें वहीं रक्खेंगे। पर फिर अपनी क्षुद्रतापर खीझ हुई। हो सकता है इनका उद्देश्य यह न हो और बात शुद्ध तत्काल परिहासके लिए ही कही जा रही हो। मैंने और भी निकटता लानेके लिए पूछा—"अच्छा, एक बात बताइए। बहुत देरसे मनमें थी कि पूछूँगी, पूछूँगी, लेकिन इतना सीधा प्रश्न पूछनेका साहस नहीं हो रहा था। पूछूँ?"

"पूछिए। लेकिन मेरा ख़याल है कि मैं उस प्रश्नको जानता हूँ।" वे अन्तर्यामीके अन्दाज़से मुसकुराये। मुझे और भी अधिक इम्प्रैस करने को बोले—"और जवाब मैं बता दूँ कि वैसी कोई बात नहीं है।"

"क्या? कैसी कोई बात नहीं है?" मैंने साश्चर्य पूछा—"मैं क्या पूछना चाहती हूँ?" एक बार तो सिहर उठी, क्या सचमुच यह मनकी बात जान गये हैं? हो सकता है, इस वक़्त कोई ख़ास बात न हो, लेकिन अगर इतनी तेज़ निगाह है तब तो आदमी ख़तरनाक लगता है।

वे निहायत ही इत्मीनानके स्वरमें बोले—"आप यही तो पूछ रही हैं न कि मैं जिन्हें बहन कहता हूँ वे क्या हैं? या मेरा उनसे वास्तविक सम्बन्ध क्या है?"

मैं वाक़ई चौंक पड़ी। अरे, यह इनके दिमाग़में क्या फ़ितूर है? बहन! बहन! बहन! क्या सचमुच जिसे ये बहन कहते हैं वह कुछ और है? ख़ैर इस बातकी जाँच बादमें करूँगी। मैंने दृढ़तासे कहा—"नहीं जी, यह बात नहीं है। एक उपन्यास लिख लिया तो समझने लगे कि संसारमें हरेकके मनकी बात ही जान लेंगे। इस गुमानमें भी मत

रहिए। हमलोग लड़कियाँ हैं, जिनके मनकी थाह आपके ऋषिमुनि भी नहीं पा सके।"

वे इस तरह हत-प्रभ हो गये जैसे अपने मनकी कमज़ोरी उन्होंने जान-बूझकर प्रकट कर दी हो। खिसियाकर बोले—"अच्छा, बताइए क्या है?"

"सच-सच बतायें तो पूछूँ। वर्ना बात भी पूछें और सच बातका पता भी न चले।" मैंने ज़रा भौंहें चलाकर नाटकीय ढंगसे कहा।

"अच्छा कहिए।" उन्होंने आत्म-समर्पणके भावसे कहा, मानो नासमझ बच्चेकी ज़िदके आगे झुके हों।

"यह आपके उपन्यासकी रश्मि कौन है?" मैंने कनखियोंसे निगाहें उनके चेहरेपर जमाये हुए पूछा; ताकि चेहरेकी कोई प्रतिक्रिया छूटे नहीं: "मैं और रेखा उस दिन इस बातपर दो-तीन घण्टे बहस करते रहे। इतना तो साफ़ है कि यह कोई काल्पनिक पात्र नहीं है। यह बहुत ही सजीव है।" फिर बच्चों जैसे साग्रह अनुरोधसे कहा: "कौन है यह?"

"इतनी अच्छी कहानीकार होते हुए भी आप सचमुच बच्ची ही हैं। पहले मैं विश्वास नहीं करता था लेकिन अब मानने लगा हूँ कि बड़ी से बड़ी नारीमें भी एक दस वर्षकी बालिका होती है।" वे जैसे और पाँच-छः हाथ ऊँचे उठ गये। इसे उन्होंने अपनी प्रशंसामें लिया है, यह उनके चेहरेका सन्तोष बताता था: "वह पात्र सचमें, काल्पनिक ही है।"

'फ़ूल!' पता नहीं क्यों मन ही मन मैंने अंग्रेज़ीमें कहा। उसीका पर्याय 'बेवकूफ़' या 'मूर्ख' क्यों उस समय मनमें नहीं आया, नहीं कह सकती। मनकी कुछ स्थितियोंमें हमें ऐसा लगता है जैसे विदेशी भाषामें वह गाम्भीर्य या अर्थकी सच्चाई नहीं है जो अपनी भाषामें है। इसलिए 'लव' पर हम खुलकर बातें कर सकते हैं लेकिन 'मुहब्बत' शब्द होठों तक आकर अटक जाता है। आवेशमें ठीक इसका उलटा होता है। हम समझते हैं कि हमारे आवेशको अपनी भाषा उतना व्यक्त नहीं करती

इसलिए क्रोधमें अंग्रेज़ीमें भाषण देते हैं, बंगाली लोग हिन्दीमें गालियाँ देते हैं। मन ही मन मैंने कहा : मुझे बच्ची समझता है ! जब कि दस सालकी बच्चीके सामने बीस सालका पुरुष निरा भोंदू होता है। यह पुरुष नामका जानवर भी कितना मूर्ख है, मनमें जाने क्या-क्या खिचड़ियाँपकाया करता है। मैंने ज़ोरसे कहा : "देखिए नहीं बताना हो तो मत बताइए, पर मुझे यों बुद्धू मत बताइए। आखिर कहानियाँ मैं भी लिखती हूँ।"

"ओ हो, आप तो एक ही गाँठपर पंसारी बन गईं।" वे हँस पड़े— "दो कहानियोंपर ऐसा गर्व ? यह रास्ता इतना आसान नहीं, छुरेकी धार है। खैर भाई, मैं मानता हूँ कि आपकी कहानियोंमें सारे पात्र अपने जीवन-में आये हुए लोग होंगे।"

इस गर्वोक्ति और परिहाससे मैं खुद बुरी तरह कट गई। चेहरा झन-झना आया। जैसे-तैसे वाणीको सँभाले रखकर बोली—"आप बताना नहीं चाहते, बना रहे हैं।"

और हम दोनों चुप हो गये। सामने लैटर बॉक्स खड़ा था। ईरानी रेस्त्राँके कोनेपर खड़े कोई साहब टेलीफोन कर रहे थे। चौराहेसे दाहिनी ओरकी पतली सड़क महीम श्मशानको गई थी—दो तीन दूकानों और होटलोंके बाद ही तो फाटक दिखाई दे रहा था। अपने आप ही उस ओर मुड़े तो अनजाने ही दोनोंने एक दूसरेकी ओर देखा और हँसती निगाहें आपसमें टकराकर बिखर गईं। उसी जगहको लेकर तो उन्होंने मज़ाक किया था और यहाँ ही आ गये। हाथमें 'कोका कोला' लिये सुनहरे बालोंवाली खूबसूरत लड़की बोर्डमें मुसकरा रही थी। रेस्त्राँके भीतर दो-चार कुर्सियाँ दिखाई दे रही थीं। अब हवा सामनेकी थी, सो कुछ बाल विद्रोह करते उड़ रहे थे। मैंने उन्हें यों ही उड़ने दिया। वे मेरे मुख-मंडलपर अच्छे लग रहे होंगे—यह मैं जानती थी। एक लापरवाहीका भाव देते हैं। मनमें आया कि अब लौटना चाहिए। वे पता नहीं क्या सोच रहे थे। मैंने चाल धीमी की।

अपने-आप सोचते-से वे बोले—"तो आप सचमुच रश्मिके बारेमें जाननेको उत्सुक हैं?" ऊपरके होंठपर हल्की-सी मुसकराहटका आभास था। जब भी वे गम्भीरता-पूर्वक कोई ऐसी बात कहते हैं जिसमें तन्मयता या आत्म-प्रकाशन होता, तो उनका सारा चेहरा तो गम्भीर ही रहता है; लेकिन अपलक निगाहोंके नीचे एक हल्की-सी लकीर और ऊपरके होंठके कोनेपर मुसकराहटकी फड़कन जैसे याद दिला देती कि वे बाहरी दुनियाकी ओरसे भी सचेत हैं—व्यंग्य, तलखी और चुनौती, न जाने क्या वह भाव है जिसे वह प्रगट होने देना चाहते हैं उस समय। वे कह रहे थे : "तो सुनिए, जिस लड़कीका नाम इसमें रश्मि है उसे मैं पिछले दस सालसे जानता हूँ। जानता हूँ शब्द इसलिए प्रयुक्त कर रहा हूँ कि प्यार, मुहब्बतके जो शास्त्रीय लक्षण बताये गये हैं, वे सब हमलोगोंके बीच कभी भी नहीं रहे। शायद वे वलवले और वैसी आवेशपूर्ण गर्मी—वॉर्म्थ—भी हमलोगोंने एक दूसरेके प्रति कभी महसूस नहीं की। फिर भी, चाहें तो कहा जा सकता है कि मैं उसे बहुत घनिष्ठतासे जानता हूँ और परेल स्टेशनकी ठण्डी बेंचोंपर उसके सपने देखते हुए, कई रातें काटी हैं कि एक दिन उसके साथ फ्लैट लेकर यहीं-कहीं रहूँगा। शानसे गाड़ीपर घुमाऊँगा। उसके लायक़ अपने आपको बना सकूँ, इसीलिए मैं यहाँ आया भी था। क्योंकि 'फुटपाथपर भी तुम्हारे साथ पड़ जाऊँगी' जैसी प्रतिज्ञा न उसने कभी की; और न इसलिए मैं उसे लाना ही चाहता था। पता नहीं क्यों, हो सकता है यह हमारे ज़मानेका ही अभिशाप हो, जिस तरहके प्रेमोंकी बातें हम पढ़ते हैं, उनमें जैसे एकान्त-समर्पण और जानतक देनेका उत्कट आवेश पाते हैं, वह आज कहीं भी नहीं मिलता। सम्भव नहीं शायद। आजका प्रेम बहुत अधिक व्यापारी हो गया है। उसमें हमेशा एक द्विविधा, एक धर्म-संकट, ऊपरसे दिखावटी और भीतरसे निहायत ही हिसाबीपना, साथ ही अपनी ही इस मनोवृत्तिपर ग्लानि—सब कुछ मिलाकर शायद यह आजके प्रेमकी तस्वीर है। इसे देखकर तो जो

कुछ हम पढ़ते-सुनते हैं, उसपर घोर अविश्वास होने लगता है। खैर, ये दिन संघर्ष और संक्रान्तिके हैं और इन्हें मैं इसी आशामें अकेला काट सकता हूँ कि आगे उसके साथ जो दिन बीतेंगे वे ऐसे नहीं होंगे। अब उसे क्यों फ़ुटपाथपर घसीटूँ? बेकार रोयेगी कि किसका साथ पकड़ा…"

"लेकिन आपके प्रति उसकी ज़िम्मेदारी क्या आपके साथ सिर्फ़ सुख उठाने की ही है—इसके बाद ख़त्म हो जाती है?" मैंने गम्भीरतासे पूछा। कहूँ, कहे बिना नहीं रहा गया।

"हाँ, यही बहन कहती है कि 'उदय, वह लड़की तुम्हें धोखा दे रही है। वह देख रही है कि जब तुम कुछ बन जाओ तो वह भी आकर अपना प्रेम सार्थक कर ले, वर्ना घाटेका सौदा क्यों करे? प्रेममें कहीं ऐसे बनिया-पनेके हिसाब-किताब होते होंगे?'—यों सुननेमें बात मुझे भी बहनकी ही ठीक लगती है; लेकिन मैं कहता हूँ कि प्रेमकी जो सिनेमा-उपन्यासोंवाली घिसी-पिटी अन्धे जोशकी तस्वीरें हैं, उन्हीं लाइनोंपर हम भी अपनी ज़िन्दगी क्यों घटायें? जब आज हर चीज़में एक व्यावसायिकता है, तो उसके यह सोचनेमें ही क्या ग़लती है कि अगर मैं अच्छा संरक्षण दे सकूँ तभी वह आये? वर्ना भावुकतामें आकर क्यों मेरे साथ अपना जीवन बर्बाद करे?" कुछ देर उन्होंने मेरे उत्तरकी राह देखी, फिर जैसे व्यथासे हँसे—"लेकिन फिर दिमाग़में आता है कि वह सब अपने आपको धोखा देना है। ग्लानि भी होती है कि वह मुझे धोखा दे, मैं अपने आपको दूँ और मेरा 'आप' किसी औरको दे—आख़िर यह क्रम कब तक चला जायेगा? क्यों नहीं मैं इसे जड़से तोड़ डालता? लेकिन अब आप इसे दस सालका मोह कहिए या कुछ और कि मैं अपनी ओरसे इस सबको समाप्त नहीं कर सकता। तीन-चार सालसे तो हमारा केवल पत्र-व्यवहारका ही सम्बन्ध रह गया है। उन पत्रोंमें तरह-तरहके सम्बोधन हैं, स्नेह है, प्यार है, इसलिए नहीं कि वह सचमुच महसूस करती

है, बल्कि वह सब अब एक अभ्यासमें आगया है, जिसका कोई अर्थ नहीं है। मैं जानता हूँ, हालत अब शायद यह है कि अगर आज उससे सम्बन्ध टूट भी जाय तो किसीको कोई दुःख और अफ़सोस नहीं होगा। लेकिन मेरी ही कमज़ोरी है कि झटकेसे तोड़ नहीं पाता, घसीटे लिये जा रहा हूँ। हर क्षण राह देखता हूँ कि अब टूटा, अब टूटा। सोचता हूँ अच्छा हो इसे वही तोड़ दे और यह 'पाप' मेरे मत्थे न पड़े।''

मैंने एक बात और देखी है कि जब वे कहीं गहरेसे कोई बात कहते हैं तो उनके हाथ इस तरह चलते हैं जैसे कुछ कहना चाहते हों और नहीं कह पा रहे हों—कोई अदृश्य चीज़ है जिसे आकार दे रहे हों। अब हमलोग अपने आप रुक कर खड़े हो गये थे। फट्-फट् करती पेट्रोल जैसे लम्बे-से लेटे पीपेवाली किसी ऑक्सीज़न कम्पनीकी गाड़ी गोखले रोड-की ओरसे गुज़री तो जैसे जागकर वे होशमें आ गये "बस, अब तो खुश?'' उन्होंने बड़े दया-पूर्वक मुझे देखा मानो कह रहे हों कि देखो यह सब मत पूछो, मैं पहले ही कहता था। यह प्रसंग सुखद नहीं है।

मैं बड़ी आविष्ट और आच्छन्न-सी उन्हें देखती रही। सुनती रही। उनसे सहानुभूति थी। बातमें कहीं कुछ ऐसा दर्द था कि मेरा दिल भी उमड़ा-उमड़ा आ रहा था; लेकिन अपनी भावुकता और श्रद्धाके कुहरेके पार भी यह बात उभर कर सामने आरही थी कि 'अरे, ऊपरसे चाहे जैसा आल-जाल इसने चारों तरफ़ लपेट रक्खा हो, यह तो बिलकुल साधारण आदमी है? इसमें आखिर खासियत क्या है?—वही मुहब्बत, वही सम्पन्न बननेके सपने, वही संघर्ष, जैसे बम्बईके लाखों लोगोंकी हालत है, वही मूलतः इसकी भी है।' झूठ नहीं बोलूँगी, मुझे लगा कि मैं व्यर्थ ही इसे लेकर उलटी-सीधी बातें सोचा करती थी। यह तो बहुत ही साधारण और निर्बल आदमी है। लेखकों-वेखकोंके जो प्रिटेन्शन्स होते हैं, वे सब इसमें कुछ भी नहीं हैं! और जाने किस लहरमें उस क्षण मेरे मनमें आया कि इस निर्बल व्यक्तिको बाँहोंमें भरकर प्यारसे इसका माथा चूम

लूँ और कहूँ : "तुम बहुत भटके हो, बहुत थके हो। आओ, तुम्हारी भटकन और थकनको एक समर्थ दिशा दे दूँ।" उस समय मैं सच, भूल गई कि मैं कहानी-लेखिका हूँ, और उदय मेरी विषय-सामग्री। उस समय मैं शुद्ध नारी ही रह गई।

लेकिन उनके पिछले वाक्य और उस दयाभरी दृष्टिने मुझे कोंचकर जगा दिया और मेरे प्राणोंमें अभी-अभी जो एक हल्की-सी पिघलन तैर आई थी वह एकदम गायब होगई। जैसे किसीने एकदम सारा जादू समेट लिया हो। मैंने उनकी ओर देखा। उनकी निगाहोंमें मैंने साफ़ देखा जैसे विवश और मजबूर लेकिन अथाह करुणाभरी दृष्टिसे मुझे देख-कर कह रहे हों कि 'हे, प्रणय-याचिका, सॉरी, आइ'म एंगेज्ड।' और यह कहते हुए उन्हें मेरे दिलको दुखानेका अफ़सोस भी है। 'फूल' मैंने फिर मन-ही-मन दुहराया। हाँ, हाँ, मैंने साफ़ देखा कि उदयकी आँखोंमें यही लिखा था। यह कल्पना करके मैं तड़प उठी कि यह व्यक्ति आज रातको डायरीमें लिखेगा : "भोली सुजाता, मैं जानता हूँ कि तुम मुझे प्यार करती हो; लेकिन मैं बदलेमें तुम्हें प्यार नहीं दे पाऊँगा क्योंकि मेरा मन, मेरा मस्तिष्क अभी भी रश्मिके हैं···" लेकिन···लेकिन इन महाशयको यह भ्रम कैसे हो गया कि मैं यह चाहती हूँ···? नहीं, यह भ्रम किसी भी तरह नहीं पनपने देना···। मेरा तो जो भी था, सो तेजके साथ था, अब वह नहीं है तो कुछ भी नहीं···। और मन सहसा एकदम उखड़ गया।

मैंने कहा—"अच्छा उदय जी, आज आपका बहुत वक्त लिया मैंने। अब चलूँगी।" घड़ी देखी तो मुँह खुलाका-खुला रह गया—साढ़े तीन बज गये थे—हाय, कहीं अक्काने बिट्टूको रेखाके यहाँ न भेज दिया हो।

"अच्छी बात है।" बिना आग्रह या किसी झिझकके उन्होंने भी हाथ जोड़ दिये। उनकी इस तटस्थतासे जैसे मेरी ऊपरवाली भावनाको

धक्का लगा। बुरा लगा कि कमसे-कम चौंकते ही सही। आगे मिलनेको पूछते या रुकनेका आग्रह करते, जैसे लापरवाहीसे गलेमें हाथ डालकर तेज कहा करता था—'अरे होगा भी, चलो, पहले यह करो। फिर घर-वर जानेकी जल्दी मचाओ।' कल्पनामें उदयका हाथ अपने गलेमें महसूस करके बड़ा चिपचिपा-चिपचिपा-सा लगा। इस निगाहसे मैंने उनके हाथ-को देखा। उन्हें सहसा ध्यान आ गया था। "अरे, आपकी कहानीको लेकर ही ये सारी बातें थीं और कहानीपर ही बातें नहीं कर पाये, दुनिया भरमें भटकते फिरे।" वे झेंप रहे थे।

"छोड़िए भी, अबकी बार दूसरी लिखूँगी, तब उसपर बातें करेंगी।"

"भई सुजाता जी, एक काम आपको करना होगा। पूछिए, क्या?" उन्होंने खुद ही आत्मीयताभरे स्वरमें कहा।

"हाँ ऽऽ" मैं आगे सुननेकी उत्सुकतामें बोली।

"हाँ, नहीं, पूछिए 'क्या'?" वे हठसे बोले।

"क्या?" मैंने कठिनाईसे दुहराया और इस बच्चों या अनपढ़ों जैसी ज़िदपर खिलखिलाकर हँस पड़ी।

"वह, यह कि मैं जब भी बहकूँ, तो आप मुझे रोक देंगी। अपने बारेमें बोलते हुए मुझे अनुपातका ज्ञान नहीं रहता। आप मेरी यह आदत छुड़ादें तो वाक़ई मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँगा। जहाँ नहीं खुलता, वहाँ वर्षों शिष्टता चलती रहती है और जहाँ खुले वहाँ आपके सामने वे सारी बातें कह डालीं जो बम्बईमें किसीके सामने कभी नहीं कहीं। अच्छा, अगली बारसे सिर्फ़ आपकी कहानीके बारेमें ही बातें करेंगे।"

और बिना कुछ बोले या उनकी बातका कुछ जवाब दिये मैं 'अच्छा अब चलूँ।' कहकर पलट पड़ी। अचानक तबीयत बहुत बेचैन हो गई थी।

सिर झुकाये चप्पलोंकी ओर देखती दो क़दम चली कि फिर मुड़कर पुकारा "अरे, सुनिए ज़रा।"

इस सहसा मुड़नेमें एक अर्थ था। मैं देखना चाहती थी कि वे मुझे जाते हुए देखते हैं या नहीं। वे ऐसे डूबकर चलने लगे थे जैसे बिलकुल अकेले जा रहे हों—व्यस्त और आत्मलीन। आवाज़ सुनकर मुड़े और वहीं खड़े हो गये। हारकर मैं ही आगे बढ़ी: सचमुच मैनर्सकी कमी है। अब हम ही बढ़कर उधर जायें, आप नहीं खिसक सकते। हवा अब सामने-की थी। उड़ते पल्लेको छातीपर खुले पंजेसे गर्दनके ऊपर दबाये मैंने कहा: "हमारे यहाँ ड्रामा है। आ सकेंगे आप?"

"नहीं", फटाक्से वे बोले।

मनमें हुआ कि 'अच्छी बात है।' कहकर मैं भी चल पड़ूँ। लेकिन फिर शिष्टताके नाते पूछा—"क्यों, कोई काम है क्या?" मनकी कचोटको अनजाने ही मज़ाकमें निकाला—"बहनके साथ कहींका एपाइण्टमेण्ट है क्या?"

"जी नहीं, वह यहाँ है ही नहीं।" जबर्दस्ती स्वरको कड़ा करके वे बोले। "अरे, आप लड़कियोंका ड्रामा है, कॉलेजका। हम वहाँ किस नाते पहुँचेंगे? न ऑनरेबुल गैस्ट, न मिनिस्टर, न वी० आई० पी०। आपके दोस्त लोग कहेंगे, कैसे-कैसे लोगोंसे दोस्ती है जॉइण्ट-सेक्रेटरीकी।" फिर कोई बात याद करके खुद ही हँस पड़े—"हमारे एक शुभेच्छुने बड़ी ही गम्भीरतासे एक दिन कहा था कि तुम सूरतसे निहायत ही घुटे हुए गुण्डे लगते हो।"

"जी हाँ, इसमें झूठ तो कुछ नहीं है।" मैंने देखा कि बहनवाली बातको किस सफ़ाईसे उन्होंने उड़ाया है—मुँहपर आई बात कह दी—"योर लुक्स आर रीयली रोगिश।"

उन्होंने अचानक बहुत ही सुस्त और भोलेभावसे पूछा: "इस मज़ाक-का अर्थ भी बता दीजिए। इतनी अंग्रेज़ी आती नहीं है। 'लुक्स' का अर्थ शकल-सूरत है तो उसे बदलना तो मेरे बसका नहीं है; लेकिन अगर

आपका मतलब निगाहोंसे है तो उन्हें मैं बदल सकता हूँ।" बात कहकर वे सीधे मेरे चेहरेकी ओर देखते रहे।

उस समय धूपके चश्मेने मेरी रक्षा की। ग़ौरसे मैंने उनकी आँखोंमें देखा और महीन व्यंग्यको पकड़ा तो मुहावरेका जवाब मुहावरेसे देनेका लोभ रोका नहीं जा सका। उनके पीछे एक बिल्डिङ्गकी दूसरी मंज़िलसे झाँकते, बुश्शर्टके बटन लगाते एक साहबकी टकटकीको दरगुज़र करते हुए स्वरमें तटस्थ गम्भीरता लाकर कहा: "अरे हमारा क्या है, आप खूब निगाहें बदलिए, तेवर बदलिए, पैंतरे बदलिए। हमें तो हमदर्दी उस बेचारीसे है जिसकी ओरसे आप निगाहें पलटे ले रहे हैं।"

और हम दोनों ही ज़ोरसे खिलखिलाकर हँस पड़े। वे बोले—"आप भी बहुत तेज़ हैं। बुलंदशहरमें होतीं तो अबतक तीन बार रो चुकी होतीं। बम्बईकी हवा है।"

"अच्छा तो आप उन हवाओंमें मत रहिए। बताइए कि आ रहे हैं न?" अपनी बातपर आते हुए मैंने फिर मुहावरा कसा। सचमुच एकके बाद एक मुहावरे कैसे मेरे दिमाग़से उछले चले आ रहे थे कि मुझे खुद आश्चर्य हो रहा था।

"देखिए, कोशिश करूँगा। शायद पब्लिक तो नहीं है...?"

"रहेगा तो पब्लिक ही। प्राइम-मिनिस्टर-फ़्लड-रिलीफ़-फ़ण्डके लिए कुछ देना है। दो-तीन कॉलेज मिलकर एक साथ करेंगे। शायद कोई बड़ा सिनेमा-हॉल ठीक कर लेंगे हम लोग।"

मानो मेरे इतने आग्रहके जवाबमें उन्होंने पूछा—"आप भी ऐक्टिंग कर रही हैं क्या?"

"बाक़ी और लोग भी हैं। यह तो आपके सामने 'ध्रुव-स्वामिनी' खड़ी है।"

उन्होंने मज़ाक़में मुझे ऊपरसे नीचे तक देखा—तु...तु...आप?"

फिर गहरी साँस ली—"बेचारी ध्रुवस्वामिनी ! हाय, ध्रुवस्वामिनी तेरी यह दशा ?"

"आपको पता नहीं है, फ़ैन्सी ड्रैस-शोकी ऐक्टिंगोंमें मैंने कई इनाम जीते हैं।" उनकी पहली झिझक और परिहासपर ध्यान न देकर मैंने बताया।

"तब तो ख़तरा है इन बहुरूपियोंसे।"

"बहुत बड़ा। सँभलकर रहिए। आप लेखकपनेमें ही रह जायें और कोई ठग ले जाय।" फिर मैं सहसा मुड़ पड़ी। ज्यादा विदाईकी भूमिकामें देर होगी बेकार, और मुझे जल्दी पहुँचना था। एक बात और ध्यानमें आ गई—"अरे हाँ, एक नई कहानी लिखी है। कहाँ भेज दूँ ?"

"देखकर बता दूँगा।"

"अच्छी बात है।" मैंने स्वीकृतिमें सिर हिला दिया और आज्ञाकारी बच्चीकी तरह जल्दी-जल्दी चली आई। उफ़, कितनी बातें की हैं हम लोगोंने भी। जाने कहाँ-कहाँ की। दुनियाभरके विषय घसीट डाले। तो क्या जब-जब हमलोग मिलेंगे, मुलाक़ातें हमेशा ही ऐसी लम्बी होंगी ? तब तो थोड़े ही दिनोंमें 'बोरियत' हो जायेगी। फिर मैं अपनेमें ही डूबी अपनी और उनकी सारी बातोंके टुकड़े दुहराती रही। अँधेरेमें चमकते नियोन-लाइटके विज्ञापनोंकी तरह कभी कोई टुकड़ा चमक जाता कभी कोई। मुहावरोंका जवाब मुहावरोंमें मैंने ख़ूब दिया। कुछ आ ही गया, वर्ना मुझे ऐन मौक़ेपर कोई चुटीली बात ही याद नहीं आती। हमेशा बादमें लगता है कि उस बातकी जगह अगर यह कह दिया होता तो कैसा मज़ा आता। 'निगाहोंका पलटना' भी यों काफ़ी ठीक था; लेकिन अगर उस जगह 'निगाहें चुराना' करती तो और भी अच्छा होता। उसमें उस लड़की रश्मिकी वकालत भी हो जाती। लेकिन क्या सचमुच उसकी वकालतकी ज़रूरत है ? वह कम्बख़्त इन्हें इस प्रकार लटकाये क्यों हुए है ? यह प्यार है ? यह तो वाक़ई बनियेबाज़ी हुई कि जहाँ अच्छा देखा वहीं चले गये।

लेकिन यह भी तो ऐसे बँटे हुए हैं। मुझे तो यह बहन-वहनका मामला भी कुछ ऐसा ही लगा। कौन है यह इनकी बहन ? कभी शिमला जाती है कभी मद्रास ? और ये हैं कि अनोखेलाल—या चोखेलाल क्या नाम था राम जाने उसका—उसके लिए सिनेरियो लिख रहे हैं। आधी तनख्वाह दे देता है। क्या दे देता होगा ? यही, ज़्यादा-से-ज़्यादा डेढ़-सौ…कहीं ऐसा तो नहीं है…ऐसा तो नहीं है…और अगली बात सोचकर मुसकरा पड़ी। गुनगुनाने लगी :…चोखेलाल,…अनोखेलाल,…मोखेलाल… झरोखेलाल…।

सामनेसे दो-तीन मज़दूर सिरपर मुड़ासे बाँधे, नंगे बदन गैंती और कुदालियाँ लिये चले जा रहे थे। कुछ गा रहे थे। जब एकने दूसरेको कुहनी मारकर कुछ इशारा किया तो मुझे सहसा होश आया कि शायद वे मेरे मुसकरानेका ग़लत अर्थ तो नहीं लगा रहे। कटकर रह गई और तमतमाये मुँहसे दूसरी ओर देखती हुई एकदम पार्कके बीचसे ही मुड़ पड़ी। यह शॉर्ट-कट भी था। सामनेके मकानके पीछे ही तो मकान था। फिर अचानक तबीयत बड़ी उदास और सुस्त हो गई। मन होता था कि कोई कुछ न बोले, घर जाते ही लेट जाऊँ और आजकी बातोंपर खूब सोचूँ…खूब सोचूँ। अज़ीब भोंदू क़िस्मका आदमी है, एकबार भी पीछे मुड़कर नहीं देखा ! नहीं, देखा तो ज़रूर होगा। ऐसा नहीं हो सकता। इन पुरुषोंकी यह भी तो आदत होती है न, कि जब भीतर-ही-भीतर बुरी तरह खिंचते रहेंगे तो ऊपरसे ऐसा दिखायेंगे जैसे इन्हें दुनियासे कोई मतलब ही नहीं है। एक तलखी और झुँझलाहट महसूस हो रही थी। सचमुच मेरी कहानीपर तो कुछ नहीं बोले, बस अपनी ही अपनी धांगे गये…। ये लोग भी बड़े आत्म-निष्ठ होते हैं…अपनी किताबें, अपने विचार, अपना जीवन…बस, सब कुछ अपना ही अपना…… ।

संध्या : १६ जून

आज एक बड़ी मज़ेदार बात हुई। नहा-धोकर बाथ-रूमसे निकली तो देखा कि बिट्टू साहबने मेरी सबसे प्यारी तेलकी शीशी तोड़ डाली है। यह शीशी मुझे इतनी प्यारी थी कि तेल ख़त्म हो जानेपर भी मैं उसे रक्खे हुए थी। दिमाग़में आग ही तो लग गई। भन्नाई हुई बाहर गई। देखा कि नौकर साहब बाज़ार गये हैं। मुझसे कन्नी काट रहा है, यह मैं जान गई। अक्काके सामने खूब भुनभुनाई। कह दिया कि आते ही अगर मेरे पास नहीं भेजा तो ग़दर कर दूँगी। सोचा; आज उसे अच्छी तरह झाड़ना है। अगर तुझे कमरा साफ़ करनेकी तमीज़ नहीं है तो मत साफ़ किया कर, हम खुद कर लेंगे। किसी काममें मन नहीं लगा। जैसे यही एक काम था जो दिमाग़पर छाया था कि पहले इसे पूरा कर लूँ तो फिर कुछ करूँ। मैं कुर्सीपर तनी उसकी प्रतीक्षा करती रही, भुनती रही। हर बार कुछ-न-कुछ करता रहता है। रहे या जाय; लेकिन इस बार तो ऐसी ख़बर लूँगी कि सारे होश दुरुस्त हो जायेंगे। सहसा एक बड़ी अज़ीब कल्पना मनमें आई : मान लो परदेपर किसीकी छाया देखकर मैं समझूँ कि बिट्टू आया है, फौरन डाँटना शुरू कर दूँ ; लेकिन पर्दा हटते ही देखूँ कि बिट्टू नहीं, यह तो उदय है। झेंपकर जीभ काट लेती हूँ, सारा चेहरा सुर्ख टमाटरकी तरह झलझला आता है। फिर दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं। उस समयकी कल्पनापर मैं मुसकरा पड़ी, तभी देखा कि पर्दा हटाकर बिट्टू आ गया है। बड़ी अनिश्चित-सी उसे यों ही देखती रही—कहीं सचमुच भूल ही तो नहीं कर रही ? गुस्सा जाने कहाँ गया। हँसकर बोली—"क्योंरे, तूने मेरी शीशी तोड़ दी, अब मुँह छिपाता फिर रहा है ?"

अपनी इस हरकतपर खुद आश्चर्य हो रहा था कि देखा, रेखा आ धमकी है। बिट्टू बेचारा डाँट खानेके लिए डरता, थरथराता आया

था। "आगेसे नई होयेंगा बाई।" कहकर भौंचक्का-सा चला गया।

"बड़ा रौब कर रक्खा है नौकरोंपर? बेचारा वहाँ काँप रहा था। अक्का कहती थी अभी उधर मत जाओ, सज्जीबाईका भेजा ख़राब हो रहा है।" रेखा बोली और सामनेके पल्लेसे हवा करने लगी: "बड़ी गर्मी है।"

"देख लो। अरे, रोबीले आदमी हैं तो रोब होगा ही। तेरे जैसे मिमियाते लोगोंका क्या रोब?" और मैंने बड़ी अदासे काल्पनिक मूँछोंपर बल दिया, फिर ज़ोरसे रेगुलेटरका कान उमेठकर कहा—"जब इसका दिमाग़ ख़राब होता है तो अक्का तकसे अकड़ जाता है; लेकिन क्या मज़ाल जो मेरे सामने आँख तक उठा जाय।"

"क्य ब्बात है। कुछ ऐसा-वैसा मामला तो नहीं है?" दुष्टतासे मेरे चेहरेको ताकती वह मुसकराई—"बम्बईमें यह सब भी चलता है।"

"मामला है तेरा सिर। हाँ, नहीं तो।" क्षणके एक अविभाज्य-खण्डमें मैंने बिट्टूकी उस रूपमें कल्पना की तो मन जाने कैसा-कैसा हो उठा। ज़ोरसे पलंगपर जा पड़ी और झटकेसे लटके पावोंसे स्लीपर उतार दिये। एक उछलकर बीच कमरेमें जा पड़ा। "आज तो मन करता है, कहीं न जायें, बस लेटे रहें।"

"आज-कल बड़ी मस्ती आ रही है। क्या बात है? बता न? हमसे तो सब पूछ लेती है, अपनी कोई बात नहीं बताती। उस दिन उदयके साथ बड़ी ग़प्पें लड़ाई थीं न?" पलंगपर मुझसे सटकर ही रेखा बैठ गई। जब मेरे ऊपर लदी तो खुली खिड़कीके आधे पर्देके ऊपरसे झाँकती बोली—"देख तेरे पड़ौसी साहब खड़े-खड़े बाल्कनीसे झाँक रहे हैं। ला, खिड़की बन्द कर दूँ।"

"तू उधर देखती ही क्यों है? अरे, झाँक भी लेने दे बेचारेको, अपना क्या जाता है? उन्हें यों सन्तोष मिलता है तो यों ही सही।" मैं थकी-थकी अधमुँदी आँखोंसे देखती बोली। "ये कह ना, कि उन्हें

झाँकते तो बाहरसे ही देख लिया था अब जूड़ेका पोज़ देकर लटकाये हुए है ग़रीबको। ऐसी बेशर्मीसे लदी पड़ी है और कोई देख रहा है यह भी उसीका दोष है?"

मेरे रोकते-रोकते भी उसने एक किवाड़ भेड़ ही दिया और अपनी दोनों हथेलियोंमें मेरी कनपटियाँ दबाकर झट मेरे होंठ चूम लिये: "तो ले!"

"बस?" मैंने उसी नशीले ढंगसे आधी-आधी आँखोंसे उसे देखकर बेशर्मीसे कहा और अपनी निगाहें किसी तरह एकटक साधे रही, लेकिन बेबस खुद ही लजा गई। गाल गरम हो आये। उसीके पल्लेसे गाल और ओंठ पोंछकर कहा—"जाने किस-किसकी जूठन लगा दी आकर?" उसने ज़ोरसे मुझे भींचकर कुहनी पसलीमें गड़ा दी तो गुदगुदीसे मैं तिलमिला कर रह गई।

लेकिन तभी डाँट न खानेकी खुशीमें बिट्टू साहब दो प्लेटोंमें नाश्ता लगाये खुद ही ले आये। हमलोग सीधी बैठ गईं। एक अस्वाभाविक क़िस्मकी गम्भीरता वातावरणपर लद गई। थोड़ी देर चुप-चुप खाकर उसने पूछा—"बता न, उस दिन कहाँ गई थी?"

"भई, आ तो तेरी ही तरफ़ रही थी। लेकिन रास्तेमें वो मिल गये उदय जी।" मैंने अत्यन्त ही तुच्छ घटनाकी तरह कहा।

"बहुत उदयजीसे मिलने जुलने लगी है। ज़रा सँभलकर रहना। इन साहित्यिक, कलाकार लोगोंसे ज़रा बचकर ही रहना ठीक है। बड़े खतरनाक होते हैं" भौंहें उठाकर ऊपर मेरी ओर देखती वह खानेके लिए प्लेटकी ओर झुकी—"सारी बातें ही बातें होती हैं, इन लोगोंकी।"

उसकी बातने मुझे भीतरसे एकदम सुन्न कर दिया। अपने पिछले दो-तीन अनुभव एक साथ सामने आ गये। सच पूछो तो अन्तर्तममें यही भय कहीं मुझे भी था। फिर जैसे मनमें समाई उस सचाईको दबाती-सी बोली—"नहीं, ये बेचारे तो ऐसे नहीं लगते।"

"देखनेमें तो सब बेचारे ही लगते हैं। चिपक जाते हैं तो जान छुड़ाना मुश्किल हो जाता है। मंदाके साथ हुआ न? मौत और मुहब्बत का रोना रोनेवाले कविजी उसे नया जीवन देने पहुँच गये। दुनिया-भरकी ज़लालत और बदनामी उठानी पड़ी और अब सुनते हैं कि अपने दोस्तोंमें बैठकर वे उस 'बेवकूफ़ लड़की' के खत पढ़ते हैं और ठहाके लगाते हैं।" वह कहीं दूर देखती रही और निचला होंठ झटककर बोली। साँझकी किरणें बाल्कनी पार करके पर्देकी आड़से सर्चलाइटकी धारीकी तरह हमारे पीछेको दीवार तक आ रही थी। उसमें नीले, गुलाबी सैकड़ों रेशे चमकते दिखाई दे रहे थे।

"नहीं भाई, देखो, उसमें ग़लती मंदाकी भी थी। या तो फिर आदमी अपने संबन्धोंके बारेमें बहुत ही साफ़ हो कि यहाँ तक रहना है, इससे आगे नहीं बढ़ना, बढ़ने देना। अब मंदा तो 'कविजी'की 'प्रेरणा' भी बनने लगी न। मैं माने लेती हूँ कि जाल उसीने डाला, लेकिन तुम खुद क्यों 'मेरे कवि' 'मेरी कल्पनाके नीड़' टाँक-टाँककर लम्बे-लम्बे खर्रे लिखती हो? और जब लिखती हो तो, भुगतो।" मैंने प्लेट एक ओर सरका दी।—"जब कि उसे यह भी पता था कि कविजी विवाहित भी हैं।"

"अरे, उसे भी तो सोचना चाहिए था कि उसका ज़रा-सा ढीलापन किसीकी ज़िन्दगी भी बिगाड़ सकता है। बननेको तो 'नये युगके अग्रदूत', ये और वो जाने क्या-क्या बनते हैं। अब बेचारी पता नहीं जाने कहाँ चली गई। पहले तो पंचगनी थी।" उसने भी झुककर पलंगके नीचे खाली प्लेट रखते हुए कहा—"अच्छा छोड़, हाँ तो क्या-क्या प्रेमवार्ता हुई अपने उदयजीसे?"

मंदाके प्रसंगने मुझे भीतर तक सिहरा दिया। मान लो, यह हालत किसी दिन मेरी हो जाये तो? नहीं, नहीं! आत्महत्या करके मर जाऊँगी। लेकिन नहीं, उदयको इतनी लिफ्ट नहीं देनी। उसकी बात न सुनकर मैं मानो अपने भीतरके भय और सवालको जवाब देती बोली—"लेकिन

एक बात तो तू मानेगी कि इन लोगोंमें जो गद्य-लेखक हैं वे कवियोंके मुक़ाबिले ज़्यादा प्रैक्टिकल होते हैं। उन्हें बहुत सोचना और दुनिया देखनी पड़ती है न।"

"यह माना। लेकिन वे क्या पुरुष नहीं हैं?" हारकर या ऊबकर वह बोली।

"तो ठीक है। उनसे बचा भी कहाँ तक जा सकता है? उस वक़्त जब क़िले जैसे बड़े-बड़े महलोंमें औरतोंको क़ैद कर दिया जाता था, तब भी यह सब होता था। मान लो, कवि और लेखक न भी रहें तो पुरुष ही नहीं रहेंगे? प्रोफ़ेसरोंमें कम हैं? और तो और, जो सारी नैतिकता और आदर्शों-का ठेका लेकर बैठे रहते हैं, उन धार्मिक महन्तोंमें ऐसे लोग नहीं हैं? ये कहो कि एक वर्ग ज़्यादा बदनाम हो गया है, लेकिन होता सभी जगह वही है, किसी भी वेशमें हो। मुझे एक भी जगह बता दो जहाँ स्त्री-पुरुष मिलते हों और यह न होता हो? कला और कविता छोड़ दो तो मुझे बता, साइन्सके लोगोंमें, दर्शनके विद्यार्थियोंमें यह सब नहीं होता?" मैंने मुँहको गंभीर बनाकर कहा— "मुझे लगता है रेखा, कि हम लोगोंके सोचनेमें कहीं बहुत भारी ग़लती है। या तो यह मान लिया जाय कि स्त्री-पुरुषका मिलना और उनमें इस तरहके सम्बन्ध पनपने देना ही ग़लत है, चलो छुट्टी हुई। दुनियाके हिन्दुस्तान-पाकिस्तान जैसे दो विभाजन बना दिये जायें और स्त्रियाँ अपने राज्यमें किसीको आने ही न दें। या फिर हमें अपनी अच्छाई-बुराईकी परिभाषाएँ बदलनी पड़ेंगी। नर्सों और डाक्टरोंके लिए तो शारीरिक आकर्षण कोई रहस्य नहीं रह जाता; लेकिन क्या उन लोगोंके बीचमें यह सब नहीं होता?"

"अच्छा बाबा, हम हारे।" उसने झट माथे तक हाथ जोड़ दिये। "क्या-क्या बातें हुईं यह बताना हो तो बता, ये उपदेश तो दे मत।"

"बातें क्या? कोई एक बात हुई हो तो बताऊँ भी। दुनियाभरकी बातें हुईं, जाने कहाँ-कहाँकी।" मैं फिर उनकी बातें मन-ही-मन दुहराती

रही। ईरानी होटलसे चन्दनवाड़ी तक उनके साथ जाते हुए अपनेको देखती रही। फिर खुद ही हँसकर बोली—"तेरी बात ठीक न भी हो तो भी यह करैक्टर बड़ा अजीब है। मैं तो सोचती हूँ, होगा सो देखा जायेगा, इसपर कुछ लिख डाला जाय।"

"कैसे?" वह पीछे दोनों हाथ टेककर उनपर झुक गई।

"कैसे क्या। अब देख, हमारी दूसरी या तीसरी मुलाक़ात है। मैं आ तो तेरी ही तरफ़ रही थी कि मिल गये रास्तेमें। इधर ही आ रहे थे। बहाना बनाया कि इधरसे जा रहा था सोचा कि ये कहानियाँ ही देता जाऊँ। झूठ बात। घरसे ही मेरे यहाँ आनेकी सोचकर निकला होगा। एक तो यह कि मैं इतना महत्त्वपूर्ण हूँ, मैं इतना लोक-प्रिय हूँ, मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ। यह सब 'शो' करनेकी बड़ी आदत है। यह तो खैर, लेखककी कमज़ोरी होती है और इन बातोंकी तरफ़ मैं ध्यान नहीं देती। उनकी बातोंसे यह सब माइनस करके सुनती हूँ। गट्ठरभर चिट्ठियाँ लिये रहते हैं कि यह पिछले हफ्ते मेरे उपन्यासपर आई हैं। कोई है जिसे ये अपनी बहन बताते हैं। पता नहीं कौन है। जब देखो, बस उसीकी बातें करते हैं। बहनके हस्बैण्ड शायद किसी बहुत ऊँची जगह हैं, सो वह कभी रेस देखने मद्रास जाती है कभी शिमला। अच्छा, दूसरी तरफ़ उनके उपन्यासकी जो रश्मि है, वह सच्चा करैक्टर है···"

"स···। च?" रेखा उठकर सीधी बैठ गई। आश्चर्य और पुलकसे उसका मुँह खुला रह गया। "कुछ कहो, वो चरित्र तो सचमुच बड़ा ही सजीव उतरा है। पढ़कर ही लगता है कि वह चरित्र सच्चा है। है कहाँ वह? उसे तो देखना चाहिए।"

"उसी किसी तरफ़का है। बड़ी देर तक बताते रहे कि कैसे उनके दिमाग़का वह एक ऐसा द्वन्द्व है जो पिछले आठ-दस वर्षोंसे साथ लगा है। यहाँ आकर रहनेकी समस्या अलग है ही। बम्बईमें रहना कोई आसान है?" मैं सहानुभूतिसे बोली: "बेचारा दुःखी है।"

"अरे, कोई जनम-पत्रीमें लिखा है कि बम्बई ही रहना चाहिए। अपने घर जायें। एक तरफ़ तो ऐसे तटस्थ लेखक और विचारक बनते और दूसरी तरफ़ ऐसी भावुकताकी बातें करते हैं।"

"तो आखिर वहाँ भी तो कुछ करना ही होगा न? दूसरे शायद अर्थाभावने उन्हें अलग-अलग रूपोंमें ऐसा नीचा दिखाया है कि वह दिखा देना चाहते हैं कि मैं हरेकके सामने हाथ फैलानेवाला भिखारी नहीं हूँ। यह मेरा ख़याल है, हो सकता है ग़लत हो।"

"और लिखना?"

"लिखना बादमें होगा शान्तिसे बैठकर।"

"बस, हो गया।" रेखाने मुँह बिचका दिया और ऊपर एरियलकी तरह, उस दीवारसे इस दीवार तक तनी तारोंकी जालीदार पट्टीको ताकती रही: "उन्हें कह देना, मेरी तरफ़से कि ऐक्सपोर्ट-इम्पोर्टकी दलाली करें फ़र्ममें, और भूल जायँ कि लेखक हैं।"

"तू कुछ कह।" मैं कहती रही: "पहले यह आदमी मुझे भी बड़ा उद्दण्ड और किसी हद तक बदतमीज़ लगा था, लेकिन अब कुछ-कुछ दया आने लगी है। मुझे लगता है इसके और रश्मिके सम्बन्धोंके बीचमें कहीं वह अपर्णा भी है। दोनोंको लेकर ही यह द्वन्द्व है! मानलो, अगर उनके कहनेको ही सच माना जाय तो अपर्णा तो विवाहिता है।" मैं परेशान-सी हो उठी।

"और मैं क्या रो रही हूँ कि इन लेखकोंके लिए विवाहित होनेका तो जैसे प्रश्न ही नहीं है। किसीके घर आग लगे, इन्हें तो अपने 'दिल फेंकपने'से मतलब है।" वह फिर उत्साहमें भर गई और सहसा उठकर हैंगर-पर टँगी साड़ीकी ओर लपकी। साड़ीके नीचेसे ब्लाउज़ निकाल लिया: फिर उसे हाथमें लिये-लिये मेरी ओर मुड़कर बोली: "सबसे झमेलेकी बात तो यह है कि बहन जब ऐसी खाती-पीती है तो क्यों नहीं उससे कुछ ले लेता?"

"अजब बात करती है।" मैं झुँझला उठी—"यों लेना हो तो और लोग कम होंगे ? फिर असली बहन तो नहीं है, ना।"

"अच्छा कुछ सही, बहन न सही दोस्त सही। लेकिन उसे खुद खयाल नहीं है ? आखिर किस बातकी 'बहन' या दोस्त है फिर ? यों तो 'उदय जी' 'उदय जी' करती होगी, वैसे यह भी नहीं कि तुम रहते, खाते कहाँ, कैसे हो ?" वह मेरी ओर पंजा फैलाकर उतने ही तेज़ स्वर में बोली।

मुझे एकदम ग़ुस्सा आ गया। अजीब चर्खा लड़की है। अभी उदयकी बुराई कर रही थी और अब उनका पक्ष लेकर लड़ने लगी। "तुझे मालूम है उनलोगोंके आपसमें सम्बन्ध कैसे हैं ? हो सकता है, यह सब इनका अपना ही फ़ितूर हो और उधरसे ऐसा कुछ न हो।"

"अच्छा हाँ, हमें नहीं मालूम बस। हम तो यों ही ऊल-जलूल बकते हैं। तू भैया, उनसे खूब मिल-जुल, वहीं जाकर रहने लग। कहे तो अक्कासे कह दूँ ? पहले उसके पास दो थीं, अब तीसरी तू और हो जायेगी।" वह रुँआसी-सी हो आई, लेकिन अपनी बातपर अड़ी रही—"तुझसे कोई बात कहो, हमेशा-हमेशा ग़लत मतलब लगायेगी। इसी तरह उस दिन ड्रामेकी बातपर मिस भागवतके सामने ऐसी बातें करने लगी।"

"अजब लड़की है री, तू" आश्चर्यसे मेरा मुँह खुला रह गया—"ये तुझे क्या हो गया ? खुरदरी खाटपर सोकर चली आरही है क्या ?" मैं चाहती तो बात आगे बढ़ सकती थी, लेकिन उसके बार-बार विरोध करनेपर भी मैं झट उससे लिपट गई। उसे बहलाने और इधर-उधरकी बातें करनेमें काफ़ी समय लग गया। उसने कई बार कहा—"चल, ज़रा समुद्रकी तरफ़ चलें न। यहाँ क्या घुसी बैठी है ?" लेकिन मैंने बार-बार रोक दिया। मन नहीं कर रहा था। बातोंमें पता चला कि उसके भावी पतिदेवके पिताने कुछ ऐसी उलझनें पैदा कर दी हैं कि शादी शायद न

हो पाये। रास्ता सिर्फ़ यही बचा है कि ये आपसमें चुपचाप सिविल मैरेज कर डालें। फिर घरवालोंको बता दें। सो उसी सबका ढंग पूछने वह आई थी, कि क्या मैं एक गवाह बन जाऊँगी? और मैं ले बैठी उदय-पुराण। बार-बार अपनी बातें सुनाते हुए उसे कहना पड़ा था कि 'तू सुन नहीं रही है ध्यानसे।' तब मैं चौंककर कह उठती—'हाँ, हाँ, मैं सुन रही हूँ, तू कहती जा।' मैं पलंगके सिरहाने अधलेटी उठी, अपनी एक टाँगको दूसरीपर रखकर धीरे-धीरे हिलाती, पाँवके अँगूठे-पर निगाहें जमाये अपनी बातें सोचती रही या उसकी सुनती रही, कह नहीं सकती! ऐसी समस्या, हो सकता है मेरे सामने आ जाय, तो? मैं क्या करूँगी? फिर पता नहीं, वह क्या बता रही थी कि मुझसे अपनी बात कहे बिना नहीं रहा गया। मैंने बात काटकर एकदमसे कहा : "एक बात मेरे दिमाग़में बार-बार अक्सर आती है।"

"क्या?" वह आशाभरी आँखोंसे मुझे देखती बोली।

"तूने वो कहानी पढ़ी है जिसमें एक नौकरानी निहायत कुरूप और और भद्दी है। शायद ही दुनियामें उसे कोई प्यार करता हो। लेकिन वह हमेशा ही ऐसा जताती रहती है मानो, आज उसके पतिने उसे मारा है, आज उसका पति उसपर खुश है। वह हमेशा पतिको ही लेकर डूबी-डूबी रहती है, और उसीपर खुश है। बादमें पता चलता है कि उसका न कोई पति है, न आदमी। बिलकुल अकेली है। अपनी कुरूपताके कारण जो कुछ वह अपने जीवनमें नहीं पा सकी, काल्पनिक रूपमें हमेशा अपनेको उसमें डुबाये रखकर वह आस-पास ऐसा माहौल बनाये रखती थी। कहीं यह भी तो ऐसा नहीं कर रहे?"

"कौन?" रेखा कुछ हत-प्रभ हो गई।

"यही उदय।" मैं जल्दीसे बोली—"हो सकता है यह सब कुछ न हो, और अपनी आर्थिक-सामाजिक-परिस्थितियों वश वह जो कुछ न पा सके, उसे ही उपन्यास-कहानियों जैसे काल्पनिक पात्रोंमें बहलाये रखना

चाहते हों—लोग कभी-कभी वह सब दिखाकर दूसरोंको प्रभावित करना चाहते हैं जो वे खुद नहीं होते। हम एकके यहाँ गये, तो मालिक साहबने छूटते ही पाँच नौकरोंको आवाज़ दी—'अटरू, मटरू, कालू, भोलू' और जब चार-पाँच दहाड़ें सुनकर भी कोई नहीं आया, तो उन्हें गालियाँ देते खुद ही जाकर हमारे लिए पानी लाये। ये मुझपर यही सब कहकर तो सिक्का नहीं जमाना चाहते कि इनकी जान-पहचान कितनी लड़कियोंसे है…"

मैं अपने प्रवाहमें बात कहती ही जाती अगर हतप्रभ होकर बुझ जानेके बाद रेखा बैठे-बैठे ही पाँव ऊँचे करके सैण्डिलके फीते न बाँधने लगती। वह सहसा उठ खड़ी हुई: "अच्छा अब चलें। तेरा तो दिमाग़ आजकल ठीक नहीं है। उसमें तो उदय भरा है।" मैंने देखा कि उसने दाँत पीसे।

मैंने उसके खिंचते हाथको न छोड़कर कहा: "अच्छा, मान लो मैं इस प्लॉटपर एक कहानी लिख डालूँ तो कैसा रहे? सचमुच बड़ा अद्भुत चरित्र है यह। कहानी ऐसी ज़ोरदार बनेगी कि लोग चकित हो जायेंगे। फिर उन्हें ही दे दूँगी कि पढ़कर अपनी राय दें।"

"तू गई हाथसे।" वह अथाह दयाका भाव दिखाकर बोली—"तेरी तो हालत ही ख़राब है।"

ताली बजाकर मैं एकदम उछल पड़ी। आँखोंके आगे ऐसा अद्भुत प्लॉट नाच रहा था कि मैं खुद चमत्कृत हो उठी। "रेखा, मज़ा आ-गया। ऐसी कहानी लिखूँगी कि तहलका मच जायेगा। ये उपन्यासकार दुनियाभरको अपने उपन्यासोंमें घसीटते हैं, ज़रा इनकी भी तो ख़बर ली जाय।" यह मेरी पुरानी आदत है। जब भी कोई प्लॉट दिमाग़में आता है तो ऐसी तेज़ीसे उसका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विवरण आता चला जाता है कि मैं खुद ही चकित-विमूढ़ रह जाती हूँ। जैसे कोई फुलझड़ीकी चर्खी घूम रही हो। उसीमें मैं ऐसी डूबी थी कि रेखा नाराज़ होकर जा रही है, यह

मुझे भीतर पता था, लेकिन सोच लिया कि बादमें मना लूँगी—"एक तुम कहानी लेखिका, दूसरा उपन्यासकार—आपसमें एक दूसरेपर निशाने साधो। हम चले बाबा।"

और वह चली गई। लेकिन दरवाज़ेसे फिर लौट आई, बोली—"सुजाता मान जा, यों भटकनेमें कुछ नहीं रक्खा। तू शादी-वादी करले।"

वह फिर लौट गई। 'हुँह।' मैंने सुनी-अनसुनी करके मुँह बिचकाया। जैसी खुद है, वैसा ही दूसरोंको समझती है। मेरे और इसके सम्पर्क में आनेमें अन्तर है। रह-रहकर मुझे एक उन्मद उल्लासका आवेग-मय उच्छ्वास ऊपरसे नीचे तक सिहरा जाता। सारी दुनियाका खाका खींचनेवाला उपन्यासकार, मेरे उपन्यास या कहानीमें अपने सही रूपमें आयेगा। और नारीसे अधिक गहराईसे, अधिक आत्मीय-सचाईसे पुरुषको चित्रित कौन कर सकता है? एक ऐसा कल्पनाजीवी पुरुष, जिसके आस-पासके अभावोंने उसे कल्पनाको ही सत्य समझनेको मजबूर कर दिया है, और खुद उसे भी ऐसा ही लगने लगा है कि हाँ, ये चरित्र तो सचमुचके हैं। मुझे लगा, जैसे लाइब्रेरीमें जब मैंने पहले ही पहल इन्हें देखा था और जाना था कि ये किसी लड़कीको टेलीफोन कर रहे हैं, तभी यह प्लॉट अनकांशसरूपसे मेरे मस्तिष्कमें टकराया था, और जैसे मैं अनजाने ही तभीसे उनका उसी दृष्टिसे अध्ययन करती रही थी। 'बहुत दिनों बाद फँसे हो बच्चू। बहुत तुमने हमें अपनी हरकतोंसे परेशान किया है। जैसा मन हुआ चित्रित कर डाला। अब देखना ज़रा अपनी सूरत। तिलमिला उठोगे।' जब मैंने अपने भीतरकी इस आवाज़को सुना तो अपने बच्चों-जैसे पागल उल्लासपर खुद ही बुद्धिमानीसे मुसकरा उठी। मैंने साफ़ महसूस किया कि यह कहानी इसलिए भी मेरी सर्वश्रेष्ठ कहानी होने जा रही है कि आजतक एक भी कहानीका प्लॉट मैंने ऐसी अद्भुत तीव्रता और चकाचौंधसे महसूस नहीं किया। इस कहानीके सामने तो जैसे मैं

मजबूर हुई जा रही हूँ। जैसे कोई मुझे क़लम लेकर बैठनेको धकेल रहा हो और मैं टाल रही हूँ। मनमें एकदम प्रकाश-सा भर गया है।

नहीं, आवेशमें आकर मैं अपनी कहानीको बिगाड़ूँगी नहीं। इतना अच्छा प्लॉट यों खराब करनेको नहीं है। मैं बड़ी गम्भीरता और सावधानीसे उनकी एक-एक हरकतका अध्ययन करूँगी। आज मुझे बैठ-कर अपनी कार्य-प्रणाली तय कर लेनी है। कैसे मेरा अध्ययन प्रारम्भ होगा? मैंने उनसे मिलनेके कई प्रोग्राम बनाये, ऐसे भी जहाँ कुछ समय बातचीतका अवसर मिले···थोड़ी-बहुत छूट भी तो देनी होगी।··· बिना चारा डाले कबूतर पास कैसे आयेगा···? अपने पर कैसे गिनने देगा?···पहले तो उसे थोड़ा विश्वासमें लाना होगा न···! मूर्ति बनानेके लिए मिट्टीमें थोड़े हाथ भी तो सानने पड़ते हैं।···लेकिन···लेकिन है खतरनाक ही···ज़रा-से-में कुछ हो-हवा जाय? इस समय अपने औरत होनेपर बड़ा क्रोध आया···। एक बड़ी असम्भव सी कल्पना दिमाग़में आई। ऐसा नहीं हो सकता कि औरत होते हुए भी न रहूँ; किसी डाक्टरी विधि-से? अगर ऐसा हो जाय तो बे-खटके पुरुषोंके ऐसे-ऐसे गूढ़ चरित्रोंका उद्घाटन करूँ कि शायद ही दुनियामें किसीने किये हों···। फिर अपनी इस असम्भव कल्पनापर खुद ही हँसी आई। खैर, जो भी हो, अध्ययन तो करना ही है। ड्रामेके बाद ही मिलूँगी,—हो सकता है साथ ही जाऊँ···। उस समय रात भी रहेगी···। लेकिन कहीं पापाने कह दिया कि चैम्बरसे लौटते वक्त मैं ही लेता आऊँगा, तो? देखेंगे।

और पहले उदयको पुरुष और अपनेको नारी मानकर जो संकोच मनमें भरा था, वह जैसे एकदम गायब हो गया। मैं अध्येता हूँ, वह मेरे अध्ययनका विषय। संकोच और झिझकसे कैसे काम चलेगा? नहीं, बिलकुल ही तटस्थ और भावनाहीन होकर मुझे अपने विषयोंका अध्ययन क[illegible] उन्हींमें एक मान लूँगी तो कैसे होगा!—और इस निश्चयके बाद जैसे मेरे दिल-दिमाग़का एक बोझ अपने आप उतर

गया। एक निश्चिन्तता आ गई है। चलो, यह एक बेकारका दिमाग़ी बोझ और द्वन्द्व भी समाप्त हो गया...।

लेकिन कहीं इस बहाने मैं अपने और उनके मिलनेको लेकर मनको ही तो नहीं समझा रही ?...कहीं रेखाकी हो बात तो ठीक नहीं है कि यह सब भटकन ही हो...? नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं है। हम हत्यारेका अध्ययन करते हैं तो न तो ख़ुद हत्या-पात्र होनेके लिए, न ख़ुद हत्या करनेके लिए...। तो फिर इस विषयमें मुझे अपने अध्ययनके सारे नोट्स ले लेने चाहिए...कहीं दिमाग़से उतर-उतरा जायँ...लेकिन है यह ख़ूब। सेरको सवा सेर मिला है !

अपनी इस बातपर मैं सन्तोषसे मुसकराई। और तब जैसे चौंककर देखा कि मैं अंधेरेमें खिड़कीके सहारे खड़ी हूँ और बाहर रोशनियोंकी दीवाली झिलझिला उठी है...

बृहस्पति : २० जून

दिमाग़पर नाटक छाया है। हरवक़्त 'ध्रुवस्वामिनी' मनके आगे तैरती रहती है। कॉपी लेकर डॉयलॉग रटते-रटते अक्सर ऐसा लगता है कि मेरा यह विशेष वाक्य सुनकर उदयको कैसा लगेगा ? हरवक़्त ऐसा महसूस होता रहता है जैसे मैं स्टेजपर अभिनय कर रही हूँ और उनकी आँखें मुझे देख रही हैं। मेरी कहानीको मोपासाँकी नक़ल बताते थे। हुँह:, अभिनयको जैनीफ़र जोन्ससे प्रभावित बतायेंगे। ज़रा इस नाटकसे छुट्टी मिल जाय, फिर देखूँगी कितनी गहराई है...। न एक-एक रेशा उधेड़कर रख दिया।...ऐसा विश्लेषण करूँगी कि दंग रह जायें...एक-एक लाइन पढ़ेंगे और अपनी तस्वीर देख-देखकर दाँतों तले उँगली दबायेंगे...। लेकिन बेचारा दयनीय प्राणी... ।

उस दिनकी बातपर हँसी आती है, जब मैंने पर्देसे बिट्टूकी जगह उदयके निकलनेकी कल्पना की थी।

रविवार : २३ जून

रिहर्सल ! रिहर्सल···रिहर्सल।···प्राण निकल गये। आज ड्रामा है और मेरे तो हाथ-पाँव फूले जा रहे हैं। कैसे करूँगी···? कहीं नर्वस हो गई तो बड़ी बदनामी होगी। उदय क्या कहेंगे···? कहेंगे, वैसे तो बड़ी बहादुर बनती थीं···वहाँ ऐसे हथियार डाले कि रो पड़ीं···! अभी अभी गलतीसे अपनेकी जगह रामगुप्तके डॉयलॉगका पूरा पैरा रट डाला तो दिल और बैठ गया···हाय, संध्याको क्या होगा? अगर सब संभल जाय तो महालक्ष्मीपर जाकर सवा रुपयेका प्रसाद चढ़ाऊँगी··· । किसी धार्मिक भावनासे नहीं, यों ही संकल्पके लिए। इन चीज़ोंका चाहे धार्मिक महत्त्व न हो, तब भी ये सब मनको मज़बूत करनेमें बहुत मदद देती हैं! मैं क्यों नहीं सोच पाती कि मैं उसी युगमें जी रही हूँ, कि मैं सचमुचकी 'ध्रुवस्वामिनी' हूँ ? और तो कोई बात नहीं है, उदयके ऊपर पड़ा हुआ सारा इम्प्रेशन बिगड़ जायेगा।···हे भगवान्! ··मैं क्या करूँ?

सोमवार : २४ जून,

उन्हें देखते ही मैं भड़क उठी : "ये क्या हरकत है? आपको कल···" फिर 'हरकत' शब्दपर ख़ुद ही जीभ काट ली। यह शब्द मेरे न चाहनेपर भी मुँहसे निकल गया था। कहीं बुरा न मान जायें। लेकिन खिला चेहरा देखकर लगा कि या तो मेरी बात सुनकर वह ख़ुश ही हुए या इस ओर ध्यान नहीं दिया। सारे मुँहपर हजामतका साबुन लगा था।

मेरे अटक जानेपर भी वे अगली बात सुननेकी आशामें मुसकराते

रहे। चेहरेपर लगे साबुनको देखकर मैं खिलखिलाकर हँस पड़नेको हुई। जैसे बिलकुल सफ़ेद दाढ़ीको सरदारोंकी तरह पट्टीसे बाँध लिया हो। वे शायद अपनी इस हालत और मेरी इस उपस्थितिसे अचकचा उठे! उन्हें ख़याल भी नहीं होगा कि मैं यों अचानक उनके यहाँ जा टपक सकती हूँ। मुँहसे निकला : "अरे, आप? मैं···तो ख़ुद ही किसी तरह आपसे मिलकर माफ़ी माँगनेकी सोच रहा था। आइए, आइए···।"

"अभी तक तो आपका सोचा कुछ हुआ नहीं है।" हँफ़नीको रोककर किसी तरह मैंने साधिकार कहा और भीतर क़दम रक्खा। झिझक और संकोच किस बातका? मैं तो अपने विषय (ऑब्जैक्ट)-का अध्ययन करने आई हूँ। मेरे लिए तो वे एक निर्जीव पत्थर हैं, जिससे मुझे मॉडल बनाना है। दूर तक चला जाता, लम्बा-सा टीन पड़ा हुआ गलियारा था। उसीके तीसरे नम्बरपर पुराने काले-काले किवाड़पर चॉकसे बड़े सुन्दर-से अक्षरोंमें बना-बनाकर उनका नाम लिखा था—बस 'उदय'। आगे-पीछे कुछ नहीं, मानो 'नेमप्लेट' की कमीको अक्षरोंकी कलापूर्ण बनावटमें समय लगाकर पूरा करनेकी कोशिश की गई हो। नीचेवाली मंज़िलोंकी सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते हाँफकर रुकते हुए जाने कितनी बार मनमें आया : जाने किस आसमानमें रहते हैं। इतने ऊँचे मकानवालोंको तो लिफ्ट लगानी चाहिए।

बेंतकी हल्की-सी कुर्सीपर ज़रा अतिरिक्त बेतकल्लुफ़ीसे बैठते हुए (ताकि वह मनमें बहुत रईस समझकर संकोच न करें) कहा—"आपसे लड़ने आई हूँ। उधर कालबादेवी, या धोबी तलावकी तरफ़ किसी दोस्त-रिश्तेदारके यहाँ जाना होता है तो भले ही इतना सब ऊँचा चढ़ना पड़े। मैं तो भैया, इसी डरके मारे उधर जाती तक नहीं हूँ। कौन छः-छः मंज़िल चढ़े। आपने यहाँ भी ऐसा ही मकान खोज निकाला।"

उदय जल्दीसे चेहरेका साबुन बचाते हुए बनियानके ऊपर कुर्त्ता

डालते बोले : "अरे भाई, सभी कोई शिवाजी पार्कमें तो नहीं रहते। और जब यहाँके लोग वहाँ चले जायेंगे तो वहाँ भी यही हालत हो जायेगी। आप ही लोगोंको तकलीफ़ होगी। इसलिए हमें यहीं रहने दीजिए। आपलोगोंको भी शान्ति है।" फिर हँसकर परिहास किया : "उठ-कर थोड़ा ऊँचा आनेमें कष्ट होता ही है।" उन्होंने सामनेके किवाड़ बन्द कर दिये।

"हाँ, यही तो मैंने सोचा कि देखें तो सही आखिर कितनी ऊँचाईपर रहते हैं।" मैं अब सुस्थ हो आई थी।

"आपने वह चर्चिलकी मूँछों और राजनीतिवाला मज़ाक तो सुना ही होगा। बहुत-बहुत लोग एक साँसमें ही इस ऊँचाईको नापने आये। कुछ दूर सीढ़ियाँ गिनीं, और फिर ख़ुद हाँफ गये। आख़िर हमें ही उनकी सेवा करनी पड़ी।" वे अपनी बातमें गूढ़-सूत्र देनेके अन्दाज़से बोले। मुझे लगा यही बात उनके दिमाग़में कहीं मेरे ऐक्टिंग करनेको लेकर भी थी। उस वक़्त तो जवाब दे नहीं पाये थे, अब दे रहे हैं। वे कह रहे थे : "पानी-वानी दिखाऊँ थोड़ा-सा ? चाय तो मिलेगी ही; लेकिन पहले ज़रा थकान उतार लीजिए। मैं ज़रा इस लालटेनको साफ़ करलूँ ताकि आत्माकी ज्योति साफ़ चमकने लगे। इतनी देर और बदतमीज़ी-की माफ़ी चाहता हूँ।" उन्होंने कनपटियोंपर लगे साबुनकी ओर इशारा किया।

"नहीं, नहीं, कोई बात नहीं है।" मैंने कहा। उदयने दो-तीन पत्रि-काएँ मेरे सामने ला रक्खीं। मैं भी उन्हें सँभल जानेका अवसर देनेके लिए मुँहके सामने एक खोलकर पढ़ने लगी।

मुझे ऐसा लगा, मानो अपने इस अतिरिक्त उत्साह और परिहाससे वे यहाँके वातावरणकी ओरसे मेरा ध्यान पलट रहे हैं। गलेमें पसीना आ रहा था, सो मैंने बग़लसे पीठकी ओर लटका पल्ला निकालकर थोड़ी ऊँची करके कसकर गर्दन पोंछी और फिर कोयला झोंकनेकी तरह ही उसे

फैलाकर हवा करने लगी। पंखेके लिए इधर-उधर निगाहें घुमाईं तो देखा कि कमरेमें एक और कोई साहब भी बैठे हैं। मैं चौंक उठी।

अँधेरे-से कोनेमें लम्बी-चौड़ी खजूरकी चटाईके ऊपर बिस्तर बिछा था, उसका एक तकिया सिरहानेकी तरफ़ था और एक पायतानेकी तरफ़। तकियेकी अनेक-कोण रूपरेखा और बीचमें बने गड्ढेसे साफ़ था कि इसे बड़े प्यारसे आलिंगन-बद्ध किया गया है और इसपर कुहनी गड़ाकर बैठा गया है। कुहनी गड़ानेकी बातका ध्यान आते ही अपनी निरीक्षण-शक्तिकी याद आई। हाँ, सारे कमरेको मुझे मनमें भर लेना है, ताकि आगे चित्रण करनेमें कोई चीज़ छूट न जाय।

उदय बिस्तरके पास ही ज़मीनपर रक्खे शीशे इत्यादि हजामतके सामानके सामने आलथी-पालथी मारकर तनकर जा बैठे और फ़ुर्ती जतानेके लिए ऐसी ज़ोर-ज़ोरसे ब्रश चलाने लगे थे मानो रन्दा चला रहे हों। पता नहीं वे पतले-दुबले साहब कौन थे। सैण्डो बनियान और पतलून पहने झुके बैठे थे। जाँघपर कुहनी टेके हुए उन्होंने मेरी ओर ज़रा तिरछी-सी पीठ करके हाथपर अपनी ठोड़ी लाद रक्खी थी, वहीं उँगलियोंमें सिगरेट धुँआ दे रही थी। इससे उनकी कनपटीका थोड़ा-सा हिस्सा, मोटी-सी चश्मेकी कमानी लदा एक कान और बिखरे खुरदरे लम्बे बालोंवाला सिर दिखाई दे रहा था। ग़ौरसे देखा तो चौंक गई। अरे, ये तो समाधि लगाये शतरंजके सामने बैठे हैं। रोशनीसे आते ही एकदम दिखाई नहीं दिया। किसी चालपर विचार हो रहा था शायद। वहीं सामनेके आसनपर उदय हजामत बना रहे थे। उन साहबके पास ही नंगी ज़मीनपर एक क़लई की गोल-सी ऐश-ट्रे रक्खी थी। उसमें दिया-सलाईकी सींकें और सिगरेटोंके ऊपर तक ठुँसे ठोंगे बता रहे थे कि काफी मानसिक योगाभ्यास यहाँ हुआ है। चारों ओर देखा, पीछेकी ओर बिना पर्देकी दो खिड़कियाँ थीं। छत पक्की थी। सामनेके सायबानकी तरह लहरदार टीनकी नहीं। यह सबसे ऊपरकी मंज़िल थी। यहाँ सिर्फ़ इसी

तरहके कमरोंकी क़तार बनी होगी, यह मैंने आते समय दूर तक जाते सायबान, लोगों और सामने झूलती साड़ियोंसे देख लिया। चॉल थी। पूरी बिल्डिंगकी अपेक्षा ऊपरका हिस्सा नया बना लगता था। सफ़ेदी ताज़ी थी। मैंने यों ही दीवारसे उँगली छुलाकर देखी—पोर सफ़ेद हो गई। मैं जिस कुर्सीपर बैठी थी, सामने वैसी ही बेंतकी एक गोल-सी मेज़ थी, फिर वैसी कुर्सी। सामने बिना पल्लोंकी चौड़ी-सी आलमारीमें किताबें, काग़ज़ और पत्रिकाएँ भरी थीं। एकमें तेल शीशा-कंघा जैसा लगता था। पास ही एक छोटी-सी मेज़ और कुर्सी रखी थी और उसपर पहले फ़ाइलें, फिर काग़ज़-किताबें लदे थे। यहाँ लिखाई होती होगी। आलमारीकी एक चीज़ देखकर मैं चौंक उठी। ऊपरके खानेमें चायका पुड़ा और जैमकी शीशियोंके बीचमें रवीन्द्रनाथ और लेनिनकी तस्वीरें लगी थीं; लेकिन नीचे जो कुछ था वह एकदम अप्रत्याशित था। छोटी-सी हनुमान्‌जीकी एक पत्थरकी मूर्ति और उसपर पड़ा घी-सिन्दूर दूरसे ही ध्यान खींचता था। मुसकराकर मुझसे कहे बिना नहीं रहा गया: "अरे, ये हनुमान्‌जी आपके हैं?"

क़लम काटनेके लिए रेज़रको कुल्हाड़ीकी तरह उठाये, शीशेमें निगाहें गड़ाये, उदयने बिना गर्दन मोड़े तिरछी निगाहोंसे उधर देखा और मेरी बातका जवाब न देकर अचानक खाली हाथसे शतरंजकी बिसात खींचकर पलट दी, तो सारे मुहरे बिखर गये। बोले: "देख बे सिंह, या तो आप अपने हनुमान्‌जीको उधर बाहर रखिए, ताकि आते-जाते निर्विघ्न दर्शन कर सको; वर्ना मैं आख़िरी बार कहे देता हूँ कि कलसे मैं इससे कोयले और बादाम फोड़ा करूँगा।" फिर मुझसे बोले—"ये साहब, इन्हींके इष्टदेव हैं। इन्हींकी आराधना करते-करते आप बम्बईमें अभिनेता बनने आये थे और अभी तक पीछा नहीं छोड़ रहे। माथेपर सिन्दूर लगाकर जाते हैं कि पटेल-ज्वैलर्समें किसी डायरेक्टर-फ़ाइनैन्सरकी बिटियापर ही शायद वशीकरण चल जाय तो ऐक्टर बन जायँ।"

मेरा खयाल था कि उनकी इस बदतमीज़ी और इष्टदेवके प्रति यह रिमार्क सुनकर वे साहब बौखला उठेंगे; लेकिन या तो वे हार रहे थे या शायद कोई चाल टेढ़ी आगई थी और या फिर उन्हें इसका अभ्यास था। 'चलो पीछा छूटा' के भावसे उन्होंने कमर सीधी की और बिना मेरी ओर मुँह फेरे दोनों हाथ आसमानमें तानकर अँगड़ाई लेते हुए अजबसे स्वरमें कहा—"क्या बज गया यार ?"

"बजता क्या ! साढ़े आठ बज गये और तुम अपनी एक चाल ही लिये बैठे रहे।" उदयने जवाब दिया।

"हैं ऽ ऽ !" सिंह इस तरह उछलकर पलट पड़ा मानो किसीने पीठपर हंटर मारा हो—"साऽच, मज़ाक़ नहीं ? पार्टनर, आज तो देर हो जायेगी।"

"ला, तेरा परिचय करा दें।" उन्होंने बिना उनकी बातकी चिन्ता किये कहा : "ये हैं सुजाताजी, जिनका मैंने ज़िक्र किया था। इनकी तीन-चार कहानियोंने इधर हम लोगोंका अस्तित्व खतरेमें डाल दिया है।" फिर ये मेरी ओर देखकर बोले : "और आप हैं मिस्टर एम० सिंह।" दुष्टतासे उधर देखकर बोले—"अगर आज्ञा हो तो पूरा नाम बता दूँ ? श्री मुलायम सिंह। बैंजो बड़े ग़जबका बजाते हैं और आजकल शतरंजकी चालोंका गहरा अध्ययन कर रहे हैं, क्योंकि हरबार हारते हैं। बदला चुकानेके लिए वॉयलिन सीख रहे हैं। बस, बेर और केलेका साथ है।" मुँह बनाकर बताया—"हम अपने चिन्तनमें डूबे हैं कि पास ही सुनाई दिया, 'कैं ऽ ऽ ऽ' लीजिए साहब, इनका अभ्यास शुरू—'सुनो गजर क्या गाये, समय गुजरता जाये।' क़लम रखकर हम इनकी सात पीढ़ियोंका तर्पण करते हैं। असलमें ऐक्टरको यह सब आना चाहिए न।" बीच गालपर छूटी हजामतको उदयने फिर सँभाला और गाल फुलाकर रेज़र चलाने लगे, मानो अपनी दुष्टता छिपा रहे हैं।

उदयकी बातपर ध्यान न देकर नम्रतासे सिंहने फ़ौरन ही सिगरेट

ट्रेमें ठूँसी। और हाथ जोड़े : "आप कब आगई, पता ही नहीं चला। आपकी तो तारीफ़ अक्सर ही सुननी पड़ती है। हमारे उदय साहबकी ज़बानपर जो न चढ़ जाय। आजकल बस, सुजाताजी; सुजाताजी ही रहती हैं। 'क्या कहानियाँ हैं कि ग़जब हैं।' मैं तो कह देता हूँ कि 'बेट्टा, ग़जब हैं तो उसीसे सीखो। तुमसे तो वह भी नहीं लिखी जातीं। दो पन्ने लिखोगे, उसमें भी उपदेश, विश्लेषण और फ़लसफ़ा भर दोगे। पाठक यह सब पढ़ेगा या कहानी ? बड़े भारी इण्टलैक्चुअलकी दुम आये हैं। आप सिनेमा जगत्में क्रान्ति करेंगे।—मेरा सिर!" सिंहने आधा मुँह टेढ़ा करके उदयकी नक़ल उतारी और फिर शिष्टतासे बोले : "माफ़ कीजिए, मैंने समझा कि पड़ोसका देशपाण्डे अखबार पढ़ने आया है। जाने कौन-कौन तो पाल रक्खे हैं जनाबने। कोई अखबार पढ़ने आते हैं, एक सिनेमाकी कहानी लिखना सीखने आते हैं। बोलो, खुद तो सीख लो पहले। चले हैं—दूसरेको सिखाने। ये भी कोई उपन्यास है कि लिया और बैठकर घसीट डाला।"

जवाबमें एक बार हाथ जोड़े। फिर अखबारपर आँखें गड़ाये मैं मुसकराती रही। इन दोनोंमें भी यह ख़ूब चोंचें चलती हैं। उदयने ही तो बताया था कि कालेजके साथी हैं। मैंने सिंहके चेहरेकी ओर देखा। खाकी पतलून, गन्दी-सी सैण्डो बनियान, खुलता रंग, मरियल सूखा शरीर, लम्बे चेहरेके कट अच्छे थे; लेकिन उसपर रूखेपनकी वह छाप थी जो बम्बईकी अपनी देन है। कल्ले उभरे दिखाई देते थे, होंठ पतले और सुन्दर, तलवारकट पतली-पतली मूँछें। असुन्दर नहीं; लेकिन इन्हें भी ऐक्टर बन जानेका मुग़ालता है इस बातसे तरस ज़्यादा आता था।

"इस बदतमीज़ीके लिए माफ़ कीजिए। एकदम सोकर उठा हूँ सो हुलिया बिगड़ी हुई है। अब कामपर जानेकी तैयारी है।" वे परिचयके बाद कुछ इस तरह कन्धे लटकाये सामने झूलते हाथ लिये खड़े रहे जैसे

इतनी-सी बात कहनेके साथ ही भाग खड़े होंगे। "इस कम्बख़्तने सुबह ही सुबह शतरंज रखदी, सो बैठना पड़ा।" उन्होंने भारी चश्मेको पीछे खिसकाया।

उदय बोले—"वर्ना नहा-धोकर ही आप कौनसे ख़ूबसूरत लगते हैं? अच्छा, अब सुजाताजी, आप ही फैसला कीजिए। बताइए मैं क्या करूँ? जब तक सिंह साहब ऑफ़िस न चले जायँ, मजाल क्या जो आदमी एक ख़त तक लिख ले। ऐसी घुड़दौड़ मचाते हैं कि ख़ुदाकी पनाह। पतलून प्रेस कर रहे हैं और लैक्चर चल रहा है कि किस शूटिंगका कौन सेट ठीक नहीं बना, किस सैटपर क्या गड़बड़ होगई, किसके साथ किसकी साठ-गाँठ है। किस ऐक्ट्रेसके पास कौन गाड़ी है। हरेककी जनम-पत्री। बम्बईका कोई भी फ़िल्मी अख़बार नहीं है जो आप न खरीदते हों। अपने आप आयेगा देशपाण्डे। कहता है, शान्ताराम उसका कोई दूरका रिश्तेदार है सो आप उसको मस्का मारते हैं।" नहानेकी ही तौलियासे चेहरा-कान पोंछते हुए उदयने फिर सिंहको कोंचा—नये आदमीके सामने अपनेको यों खींचा जाता देखकर वे कुछ बुरा न मान जायें इसलिए ज़रा तारीफ़के स्वरमें बोले—"लेकिन सिंह साहब शतरंजके परम-शौक़ीन हैं। और मज़ा यह कि आज तक कभी जीते नहीं। जब खाई तब पैदली-मात। लेकिन सा'ब शौक़ है। मुझे तो जब इनका मुँह बन्द करना होता है तो सामने शतरंज बिछा देता हूँ। एक-एक चालको घण्टों सोचते हैं, उठकर, बैठकर, लेटकर, सिगरेट पीकर, चाय चढ़ाकर। कभी-कभी तो यों ही बिसात रक्खी छोड़कर बाथरूम चले जायेंगे और वहींसे दहाड़ेंगे—'ढाई घरको ऊँटकी बग़लमें रख दो।' या तौलिया लपेटे सारा फ़र्श गीला करते हुए चले आरहे हैं। मैं तो इन्हें चाल चलनेकी फ़ुरसत देकर अपनी चिट्ठियाँ लिखने लगता हूँ, अख़बार पढ़ लेता हूँ। अब आप जब आई थीं तो मैं हजामत बना रहा था और आप शीर्षासन करके चाल सोच रहे थे।"

"चुप बे। अच्छा सुजाताजी, अब देखिए, क्या करें नामुराद शहर में ? कोई तो शग़ल हो न ?" बेबसीके खिसियाने अन्दाज़से हँसकर वे बोले, और उसी गन्दी बनियानसे चश्मा पोंछने लगे। मुझे हँसी आ गई, दोनों जैसे मेरे सामने अदालतमें खड़े हों, शैतान बच्चोंकी तरह।

"अच्छा, सिंह साहब, एक काम करो।" सहसा गंभीर होकर उदय बोले—"उस छोकरेको तो आपने लौंड्री भेज दिया है सो वह तो ब्रॉडवे और हिन्द माताके सारे पोस्टर देखकर आयेगा। तुमसे किस बातमें कम है। अब तुम दो-चार कप चाय बना दो।"

मैं कुछ कहूँ, इससे पहले सिंह साहब बड़ी नम्रतासे बोले—"यार, मुझे देर हो रही है, वर्ना बना देता।" फिर उन्होंने इस तरह सिर झटका कि बालोंका झब्बा, तारपर बैठे सधनेके लिए पर फड़फड़ाते कबूतरके पंखोंकी तरह उछलकर वहीं आ पड़ा। "अच्छा, खैर बनाये देते हैं, क्योंकि कपड़े वह नहीं लायेगा तो जायेंगे कैसे ? लेकिन याद रखना, यह सुजाताजीकी खातिर है, तेरे लिए इसमें कुछ नहीं है।" वे खुले दरवाज़ेकी ओर चले जो सूरतसे 'किचिन' लगता था।

उनकी बातोंमें आनन्द ज़रूर आ रहा था, लेकिन मुझे जाने क्यों लगा कि मैं बेकार आई। अचकचाकर उठ खड़ी हुई—"देखिए, मैं तो चाय पीकर आई हूँ। मैं नहीं पियूँगी। मुझे कुछ जल्दी भी है। वह तो एक तो आपसे लड़ना था और दूसरे अपनी कहानी लेनी थी। अब बताइए कि आप कल आये क्यों नहीं ?"

झेंपी और संकुचित-सी मुद्रा बनाकर उदयने मुझे देखा और उनके दोनों हाथ मुझे बैठानेके लिए मेरे कन्धों तक आये; लेकिन जैसे छः इञ्च-की दूरीपर ही सहमकर रुक गये, अतः सिम्फ़नी डायरेक्ट करनेके अन्दाज़में हाथ हिलाकर बोले—"बैठिए, बैठिए। अब तो सिंह साहबके हाथकी चाय पीकर ही जाना होगा, वर्ना मुझे मारकर फेंक देगा।"

उनके हाथोंके रुकने और मनोभावनाको लक्ष्य करके मैं मुसकराई—

"आप लोग भी .खूब हैं। अब बेचारेको क्यों कष्ट दे रहे हैं? चाय तो मैं पीकर ही आई थी। मना कर दीजिए न, अच्छा नहीं लगता।" मैं हारकर बैठ गई।

उदय ज़ोरसे बोले—"सुना सिंह साहब, क्या कह रही हैं ये सुजाताजी? अरे, जब इनके मिलनेवाले आते हैं और हम नीचे चार मंज़िल भागकर सिगरेट और कोकाकोला लाते हैं, तब कुछ नहीं। और ये कोई हमारे ऊपर अहसान थोड़े ही कर रहे हैं, इन्हें .खुद भी तो पीनी है। नार्या तो इनके कपड़े और पावरोटी लेकर नौसे पहले आनेवाला नहीं है।" फिर धीरेसे बोले—"आदमी बड़ा भला है बिचारा।"

मैं हँस पड़ी—"भला तो होगा ही बिचारा, आपको चाय बना-बनाकर जो पिलाता है। और आप हैं कि उसके शतरंज खेलने तकका मज़ाक उड़ाते हैं।"

उदय संतुष्ट भावसे मुसकराये और छातीपर लटकी तौलियापर ब्रश मार-मारकर सुखाते रहे। इसे उन्होंने मगमें ही धो लिया था। पूछा—"आपको आती है शतरंज?"

मुझे एक बातपर भीतर ही भीतर हल्की चिनचिनाहट-सी महसूस हो रही थी। पहले तो इन्होंने मेरे आनेका कुछ 'विशेष' रूपमें लिया था, लेकिन इसके बाद जैसे कुछ महत्त्व ही नहीं। सब कुछ ऐसे स्वाभाविक ढंगसे होने लगा था, जैसे मैं तो रोज़ ही आती हूँ। मैंने अर्थ-पूर्ण ढंगसे कहा—"जी नहीं, ये चालों वाले खेल मुझे नहीं आते। अपनी कोई दिलचस्पी भी नहीं है।" फिर मुझे याद आ गया कि मैं जो इनका 'अध्ययन' कर रही हूँ, यह क्या 'चाल' नहीं है?

"लड़की और चालोंवाले खेल न जाने?" उदयने .खुद ही प्रश्न किया और .खुद ही उत्तर देकर कहा—"नामुमकिन!" आलमारीके पास जाकर मेरी ओर पीठ करके बोले—"सुना है इस खेलको मन्दोदरीने ईजाद किया था?"

"अच्छा, आपको क्या अपने खेलपर बहुत गर्व है?" मैंने यों ही पूछ डाला। भीतर स्टोव जल गया है, यह मैं आवाज़से ही जान गई। हल्की बेचैनी-सी हुई कि व्यर्थ ही मेरे लिए यह कष्ट हो रहा है।

"गर्व तो नहीं है, पर मात खानेकी आदत कुछ कम ही है। जल्दी मुहरे नहीं छोड़ता।"

पता नहीं उदयकी इस बातमें मुझे ऐसा क्या गूढ़ लगा कि मेरे भीतर एक फुरहरी-सी दौड़ गई। जैसे मेरे मनकी हर बातको वे पढ़ और भाँप रहे हैं और ऐसे-ऐसे जवाब देकर मुझे सावधान कर रहे हैं—हो सकता है ललकार रहे हों। वे कह रहे थे—"मात खाई जाय तो किसी अच्छे हाथोंसे खाई जाय। यों हर ऐरे-ग़ैरेसे मात खानेमें मज़ा नहीं है।"

उहँ, मैं बेकार ही डर गई थी। यह तो शब्दोंको लपेटकर वही बात कह रहे हैं जो हर लड़का किन्हीं मौक़ोंपर लड़कीसे कहता है। लेखक हैं, इसलिए शब्दोंमें चतुराई है। मेज़पर रक्खी पत्रिकाके कवरपर बने लड़कीके चहरेकी रेखाओंपर नाखूनसे गहरी लकीर खींचती बोली: "अच्छे हाथोंसे क्या मतलब?" अनजाने ही अपने हाथोंपर निगाह गई। काली चूड़ी होती तो और खिलते, अब तो केवल घड़ीकी रेशमी डोरियाँ थीं।

वे नाखूनसे बनती रेखाओंको देख रहे थे या मेरे हाथको—नहीं कह सकती, कुछ पल चुप रहकर जैसे हल्की गहरी साँस लेकर बोले: "यह बताना तो ज़रा मुश्किल है।"

'नहीं पड़ी न हिम्मत।' मैं मन-ही-मन हँसी। कहा—"मुश्किल क्या है? रश्मिजीने अच्छे हाथ दिखाये तो थे कि सारी चौकड़ी भूल गये, पैदली खानी पड़ी?"

"रश्मि बेचारी क्या खाकर देगी?" मैंने स्पष्ट देखा कि वे सुस्त हो गये। यों ही खोये-खोये-से बोले: "रश्मि उपन्यासकी नायिका है, वह

नहीं है जिसकी ओर आपका इशारा है। और हार-जीत तो चलती ही रहती है। खैयामकी लाइनें आपने सुनी है ?

'टिज़ अ चैकर बोर्ड ऑव् नाइट्स एण्ड डेज़
ह्वियर डैस्टिनी विद् मैन फ़ॉर पीसेज़ प्लेज़
हिदर एण्ड थिदर मूव्स,. एण्ड मेट्स एण्ड स्लेज़
एण्ड वन बाई वन बैक इन द क्लोज़ेट लेज़ !'

"ये अँग्रेज़ी कविताएँ अपने पल्ले नहीं पड़तीं ?" मैंने टाल दिया।

लेकिन उन्हें उपन्याससे शायद अपने कुछ पत्रोंका ध्यान आगया। मेज़की ओर जाकर बोले—"देखिए, कुछ और अजबसे खत आये हैं।" वहाँ उन्होंने पाँच-छः खतोंमेंसे दो-तीन निकाले।

मैंने अनुत्सुक भावसे कहा : "ये तो सब हैं ही। लेकिन, सच पूछिए तो मैं रश्मिजीका ही खत देखनेको उत्सुक हूँ। उन्होंने कोई लिखा हो तो बताइए··· "मैंने उनके अपनी ओर बढ़े हाथसे खत लेते हुए कहा। अगर वे एकदम झिझककर हाथ न हटा लेते तो शायद मुझे ध्यान भी न आता कि हमारी अँगुलियाँ आपसमें छू गई हैं।

"उन्हें देखकर क्या करेंगी ? यों ही बड़ी बेवकूफ़ीकी बातें लिखती रहती है···" वे झेंपकर बोले।

फिर वही लड़कियों जैसी झेंप ! यह वाक़ई लज्जा है या लज्जाका नाट्य ? न कहीं कोई रश्मि है न अपर्णा। जबसे बहकाये जा रहे हैं। मैंने अपनी कहानीके प्लॉटको फिरसे दुहराया। अगर कोई होती तो इनसे छिपाया जाता ? बीस बार उसकी चिट्ठियाँ दिखाते। ज़रा-सा पोस्टकार्ड लिखकर कोई भेज देता है तो उसे चार बार मुझे ही दिखाते हैं। अपर्णा ···अपर्णा...दो बार जैसे किसीने मनमें दुहराया···और मैंने फिर कमरेमें एक बार चारों ओर तोलती निगाह घुमाई।

···बात यहीं टूट गई। एक छोटी-सी ट्रेमें तीन प्याले चाय, कन्धेपर

मैला-सा तौलिया "रक्खे बैरेके अन्दाज़में सिंह साहब प्रकट हुए। मैं एकदम उठ पड़ी—'अरे रे, देखिए आपको कितनी तकलीफ़ करनी पड़ी है। आप भी उदयजी, कमाल करते हैं।" मैंने पत्रिकाएँ एक ओर खाली कुर्सीपर डाल दीं और 'ट्रे' उनके हाथसे लेकर मेज़पर रखदी।

"नवाबज़ादे साहब, अब उठाकर तो खुद पीलो या वह भी हमही करें?" एक कप उठाकर मुझे देते वह बोले।

"नवाब तो आप हैं, हम क्या खाकर होंगे।" उदयने सिंहका चेहरा पढ़कर कहा—"इनकी 'नवाबजनी' सुनी है सुजाताजी?—क्या मजाल जो कभी आप क्लासमें ठीक समयसे पहले आये हों या तो प्रौक्सीसे काम चलाया नहीं तो जब रोल-कोल हो जाये, तब देखिए कि सिंह साहब इस तरह घूमते चले आ रहे हैं जैसे सुबह मॉर्निंग वॉकपर निकले हों। एक दिन देखा, सिंह साहब रज़ाई लपेटे बाथरूम-स्लीपर पहने झूमते-झामते चले आ रहे हैं—बढ़िया साटनके अस्तरवाली मखमली रज़ाई। आते ही बड़ी गम्भीरतासे अगली सीटपर एक लड़केको सरकाकर बैठ गये, और लगे प्रोफ़ेसरका चेहरा अपलक ताकने। सारा क्लास आपकी इस हरकतपर हँस रहा है, लेकिन सिंह साहबके मुँहपर हँसीका नामो-निशान नहीं। बस, भकुए-जैसे देखे जा रहे हैं। लड़कियोंने मुँहोंपर दुपट्टे और रूमाल लगा लिये। आखिर बेचैन होकर प्रोफ़ेसरने पूछा—'आप इस तरह मेरे चेहरेको क्या देख रहे हैं?' तो चौंककर आपने अपने आस-पास देखा कि क्या मुझसे ही कहा जा रहा है। फिर निहायत ही मासूमियतसे बोले—'कुछ नहीं साहब, वैसे तो सब ठीक है। ज़रा-सी दारू पी आया हूँ, इसीलिए ऐसा लग रहा होगा।' बस, आप अब क्लासकी हालत सोच लीजिए।" सिंह साहब झेंपे-झेंपे 'मैं किस लायक़ हूँ!' के अन्दाज़में मुसकराते रहे और उदय मज़ा ले-लेकर हँसते रहे। मुझे सिंहसे हमदर्दी थी। हँस चुकनेके बाद बोले—"सचमुच सिंह साहब, आपको मेरी वजहसे क़ाफी कष्ट होता है न? जबसे आया हूँ चैन नहीं लेने देता।" अपनी बातके अन्तिम हिस्से

तक आकर उनके स्वरमें अन्तर आगया। प्याला उठाकर खड़े-खड़े ही कहा।

उनके स्वरमें व्यथा थी या क्या कि सिंह गद्गद होकर महान् हो गये। कानके पास मक्खी-सी झाड़नेके अन्दाज़में हाथ झटककर मानो अरुचिपूर्वक बोले : "छोड़, छोड़ अब बहुत शब्दजाल मत फैला।" और तश्तरीमें चाय उँड़ेल-उँड़ेलकर पीने लगे।

"लेकिन मैं भी कहता हूँ कि अपनी कहानीका हीरो तुम्हें ही बनाऊँगा। अड़ जाऊँगा डायरेक्टरसे कि कहानी तभी जायेगी जब सिंह साहब हीरो बनेंगे। तब दोनों जने रोज़ ताजमें डिनर लिया करेंगे। फ़िकर मत करो, वह दिन भी जल्दी ही आनेवाला है।" उदयने एक बार मेरी ओर देखा, और एक बार सिंहकी ओर।

मानो यही सिंहका भी मधुर-स्वप्न हो। उनकी निगाहें कहीं दूर खोती-सी लगीं। फिर इसे एकदम झुठलाते-से बोले—"जा, जा, बहुत उड़ मत। 'पुरोहित' और 'चेतना' में क्या खिला दिया, हवामें ही उड़ने लगे। ताजमें रोज डिनर लेंगे। हुँह !"

"अरे, तब तुम खुद ही हमें लिफ्ट नहीं दोगे। तब तो बड़े-बड़े एक्टर-ऐक्ट्रैस चारों ओर होंगे।" हम तीनों ही खड़े-खड़े चाय पी रहे थे। उदय खुद दूसरी बेंतकी कुर्सीपर बैठ गये। "अब भी तो आप बैठेंगी। तक़ल्लुफ़में क्या रखा है ?" झुककर मेरी कुर्सीपर रक्खी पत्रिकाएँ उन्होंने नीचे ज़मीनपर रख दीं।

लगा यह उनका स्थायी मज़ाक है। सिंहने जैसे किसी जवाबकी तलाशमें इधर-उधर देखा और बोले : "सुजाता जी, आपके यहाँ टेलीफोन है ?"

इस अप्रत्याशित प्रश्नसे मैं एकदम चौंक पड़ी—"जी हाँ, है तो। क्यों ?" इन दोनोंके आपसी पैतरे देख-देखकर मज़ा भी आ रहा था

और भीतर-ही-भीतर कहीं यह भी लग रहा था कि बुरे फँसे। वक्त बरबाद हो रहा है। जिस लिए आई थी वह तो घपलेमें ही पड़ गया।

"जी बस, बस अब मैं समझ गया।" 'अब पड़ाव माराके' भावसे सिंह सिरके ऊपर हाथ उठाकर प्रसन्न हो उठे।

"क्या?" मुझे यह आदमी विचित्र रूपसे दिलचस्प लगा; इसीलिए मैं डायरीमें इसके बारेमें लिखे चली जा रही हूँ।

"अपने उदय साहब आजकल बम्बईमें आदमियोंसे दोस्ती नहीं करते, टेलीफोनोंसे दोस्ती करते हैं, यानी उसीसे जिसके यहाँ टेलीफोन हो।" उदयको चिढ़ाकर वे बोले—"पब्लिक टेलीफोनवाले तो पैंतालीस मिनट फोन करने नहीं देते न। पीछेवाला शोर मचाता है और किसीकी दूकानपर हुआ तो वह क्यों बेकार दो आनेमें भीड़ बढ़ायेगा?"

मैं भौंचक्की-सी होकर मुँह फाड़े देख रही थी कि उदयने बरजनेवाले स्वरमें कहा—"एऽऽऽ मुलायम सिंह, तुम्हें देर हो रही है। जाओ नहाओ-धोओ, हमें कुछ काम है। आख़िर दूकानपर भी तो पहुँचोगे कि नहीं?"

इस जगह सिंह साहबका पूरा नाम लेनेका राज़ मेरे लिए साफ़ था। मानो वे कहना चाहते थे कि 'तुम्हारा नाम मुलायमसिंह है, भूलो मत। अपने स्तरसे बातें करो। तुम ऑफ़िसमें नहीं, दूकानपर नौकरी करते हो।'

"चलो, चलो...यार, गुर्रा क्यों रहा है?" ज़िद्दी बच्चेकी तरह सिंह मन ही मन अपनी बातपर खुश होते हुए डटे रहे। ज़मीनपर रक्खी पत्रिकाओं और पत्रोंपर निगाह डालते बोले—"प्रशंसकोंके खत दिखा रहे हो न? लेकिन, यार, सुजाताजीको अपनी 'उनके' भी तो खत दिखाओ न...? क्या नाम है भला-सा...अन्नपूर्णा...या क्या? जाने कौन-कौन तो हैं। अब मुझे नाम भी तो याद नहीं आ रहा...अपर्णाजी...हाँ,

अपर्णाजी का···रजनीका तो तुमने दिखाया ही होगा···वह तो तुम्हारे उपन्यासकी रश्मि है····"

"चोप !" और जब तक उदय झपटकर उधर आये कि शैतान बन्दर-की तरह वार बचाते सिंह उछलकर सामनेवाले दूसरे दरवाज़ेमें घुस गये और ज़ोरसे किवाड़ बन्द करके मज़ेमें आकर 'डडा डडा' की धुनमें कुछ गुनगुनाने लगे···।

तब मुझे भीतर झटका-सा लगा। तो यह रश्मि और अपर्णा दोनोंमें-से कोई भी काल्पनिक नहीं है? उदयका इस समयका लाल चेहरा भी तो बता रहा था कि वे सच हैं। उदयने सिंहकी कमज़ोरीका मज़ाक उड़ाया था और सिंहने इन्हींका; लेकिन उसके पीछे क्या कहीं यह ईर्ष्यालु भावना नहीं थी कि वे मुझे बता रहे हों; 'सुजाता जी, उदयको सीधा मत समझिए। बहुत लड़कियोंमें इसका परिचय है···यह···।' मुझे तब खुद अपनेपर ही झुँझलाहट होने लगी। कितनी साफ़ बात है, और उन्होंने भी तो बिना छिपाये निहायत ईमानदारी और स्पष्टतासे बता दिया था। फिर इनके सम्पर्कोंको काल्पनिक समझनेकी क्या तुक थी? अगर कहीं बनावट होती तो मेरी आँखें तभी भाँप लेतीं। अपने निरीक्षणकी तेज़ीपर तो मुझे बहुत विश्वास है, यह बात कैसे छिपी रह सकती थी? अब मुझे अपने प्लॉटको दुबारा सुधारना और रिवाइज़ करना होगा। ख़ैर, मैंने निश्चय कर लिया कि ज़्यादा चतुर बनने और अपनी अन्दाज़-बहादुरी दिखानेकी धुनमें ज़बर्दस्ती रहस्य-निर्माण करनेकी प्रवृत्तिको मुझे दबाकर ही रखना होगा। जो जैसा है उसे उसी तरह लेना ज्यादा ठीक है। लेकिन कैसी होगी वह रजनी···अपर्णा···?

[आई अर्थात् पापाके मित्रकी पत्नी आ गई हैं इसलिए डायरी यहीं छोड़ती हूँ।]

रात्रि : साढ़े ग्यारह

सिंहकी कुछ बातें मनको बहुत छू गई थीं। बार-बार लगता जैसे कुछ है जो मुझे मेरे न चाहनेपर भी पिघलाये दे रहा है। एक आशंका भी होती है कि कहीं यह पिघलना दलदलमें गहरे उतरते चले जानेकी मजबूरी न बन जाय। लेकिन फिर अपनेको समझाती हूँ कि मनुष्यको क्या बस, स्वार्थी, दुष्ट और आत्मनिष्ठ ही होना चाहिए? क्योंकि परोपकार, हमदर्दी, दया, करुणा, मानवीय रागात्मक भावनाएँ हमेशा 'किसी' को लेकर ही होती हैं और धीरे-धीरे वह 'कोई' हमारे अपने नज़दीक होने लगता है, दूरियाँ सिमटने लगती हैं, औपचारिकता और फ़ॉर्मेलिटीके पर्दे उठते चले जाते हैं और हम पाते हैं कि यह सम्बन्ध केवल जड़ लेन-देनका ही नहीं है। किसीको हमदर्दी, करुणा देना भिखारीको पैसा देना नहीं है कि दिया और आगे बढ़ते ही भूल गये, वह अपने 'श्रेष्ठतम'का कुछ भाग देना है। वह 'अपनापन' देना है—और 'अपनापन' देकर कैसे कोई किसीको बहुत दूर रख सकता है? 'अपनेपन' और 'परायेपन' की दूरियाँ क्या साथ-साथ निभाई जा सकती हैं? लेकिन जब बदलेमें दूसरा अपनी कृतज्ञता देता है—जो उसका श्रेष्ठतम है—तो हम चौंकते क्यों हैं? और जब नहीं देता तो यह क्यों समझते हैं कि वह अहसान-फ़रामोश है, वह कृतघ्न है, और हमारे इतने 'अपनेपन' को एक तक़ल्लुफ़ी 'धन्यवाद' से समाप्त कर देना चाहता है? तो यह आशंका और आशा करना क्या एक ही मनोभावके दो नाम हैं?

"लगता है आप तो किसी बहुत भारी सोचमें पड़ गई हैं।" दूर कहीं धुन्धके पारसे उदयकी आवाज़ सुनाई दी। सचेत होकर देखा, सचमुच पत्रिकाओंके ऊपर रक्खे ख़तोंको पढ़नेके लिए दोनों कुहनियाँ बेंतकी मेज़पर टिकाकर, दोनों हथेलियोंपर ठोड़ी टिकाये कनपटियाँ थामे उन्हें देखती मैं न जाने कहाँ खो गई थी। इसी तरहके

हँसी-मज़ाकोंके बीच नहाकर कपड़े पहन सज-सँवरकर सिंह ऑफ़िस चला गया था।

जाते-जाते जो कुछ कह गया था, उसीने मुझे भिगो दिया : "माफ़ कीजिए सुजाता जी, कुछ बदतमीज़ी हो गई हो तो। ऐसी कुछ नहूसियत, घुटन और पस्ती इस आपकी नगरीमें छाई रहती है कि अगर हमलोग इतना बात-बेबात हँसें बोलें नहीं, तो दूसरे दिन नसें फट जायें। इसलिए शिष्टताकी क़ीमत देकर भी यह सब करना पड़ता है। ग़लत न समझें। आप लोग साफ़-सुथरे मुहल्लोंमें रहनेवाले लोग हैं, आपके लायक़ ख़ातिर-वातिर कुछ भी नहीं कर पाये।" फिर अपने कमरेकी तरफ़ इशारा करके कहा। "इस घूरेमें आपको क्या लगा होगा? लेकिन हम अकेले लोग हैं, जैसे भी पड़े हैं, ठीक है।" इसके बाद उदयको ख़ुश करनेके लिए बोले—"जबसे यह उदय आया है तबसे कुछ मन-वन भी लग जाता है, वर्ना वही शाम-सुबह भटको और कुढ़ो। कभी-कभी यह भी हारी-हारी बातें करता है तो बड़ा दुःख होता है। आप इसे समझाइए, दिन हैं—निकल जायेंगे—दुःखमें या सुखमें। ऊपरसे बड़ा शेर बनता है, भीतरसे बड़ा कमज़ोर है। असली मुलायम सिंह तो यही है। बस, लगनका पक्का है और इसकी इसी बातको मैं पूजता हूँ। सारी बम्बई इसके ख़िलाफ़ है, इसके आनेसे किसीकी अपनी रोज़ी छिनती है तो किसीका आचार्यत्व और 'महंती' लेकिन सबको जूतेकी नोकपर रखता है। मैं कहता हूँ कि जबतक सिंह साहब हैं, बेटे मस्त रहो और किसीको मत गिनो। रूखी तू खा, रूखी हम खायें और खोजें इस तिलस्मकी ताली! हमही क्या; हमसे भी बुरी हालतमें हैं लाखों यहाँ। कितने लाख हैं, जिन्हें यहाँ फ़ुटपाथ तक नसीब नहीं है···।"

मेरा जी भर आया···बेचारे ये जद्दोजहद और संघर्ष करते लोग···। पहले जितना क्षोभ और ग्लानि थी, वह सब अब एक उदात्त करुणामें बदलने लगी! जैसे एक बहुत ऊँचा सपाट पहाड़ है, और

हज़ारों लोग उसपर चढ़नेकी कोशिश कर रहे हैं। कोई कहीं तक पहुँचा है, कोई कहीं तक···। किसीके हाथ एक सीधी-सी पगडण्डी पड़ गई है और बढ़ा चला जा रहा है, और कोई हाथोंके बल किसी चट्टानपर लटका है···बार-बार पाँव जमाना चाहता है, लेकिन फिसल-फिसल जाते हैं··· धीरे-धीरे हाथोंकी पकड़ भी छूटती जा रही है···लेकिन—जिजीविषा, जीनेकी प्रबल लालसा—बार-बार प्रयत्न करनेको मजबूर करती है···नीचे है अथाह गहराई···। पता नहीं कल्पनाके चित्रपर मन यों ही रोने-रोनेको होने लगा····

उदयकी बातसे चौंककर अपने बेवकूफ़ विचारोंपर बिना हिले-डुले उनकी ओर आँखें उठाईं तो व्यथासे मुसकरा पड़ी···। शायद वे समझ रहे थे कि सिंहकी बातोंने मुझे छू और छा लिया है, या वे स्वयं भी आविष्ट हो आये थे, और मुझे इसी भाव-स्थितिमें रहने देनेके लिए खिड़कीके पास खड़े-खड़े बाहर देखते दाँतोंमें ब्रश करते रहे। जब सिंह चला गया तो मुँह-हाथ धोकर मेरे सामने आ बैठे। मेरे मनका एक भाग जैसे उनके साथ-साथ उन्हें देखता घूम रहा था। मुझे खुद लगा कि उनकी बातके जवाबमें मुसकराती मेरी आँखोंमें एक ऐसी मजबूरीका अहसास और स्वीकृति थी मानो मैं कहना चाहती हूँ, 'मैं क्या करूँ, ऐसी बातें मुझे छू जाती हैं।'

उदयने सीधे बेझिझक मेरी आँखोंमें देखा और बोले—"बड़ा भला आदमी है बेचारा।" मैं यह जानती थी कि वे अपलक मुझे देख रहे हैं, लेकिन मैं यों ही अवसादभरी मुसकराहट वाले होठों और खोई-खोई निगाहोंको अनवरोध सहज भावसे उनके सामने किये रही [शब्द बहुत अधिक भारी न हो जायें तो कहूँ कि 'परोसे' रही ···] वे उसे पीते रहे। उनकी बातकी स्वीकृतिमें धीरेसे सिर हिला दिया, बस।

"मैं तो इसे अपनी क़िस्मत ही मानता हूँ कि मुझे हमेशा भले आदमी ही मिले।" वे खिड़कीसे बाहर मकानों, छतोंकी टंकियों, एरियलके पोलों,

और चिमनियों या दूर दीखती लोकलकी लाइनोंको देखे जा रहे थे। और मैं उनके चेहरेपर निगाहें टिकाये थी। सचमुच, उनके चेहरेकी रेखाएँ बड़ी सौम्य थीं, ऐसी कि उन्हें देखकर भीतर हल्की-सी कसक होती थी और दुलार उमड़ता था। उनकी बात मेरे कानोंमें जाकर बता रही थी कि यह वाक्य सिर्फ़ तेरे लिए हैं। वे कहते रहे—"यह सही है कि उनमेंसे बहुतसे आज अपने आपको मेरा दुश्मन बताते हैं, मैं भी उन्हें अपना हितैषी नहीं मानता। कुछ कारण रहे, या कहें, बातें रहीं जिनपर हमलोग आज असहमत हो गये हैं; लेकिन इतना मैं बेझिझक कहूँगा कि वे बेचारे जब भी मेरे साथ थे, निहायत निष्कपट, निष्कलुष और अत्यन्त स्नेह-भावसे मेरे साथ थे।..."

अरे, मैं अपनी बात तो इन बहावोंमें भूल ही गई थी। कुछ देर इसी स्थितिमें रहकर ऐसी स्वाभाविकतासे बोली जैसे यह बात भी उसी भाव-स्थितिका ही एक क्रम हो : "मैं आपसे लड़ने आई थी।"

"अरे हाँ, वह किस हरकतकी बात पूछती थीं तुम?" और वे एकदम गला फाड़कर हँस पड़े।

और जैसे उस वातावरणके नीले-नीले अदृश्य रेशोंका मकड़ी-जाल झन्नसे बिखर गया। एक दबी-दबी गहरी साँस लेकर मैं सीधी हो गई... इस दुनियामें लौट आई। मैंने उन्हें 'आप' से 'तुम' पर उतरते हुए मार्क किया। इसी समय यह सम्बोधन क्यों आया? तो क्या मेरी मनःस्थितिको उदयने पढ़ लिया है? खुद उनके भीतर क्या है, इसे मैंने भी तो अपने भीतर कहीं बहुत गहरेमें शब्दातीत रूपमें महसूस किया है।

"अब क्या बतायें? आप कल हमारे ड्रामेमें नहीं आये, अच्छा नहीं किया। इतनी बढ़िया चीज़ 'मिस' कर दी। अब तो पौने दस बज गये। अब क्या हमें जाना नहीं है?" मैं शिकायतसे बोली।

"जाना। जल्दी क्या है ऐसी?" स्नेहसे दुलारते-से वे बोले।

और तब मेरी चेतना जैसे ऊपरकी सतहपर लौट आई। मेरा ध्यान

गया कि अरे, कमरेमें हम दोनों ही अकेले हैं। इस बातको मैं भीतर ही भीतर शायद आनेके क्षणसे ही महसूस कर रही थी, दो नवयुवक कुमारोंके अस्त-व्यस्त कमरेमें एक अपरिचिता नवयुवती आकर कैसा महसूस करेगी। और चूँकि टीनके उस लम्बे सायबानमें इसी तरहके बहुतसे एक-एक कमरेके 'सूट' (नाम देते हँसी आती है) थे और वह सायबान एक चलते रास्तेका काम भी देता था, इसलिए सभी लोग सामनेसे गुज़रते थे—इनका नम्बर तीसरा था। इस ख़यालसे शायद उधरके दरवाज़ेको अक्सर बंद रक्खा जाता था। इस समय तो किचिन और बाथरूमके दो खुले और बन्द दरवाज़े, पीछेकी दीवारके दो जंगले, उनके पार धूपमें चौंधती बम्बईकी छतें, लोकलकी पटरियाँ, छड़ें और ऊपर चकमक करता तार···विहंगम दृश्य और नीचेसे उमड़ता शोर···ऐसा तेज़ और एकरस कि कमरेमें एक अजब-सी चुप्पीका भान हो। इस जगह एक अपराध-भावना थी जो मनको कचोट रही थी और लगता था कि यहाँसे चले जाना चाहिए—यों 'घर-बार-हीन' दो नौजवानोंके कमरेमें अकेले बैठना ठीक नहीं है। बाहरवालोंने देखा होगा तो क्या सोचेंगे? रेखाकी एक-एक बात याद आरही थी। देखनेमें लाख भले और सीधे हों, लेकिन क्या ठीक है! ज़रासेमें हाथ-वाथ पकड़ लें। कहीं, एकदम भूखे भेड़ियेकी तरह ऊपर ही झपट पड़ें तो मैं क्या करूँगी? उस स्थितिके लिए मैंने आस-पास देखा; मेज़ और कुर्सीसे बीचमें इतनी जगह है कि मैं फ़ुर्तीसे उछलकर हट जाऊँ···। फिर कुछ नहीं मिलेगा तो सैण्डिल ही उठा लूँगी···! कैसा तो एकान्त है। आस-पासके लोग भी तो अब तक सब दफ्तर चले गये होंगे···। भीतरसे चटखनी लगी है···अभी अक्का या पापा देखलें तो मारकर खा जायें—अकेली बैठी है यहाँ? यह पता होता तो मैं रेखाको भी घसीट ही लाती कम-से-कम। लेकिन भीतर एक अजब-सी प्रसन्नता भी थी। सचमुच, क्या मुझे पता नहीं था कि ये अकेले ही तो रहते हैं? तो क्या जान-बूझकर···? नहीं-नहीं···! हुँह, क्या हुआ अकेले बैठनेमें?

कोई खा तो जायेंगे ही नहीं···। अक्का और पापा यहाँ आ ही कैसे सकते हैं···? लेकिन कोई परिचित ? इस भीतरी बेचैनीसे मेरी सारी चेतनाएँ प्रबुद्ध हो उठीं। मानो मेरा रोम-रोम आशंका कर रहा था कि कुछ होगा ज़रूर···कुछ होगा···कुछ हो न जाय···कुछ होना तो चाहिए···काश, हो···हिश्।

फिर भी मैं अपनेको भरसक बिलकुल स्वाभाविक बनाये हुए थी···। उनके पाँवका पंजा हिल रहा था···उनकी हर ज़रा-सी बातपर मेरा ध्यान था। गला साफ़ करके मैंने शिकायतके स्वरमें कहा : "आपको हमारा निमन्त्रण नहीं मिला ? आप जनाब आये क्यों नहीं ?"

"अब क्या बताऊँ ?" कुर्सीके हत्थेपर कुहनी टिकाये वे अपने दाहिने हाथके अँगूठे और तर्जनीको माथेपर, ऐसे सोचमें डूबे फिराते रहे जैसे बाम मल रहे हों। जब अँगूठी और अँगुलीकी दूरी कम होती तो बीचमें खालकी मोटी-सी सलवट उभर आती···उनकी भौंहें मुझे फिर अपने भीतर कसकती-लगती थीं। नहीं, इस वक्त तेजकी बात याद करने-का अवसर नहीं है—धूपसे बचनेकी तरह आँखोंके ऊपर लगाये गये हाथके नीचेसे देखते हुए गहरी आवाज़में उन्होंने पूछा : "आपको बहुत बुरा लगा ?"

"बुरा लगनेकी बात ही है। एक तो वैसे ही 'पास-वास'का झगड़ा कि सेवाका काम है। इसमें सभीको कुछ देना ही चाहिए। वो तो कहिए कि हम ध्रुव-स्वामिनी थे।" नाटककी बात याद आते ही मैं सब कुछ भूल-भाल गई और एक अजबसे उत्साहसे भर उठी। ज़मीनपर कुर्सीसे टिके वेनिटी-पर्सको अनजाने ही गोदीमें उठाकर उसकी घुण्डी घुमाकर खोलने लगी। एक साथ जाने कितनी बातें उमड़ी आरही थीं।

"अच्छा ख़ैर, कैसा रहा ?"

"कैसा रहा ?" मैंने मुँह बिचका दिया : "कभी अखबार-वखबार भी पढ़ते हैं या नहीं ? सारे शहरमें शोर होरहा है, और नवाब साहब हैं कि

अपनी कुठरियामें बैठे पूछते हैं 'कैसा रहा ?' आपको अपनी कलापर बड़ा गर्व है, लीजिए देखिए, और कुढ़िए···" मैंने एकदम पर्ससे एक चौकोर-सा नीला मखमली डिब्बा निकालकर उनकी ओर बढ़ा दिया। मेज़पर रखदेनेका ध्यान आया; लेकिन रक्खा नहीं।

उन्होंने डिब्बा लेकर खोला तो गहरे गुलाबी साटनके बीच मैडल चमक रहा था। मैडल हाथमें लेकर देखते रहे—फिर बोले—"बड़ा खूबसूरत है। रोल्ड-गोल्ड है न ?"

मैं खिलखिला पड़ी। हाथ बढ़ाकर वापस माँगनेके अन्दाज़में बोली—"दीजिए दीजिए, बड़े आये रोल्ड-गोल्डका है! यह शुद्ध गिनी गोल्ड है, हुज़ूर। पढ़कर देखिए तो पता चले, अपनेको बड़ा तीस-मारखाँ लगाते हैं। अभी असली जीनियस देखे नहीं हैं। जिस लाइनमें निकल जायें वहीं शोर हो जाये।"

"अरे अरे···बहुत खुश हो···" वे हँसकर बोले और छोटी-सी जंज़ीरके साथ पिनमें लटके कुछ-कुछ पानके आकारके मैडलको सीधा करके पढ़ने लगे—'कहानीकार सुजाताकी अभिनय-प्रतिभाकी प्रतीक ध्रुव-स्वामिनीको।—प्रिंसेस अपर्णा, वीचि-विलास, बम्बई।' फिर अथाह आश्चर्यसे आँखें फैलाकर, स्वर खींचकर बोले : "हैं ऽ ऽ ऽ, यह क्या ?"

"जी।" मैंने नम्रताका नाट्य करके दृढ़ स्वरमें जवाब दिया।

"यह अपर्णा और कौन हैं भाई ?" आश्चर्य और परेशानीसे वे कहने लगे—"हमारी बहनका नाम भी तो अपर्णा ही है न।"

"देख लीजिए, शायद वे ही न हों।" इस बार मेरे स्वरमें निश्चिन्त ललकार थी।

"लेकिन ये तो प्रिंसेस है!" वे जैसे अपने आपसे बोले—"वह बेचारी तो ढाई-तीन हज़ार रुपये पानेवाले मैनेजरकी पत्नी है। फिर वह इस वक्त शिमला है।" कुर्तेकी जेबसे एक ख़ूबसूरत नीला-सा लिफ़ाफ़ा निकालकर दिखाते उन्होंने कहा—"कल शामको ही खत आया है कि

दो-तीन महीने आनेका अब कोई इरादा नहीं है। अब तो स्नो-फ़ॉल देखकर ही आयेगी।"

"हाँ, वही तो मैं भी सोचती थी कि वे नहीं होंगी। मुझे भी पहले आपकी बहनका स्ट्राइक हुआ था।" आश्वस्त होकर मैंने अब एकदम बोलना शुरू कर दिया। जबसे जाने कैसे ज़ब्त किये बैठी थी। अब तो बिना ब्रेककी गाड़ीकी तरह चल पड़ी—"सुनिए, उस दिन बड़ा मज़ा हुआ। आप रहते तो और भी मज़ा रहता। सुबहसे ही मेरी तबीयत खराब थी। जी घबरा रहा था। अक्का अलग सुबहसे ही सन्नाटा खींचे थीं। सो घरमें बड़ा घुटा-घुटा-सा था। जैसे-जैसे वक्त बीतता जा रहा था, मेरे प्राण कण्ठ तक आये जा रहे थे। आखिरी वक्त तो जैसे अब दम निकला-तब दम निकलाकी हालत थी। जाने कैसा होगा। अपने बुलन्दशहर मेरठमें तो स्टेज़पर रंग-बिरंगे कपड़े पहनकर उतर आना ही बड़ा भारी क़माल था। लड़कीका सामने आना ही वहाँके लिए एक तूफ़ानी बात थी। अभिनय वग़ैरासे क्या मतलब? बम्बईकी बात ही और है। सो वह भी कई कॉलेजोंका मिलाकर इस तरह पब्लिक हॉलमें। बार-बार सिर घूम जाता था। आँखोंके आगे अँधेरा छा जाता। ख़ैर सा'ब, जैसे-तैसे स्टेजपर क़दम रक्खा, और बस, तब जाने क्या जादू हुआ कि सारी घबराहट, सारी बेचैनी सब गायब हो गई। फिर तो हर सीनके बाद जो तालियाँ पिटी हैं कि बस, यों समझ लीजिए कि अभी तक कानोंके पर्दे भन्ना रहे हैं। ग्रीनरूममें लड़कियोंने मार आफ़त कर डाली, कोई चूम रही है तो कोई गोदीमें भर रही है। अपना होश नहीं रहा, कहाँ हैं, किसकी बाँहोंमें हैं, किसके ऊपर हैं। एक हो तो बचा भी जाय, भीड़की भीड़ थी। बधाइयाँ, तारीफ़ें।"

उदयके चेहरेपर अजब-सी मुसकराहट थी जिसे वे स्पष्ट ही दबा रहे थे। उसे देखकर लगा : खुद अपनी तारीफ़ बहुत हुई जा रही है। कोई ध्यान न देकर बोली—"और तभी सुना कि हॉलमें एनाउन्स किया जा रहा

है—'ध्रुवस्वामिनीके अभिनयपर कुमारी सुजाताको प्रिंसेस अपर्णाकी ओरसे…' बस तब तो मुझे लगा जैसे बेहोश हो जाऊँगी…। तभी मेरे आस-पास ग्रीन रूममें जो बधाइयों और कांग्रेचुलेशनोंका जो शोर मचा था वह जैसे एक दम रुक गया, और एक फाँक-सी बन गई तो देखा सामने प्रिंसेस अपर्णा खड़ी थीं : अट्ठाइस-उन्तीसकी उम्र, गोल चेहरा, गेहुँआ रंग और भरा हुआ शरीर, सुन्दर फ़िगर। आसमानी शेडकी क़ीमती शिफ़ॉनकी साड़ी और ब्लाउज़। हाथमें चूड़ियाँ और घड़ी। दोनों हाथोंके बीचमें लटकता, कपड़ोंसे ही मैच करता मखमली पाउच लेकर उन्होंने ठोड़ी तक जुड़े हुए हाथ उठाकर नमस्कार किया। बिना इधर-उधर देखे बड़े नपे-तुले शब्दोंमें बोलीं—'मैं अपर्णा हूँ, आपको बधाई देने आई हूँ।' चेहरेपर एक बड़ी हल्की-सधी हुई नियन्त्रित और तटस्थ-सी मुसकराहट थी। पहली बार तो मुझे बड़ी बनावटी-सी लगी। उस वक्त मुझे याद ही नहीं रहा कि मैं खुद ओजस्विनी महारानी 'ध्रुवस्वामिनी' के मेकअपमें हूँ। मैंने नम्रतासे हाथ जोड़ दिये। वे उसी उतार-चढ़ाव-हीन स्वरमें बोलीं—'आपने सच, बहुत ही सुन्दर ऐक्टिंग की है।' अब इसका क्या जवाब देती ? शरमाकर सिर झुका लिया। वे आगे कह रही थीं : 'आप आइए न, किसी दिन। अपना पता दे दीजिए, मैं गाड़ी भेज दूँगी।' इसके बाद शायद सचमुच, मुसकराकर बोली—'आपको मैडल भी तो देना है।…'

छतकी ओर मुँह करके उदय ज़ोरसे खिलखिलाकर हँस पड़े तो मेरी बात अधूरी रह गई। इसमें हँसनेकी क्या बात है ? मैं इतने उत्साहसे अपनी बात बता रही थी, अब एकदम हत-प्रभ हो गई। उसी झटकेमें वे उठे और मेज़की किताबों और काग़ज़ोंमें कुछ खोजते-से बोले—"बड़ी दिलचस्प कहानी है। अभी नई लिखी है क्या ?"

"जी हाँ, कहानी तो है ही। और जो यह मैडल रक्खा है वह भी मैं खुद ही बनवा लाई हूँ ?" मैं बुरा मान गई; फिर भी उत्साह क़ायम रखने-

की कोशिश करते हुए बोली—"अब सुनेंगे या बीचमें ये ऊल-जलूल बातें पूछेंगे···? जाइए, हम नहीं बताते···हाँ ऽऽ, तो, नहीं।"

"अरे क्या सुनें ? मुझे तो बम्बइया सिनेमाओंकी याद आ रही है तुम्हारी इस कहानीसे। ग्रेगरी पैक और आॅड्रे-हैबर्नकी कौन-सी फ़िल्म थी···रोमन हॉलीडे" फिर खोजना छोड़कर माथेपर उँगली ठोकते बोले—"ऐसा ही कौन-सा दूसरा सिनेमा देखा था अभी जिसमें किसी बड़ी मशहूर ऐक्ट्रैस और उस मुण्डित 'युल ब्रिनर' ने काम किया है—हाँ, हाँ याद आया 'अनैस्टैसिया' शायद इन्ग्रिड बर्गमैन थी···" एक कुटी-पिसी-सी सिगरेट खोजकर मुँहमें लगाते बोले—"राजकपूरका 'चार-सौ बीस' देखा है ?" फिर खुद ही हँसे—"प्रिंसेस ! अरे, कोई ऐक्ट्रैस-वैक्ट्रैस आ गई होगी। बम्बईमें कमी है ? उसने सोचा होगा कि चलो, लड़कीको एक सबक़ ही दे दो। वर्ना गुमान हो जायेगा कि बड़ा अच्छा ऐक्टिंग करती है।"

"जी हाँ, ऐक्ट्रैस तो थी ही !" झुँझलाकर उन्हें चिढ़ाकर मैं बोली—"यहाँकी ऐक्ट्रैसोंको हम पहचानते थोड़े ही हैं ? वो तो सन्दूक़में बन्द रहती हैं न ?" मैं रूठ गई—"सुनते हैं नहीं, और बीच-बीचमें अपनी-अपनी लगाये जाते हैं। आपसे दूसरेकी तारीफ़ ही नहीं सही जाती। बस, हरवक्त अपनी-अपनी तारीफ़। इतनी भी आत्म-प्रशंसा क्या ?" मैंने उँगलियाँ नचाकर कहा।

वे बिना मेरे गुस्सेपर ध्यान दिये रसोईमें चले गये थे। एक हाथमें सिगरेट और दूसरेमें मैली तेल लगी-सी दियासलाई लिये निकले। कुर्सीपर बैठते हुए पूछा—"सिगरेट पी लूँ ?" बिना मेरे कुछ कहे ही एक सींक जलाई और शानसे सिगरेटसे लगाकर साँस खींचने लगे। गीली थी शायद, दियासलाई बुझ गई तो मैं चुभते व्यंग्यसे बोली—"और लीजिए, बड़ी शान दिखा रहे हैं कि लाट साहबोंकी तरह हम भी दियासलाई जलाकर सिगरेट पी सकते हैं। अरे, क्लर्कोंकी तरह घोंसला

बनाकर हैसियतसे जलाइए।" मुझे अपने इस व्यर्थके ग़ुस्सेपर ख़ुद ही हँसी आने लगी।

अब तक दूसरी दियासलाईसे सिगरेट जलाई जा चुकी थी। ज़ोरका कश खींचकर उदय बड़प्पन और समझदारीसे मुसकराये। बोले—"अच्छा जी?" फिर जैसे क्लर्क और हैसियतके जवाबमें मुँहके धुँएसे ही दियासलाई बुझाकर बोले—"हाँ तो फिर क्या हुआ आपकी प्रिंसेस साहिबाका?"

"जाइए, हम नहीं बताते।" मैंने झटकेसे मैडलका डिब्बा बन्द करके पर्समें रख लिया। फिर पर्सकी घुण्डी घुमाते हुए मनमें आया, यह क्या बचपना मैं कर रही हूँ? लगा; अपनी बात पूरी नहीं करूँगी तो रो पड़ूँगी। मुझे ऐसा लगा जैसे मेरी इस झुँझलाहटपर वे रीझ भरे स्वरमें कह उठेंगे: 'एक बार और!' और अपनी इस सारी हरकत और उनके इस तरह कहनेकी कल्पनापर ख़ुद ही हँसी आने लगी। लेकिन टूटी कहानीका प्रवाह ऐसा ज़ोर मार रहा था कि मैं सब कुछ भूलकर एकदम फिर बताने लगी। वे कभी मेरी ओर और कभी बाहर खिड़कीसे देखते हुए सिगरेट पीते रहे—अवचेतन मनमें उनकी भौंहें मुझे चुभती रहीं और तेजका ध्यान आता रहा। अपनेपर आश्चर्य भी हो रहा था कि इन दिनों तो मनको उलझाये रखने लायक़ कोई काम भी ऐसा नहीं था फिर भी तेजको तो जैसे एकदम भूल ही गई थी। कहीं यह भी ध्यान था कि मेरे सामने वे पहली बार सिगरेट पी रहे हैं। हाँ, तो मैं बता रही थी: "यहाँ तक तो मुझे ख़ुद भी उनका व्यवहार बड़ा अस्वाभाविक और नक़ली-नक़ली-सा लगा, लेकिन जब उन्होंने कहा कि—'अभी तक तो आपकी कहानियोंकी प्रशंसिका रही हूँ अब अपनी ऐक्टिंगसे भी आपने मोह लिया है।' तो मुझे लगा कि इसमें तो कुछ भी बनावट नहीं है। मैंने भी फिर बड़ी शिष्टतासे बातें कीं। वे बोलीं—'गाड़ी खड़ी है, अभी चल सकेंगी? मैंने चारों ओर देखा—'अभी?' बहुत नम्रतासे कहा—

'अभी तो सम्भव नहीं होगा। मेकअप वग़ैरा उतारते घण्टा-आध-घण्टा लग ही जायेगा। मैं आपको फोन कर दूँगी।' उन्होंने फ़ौरन पर्स खोल-कर एक छोटी-सी ख़ूबसूरत डायरीके पन्नेपर मेरा नम्बर लिखकर कहा—'सुजाता' नाम काफ़ी है न ?'—'जी' मैं बोली। वे उसी तरह चली गईं। जब विश्वास होगया कि चली ही गईं; तो सारी लड़कियाँ काँव-काँव करती चारों ओरसे लद आईं। मुझे खुद भी मन ही मन गर्व हुआ। हँसी भी आई—'राजकुमारी जी!...बाहर गाड़ी खड़ी है!"

एकदम बीचमें बात रोककर मैं देखनेके लिए रुकी कि वे अविश्वास तो नहीं कर रहे। वे उसी तरह सिगरेट पी रहे थे। "ख़ैर साहब, दूसरे दिन फोन पर बात-चीत हुई और दो-घण्टेमें ही लम्बी-चौड़ी सैवॉय घरके सामने आखड़ी हुई। सारे आस-पासवाले झाँक-झाँककर देखने लगे। अपनी बेटीके रौब देखकर अक्का भी बहुत खुश। और जब मैं गाड़ीमें बैठने जाने लगी तो अक्काने टोककर कहा—'अरी पूछ तो ले, किसकी है? कोई और ही चला आया हो। हाँ भैया, यह बम्बई है।' तो मैंने अविश्वास और निश्चयात्मकतासे हाथ हिला दिया—'क्या अक्का! तुम्हारे दिमाग़में भी एकदम अनहोनी बातें आती हैं।' ख़ैर, जब नीचे बैठकर ऊपर अक्कासे 'टा—टा' किया तो कहना ही क्या। उनका चेहरा चमकने लगा था; जैसे गाड़ी मेरी ही हो और उसे मैंने इनाममें पाया हो। बाल-कनीमें खड़े होकर पड़ोसियोंको, जो सबके सब कोई भी साधारण-सी बात होनेपर बाहर निकल-निकल खड़े हो जाते हैं, सुनाकर बोलीं—'कोई राजकुमारी सज्जीकी दोस्त है, उसीके यहाँ गई है। बहुत बड़े-बड़े लोग उसके दोस्त हैं।' और हम थे कि एक साथ पाँच-बोतल शराबके नशेमें उड़े चले जा रहे थे। बीचमें जब होश आया तो एकदम घबरा गई, लगा जैसे बिलकुल नई जगह गाड़ी चली जा रही हो। होश उड़ गये। हाय राम, कहीं मेरे साथ कोई धोखा तो नहीं हो गया! जाने कहाँ लिये चला जा रहा है? किसी उल्टी-सीधी जगह ले गया तो मैं क्या करूँगी? सच, मैंने

अकेले आकर बड़ी ग़लती की। मेरे पास तो कुछ ऐसा भी नहीं है कि वक्त़पर अपना बचाव कर सकूँ। कई बम्बइया-फ़िल्मोंके दृश्य आँखोंके सामने घूम गये। उस वक्त़ बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि आप कहीं किसी फ़ुटपाथपर जाते दीख जायें, तो बुलाकर बैठा लूँ। और जब यह डर दिमाग़में घुसा तो मैं ही जानती हूँ, किस तरह मैंने सारा रास्ता साँस रोककर काटा है। अचानक जब मैंने पाया कि मैं तो चौपाटीसे मैरीन ड्राइव-की कमान जैसी सड़कपर चली जा रही हूँ तो ज़रा कुछ हिम्मत बँधी! अपने ऊपर क्रोध और हँसी दोनों आये। मेरी भी कैसी गंदी आदत है इतनी जल्दी घबरानेकी। ख़ैर, मैरीन-ड्राइवके ठीक बीचमें एक बिल्डिंगके पोर्चमें गाड़ी खड़ी करके जब टिप-टॉप वर्दीधारी ड्राइवरने दरवाज़ा खोला तो पता चला, अब उतरना है। छः-सात मंज़िलकी ऊँची बिल्डिंगपर गुजरातीमें लिखा था—'वीचि-विलास'। बुशर्ट और पेण्ट पहने एक साहबने कहा—'आइए!' तो उनके अदबके लहजेसे चौंककर मैंने उधर देखा। गोरे रंगपर महाराणा प्रताप जैसी लम्बी-लम्बी मूछें, मानो ऊपरसे चिपका ली हों, हाथमें एक हाथ-भरका डण्डा। उनके साथ लिफ़्टके सहारे पाँचवीं मंज़िलपर जा पहुँचे। एकदम नये ढंगकी लिफ़्ट, खट्-खट् नम्बर आते चले जा रहे थे। पाँच नम्बरपर लिफ़्ट अपने आप रुकी और खुल गई। चमड़ेके पट्टोंपर ब्रिचिस और बटनदार कमीज़के कन्धेपर चमकदार गोलियोंकी पेटी चढ़ाये दो सिपाही बन्दूक़ लिये खड़े थे। मेरा दिल फिर धाड़-धाड़ बजने लगा : भगवान्, कहाँ फँसी मैं? आये दिन यहाँ जाने कितनी इस तरहकी घटनाएँ होती रहती हैं। कहीं कुछ ऐसा वैसा न हो जाये। घर पता भी लग पायेगा या नहीं। अक्का यहाँका ठिकाना भी तो नहीं जानती। कमसे कम मुझे यहाँका टेलीफोन नम्बर तो लिख ही आना चाहिए था। इन्क्वायरीमें पूछकर ही वे लोग नाम-पता जान लेते।

"मगर इस डरके ऊपर कहानी-लेखिकाकी जिज्ञासा थी, एक आत्म-

विश्वास था कि मैं खिंची चली गई। मेरे साथवाले वे साहब मुझे रास्ता-सा दिखाते चले जा रहे थे। बड़ा भारी दरवाज़ा खुला तो शानदार ड्रॉइंगरूम सामने था। दुनियाभरके कौच, कुर्सियाँ, मेज़ें, सजावटकी चीज़ें, दीवारोंपर लगे पथराई-पथराई निस्तेज आँखोंसे घूरते शेर, बारह-सिंघों और हिरनोंके सिर, सुनहरे चौखटोंवाले आदमक़द पेंटिंग। भीतर क़दम रक्खा तो पाँव क़ालीनमें टखनों तक धुस गया। मेरे सामने तो चकाचौंध छा गया, जैसे सपनेमें किसी अतीन्द्रिय-लोकमें चली जा रही हूँ। खैर, उस कमरेको पार किया। सामनेकी पूरी दीवारपर भारी-भारी पर्दे लटके थे—बिलकुल जैसे किसी अँग्रेज़ी फ़िल्ममें आ गये हों। पर्दे हटे। देखा कि बड़े-बड़े लकड़ीके फ़्रेमोंकी, इधर-उधर सरकनेवाली शीशेकी दीवार थी। इस दीवारके एक छोटे-से दरार जैसे दरवाज़ेसे निकले तो बन्द बरामदेनुमा हल्के-हल्के हरे दूधियाशेडवाला लम्बा-सा कमरा था। इसकी सड़ककी ओर खुलनेवाली दो-एक खिड़कियोंको छोड़कर बाक़ी सब बन्द थीं।…"

मैं ज़रा देरको फिर रुकी। उदयने सिगरेट समाप्त कर दी थी और कुर्सीकी दोनों बाँहोंपर कुहनियाँ टेके इस तरह बैठे थे कि दोनों हाथ साँप-के फनोंकी तरह इधर-उधर उठ आये थे। वे एकटक धरतीकी ओर देखते मेरी बात चुपचाप सुन रहे थे। यह जाननेके लिए कि वे मेरी बात सुन भी रहे हैं या अपनेमें ही डूबे हैं, मैं एकदम चुप हो गई। जब कुछ देर वे कुछ नहीं बोले तो बड़ी झल्लाहट हुई : अजब भोंदू हैं, मैं तो इतनी रोचक बात बता रही हूँ, और आप हैं कि इस समय जाने कहाँ खोये हैं। पूछा : "सो गये क्या ?"

"नहीं तो। मैंने समझा कि तुम खुद अगली बात सोच रही हो।" उन्होंने दोनों पंजे आपसमें फँसाकर मुट्ठा बनाली और दोनों अँगूठोंको नाकके नीचे होठोंपर रखकर हिलाते गम्भीरतासे सोचते रहे, जैसे जाड़ेमें ठिठुरे बैठे हों।

उत्साहसे मैं आगे बताने लगी (क्या मैंने उस दिनकी डायरी इसीलिए नहीं लिखी अलगसे, कि उन्हें बताऊँगी ?) "वहाँपर इसी रंगके मलाया-केनका फ़र्नीचर था। सामनेकी कई खिड़कियोंके दरवाज़े खुले थे और उनके पार सागर लहरा रहा था। पर्दे झूल रहे थे। मनमें आया कि झाँककर देखूँ, लेकिन शिष्टताके नाते यों ही रही। एक तरफ़ दो आराम-कुर्सियोंके बीचमें छोटी-सी शीशेकी सतहवाली साइड-टेबिल रक्खी थी। कुर्सियोंपर मोटे गद्दे थे। उन मुछाड़ी साहबने वहीं बैठनेका शिष्टता-पूर्वक संकेत करके कहा—'आप एक मिनट पधारें। राजकुमारीजी अभी आते हैं।'"

"मैं चुपचाप बैठ गई। सामनेवाली कुर्सीकी बग़लमें ही छोटी-सी टी-टेबिल भी बाक़ी फ़र्नीचर जैसी ही थी। उसपर सफ़ेद टेलीफोन रक्खा था, सचमुच समुद्रके किनारेकी यह जगह बड़ी रोमैण्टिक थी। नीचे सड़कका शोर यहाँ नहीं आ पाता था। शहरके शेष कोलाहलके साथ मिलकर एक मिली-जुली-सी भनक जैसी आती थी—जिसमें बीच-बीचमें रह-रहकर कारोंके हॉर्न बज उठते थे। खिड़कियोंके बीचवाले हिस्सोंमें मेजोंपर रक्खे शीशेके केसोंमें मछलियाँ तैर रही थीं। बार-बार मनमें आता कि बाहर झाँककर देखूँ। बिलकुल ऐसा लगता था जैसे आसमानके किसी बादल-महलमें बैठी हूँ। सागर पहले मटमैला था और फिर एकदम नीला होता चला गया था। बीच-बीचमें लहरोंके झाग गोटोंकी तरह धूपमें चमक उठते थे। क्षितिजकी नीलिमामें दूर पालोंवाली नावें दिखाई देती थीं और उनके ऊपर चीलें तैर रही थी। मनमें एक गुदगुदी और सिहरन-सी भर आती थी। तभी एक ओरका पर्दा हटाकर अपर्णाजीने प्रवेश किया : वही सौम्य गम्भीर मूर्ति और अभ्यस्त मुसकराहट। मैं उठ खड़ी हुई। दोनों ओरसे नमस्कार हुए और हमलोग फिर बैठ गये। राजकुमारियोंका जो नक्शा मेरे दिमाग़में था वह एक बहुत ही उद्धत और उद्दण्ड क़िस्मकी लड़कीका था। बॉब्ड-हेयर, आधा शरीर ढँकता ब्लाउज़, बड़ी ही संक्षिप्त-

सी लापरवाहीसे घिसटती साड़ी, और चीखती लिप्स्टिक, रँगा हुआ मुँह और तराशी भौंहे, चंचल आँखें, मटकता शरीर और बेलगाम ज़बान, हाथमें सिगरेट। यह तस्वीर मेरे दिमाग़में राजकुमारियोंकी थी। इसके साथ ही पता नहीं क्यों, यह बात भी मेरे दिमाग़में भरी हुई थी कि हर राजकुमारीको या तो शराबका पैग लेकर उसपर आँखें गड़ाये आना चाहिए या नशेमें 'धुत्' झूमते-झामते और घिसटते लड़खड़ाते किसी तरह कुर्सीपर आकर पड़ जाना चाहिए। लटकती गर्दन और भारी पलकोंको बड़ी मुश्किलसे उठाकर हाथ झटकारते हुए बेताबीसे सामनेवालेसे नकियाये स्वर-में पूछना चाहिए: 'बोलो, बोलो क्याँ है। जल्दी बोलो। अमें फ़ुरसॉत नांई एँ। जॅल्दी कंहों' लेकिन इस राजकुमारीने ऐसा कुछ भी नहीं किया। वह पूरे होश-हवासमें थी। यही देखनेके लिए बातोंके दौरानमें मैं अपना मुँह बादमें उसके मुँहके पास भी ले गई कि किसी तरहकी बू आये तो मेरे अनुमानको बल मिले। गुलाबी साड़ी ज़रूर उसने उल्टे-पल्लेकी पहन ली थी; लेकिन वह चटक-मटक उसमें ज़रा भी नहीं थी। बैठते ही पूछा—'आपको आनेमें तकलीफ़ तो नहीं हुई? माफ़ कीजिए, मुझे ज़रा-सी देर हो गई। अच्छा बताइए अब आप कोल्ड लेंगी या हॉट?'

'जी नहीं, मुझे तो इच्छा नहीं है।' मैंने हाथ जोड़कर नम्रतासे जवाब दिया।

'नहीं, यह कैसे होगा? यों नहीं, कुछ तो लेना ही होगा। इसके बाद हमलोग नाश्ता करेंगे, जूस, स्क्वैश, शर्बत, साइडर जो भी कहें। या फिर चाय, कॉफ़ी, चॉकलेट, कोको, दूध?'

मैं जान गई कि मुझे नाम सुनाये जा रहे हैं। 'नहीं जी, मेरी तो क़तई इच्छा नहीं है।' फिर यह सोचकर कि ज़्यादा इन्कार भी तो अच्छा नहीं लगता, मैंने कह दिया—'अच्छा जो आप लेंगी, वही मैं भी ले लूँगी।'

उन्होंने बिना आवाज़ ज़रा भी ऊँची उठाये ही कहा: 'सुनिए।'

और पर्देके पीछेसे (पता नहीं कहाँ छिपे खड़े थे) वही मुछाड़ी-साहब प्रकट हुए। अदबसे बोले : 'जी सरकार।'

'देखिए, दो पाइनएँपिल भिजवा दीजिए।'

'बहुत अच्छा सरकार'

जब वे चले गये तो स्वाभाविक मुद्रामें राजकुमारी बोली : 'उस दिन आपका अभिनय सचमुच बड़ा ही सुन्दर रहा।'

मुझे राजकुमारीका हिन्दी उच्चारण और बोलनेका लहजा शुरूसे ही प्रभावित कर रहा था। जाने क्यों, यह बात भी मेरे दिमाग़में भरी थी कि राजकुमारियाँ बात-बातमें अँग्रेज़ी झाड़ती हैं और भयानक उर्दू बोलती हैं। मैंने संकोचसे कहा : 'कहाँ! वह तो उलटा-सीधा यों ही कुछ कर दिया।'

'यहाँ तो जो ड्रामे-सिनेमा होते हैं, वे सचमुच ऐसे थर्ड-रेट और बोर होते हैं कि मैं कभी नहीं जाती। वही नक़ली बात-चीत और वही-उछल-कूद और बदतमीज़ी! अखबार उठाकर आप देख लीजिए तो पता चले जैसे यहाँ जितने भी ऐक्टर-ऐक्ट्रैस हैं वे सब एकसे एक ऊँचे खान-दानोंसे चले आ रहे हैं। सिनेमाके बाद या तो सारा वक्त इनका गृहस्थी चलानेमें या ऊँचेसे ऊँचा साहित्य पढ़नेमें गुज़रता है। किसीको टॉल्सटाय पसन्द है तो किसीको गेटे, किसीको शेक्सपियरने मुग्ध कर रक्खा है तो कोई रोम्यां-रोलाँपर जान देता है। गीता जिसे आत्मिक शान्ति न देती हो ऐसा तो हिन्दुस्तानका शायद ही कोई नेता-अभिनेता मिलेगा और मिलकर देखिए तो कम्बख्तोंसे एक शब्द बोलना तक नहीं आता। खुद दस्तखत करनेमें हाथ काँपते हैं। किरायेके लेख और डायरी लिखा-लिखाकर छपाते रहते हैं। आलमारीमें किताबें लगालीं, एक किताब हाथमें खोलकर पकड़ ली और तस्वीर खिंचवा ली। मैं तो अक्सर इनसे मिल चुकी हूँ, और मिलते ही ऐसी नफ़रत होती है कि बाहर खड़ा करवाके हन्टर लगवाये जायें तो तबी-यत ठिकाने आ जाये। औरत होनेकी वजहसे ज़रा लिफ्ट क्या मिल जाती

है कि बस, अपनेको ख़ुदा ही समझने लगती हैं।' फिर अपनी बातपर एकदम रोक लगाकर बोली—'आपकी कहानियोंकी तो मैं पुरानी पाठिका हूँ। और इसी रूपमें जानती थी आपको। आप ऐसी मंजी हुई अभिनेत्री भी हैं, यह मैं नहीं समझती थी' उसकी इस बातमें मुझे आपकी बात याद आ गई कि लड़की तो जन्मना ही अभिनेत्री होती है। सचमुच कितने रोल हम लोगोंको एक साथ निभाने पड़ते हैं। ख़ैर इसके बाद जो बातचीत साहित्यपर हुई है कि मैं तो चकित रह गई। वाक़ई, उस क़म्बख़्तने कितना पढ़ रक्खा था। आप जानते ही हैं, कि यहाँ तो पढ़ने-लिखनेके नाम गोल हैं। उस वक़्त अपनी इज़्ज़त बचानी मुश्किल हो गई। नईसे नई चीज़ उसने पढ़ रक्खी थी और याद कितना था! मैं तो समझती थी कि इसको इतनी फ़ुरसत कहाँ होती होगी। लेकिन लगता था जैसे वह तो चौबीसों घण्टे बस पढ़ती ही रहती थी। आपकी बात भी उसी दौरानमें आ गई थी···" मैं बात कहते-कहते जान-बूझकर रुक गई।

उदय चौंक पड़े। मुँहसे निकला—"मेरी?" और बिना कुछ बोले इस आशासे देखते रहे कि मैं आगे बोलूँ। बोलते हुए भी मैं सचेत थी कि कमरा अकेला है और उनकी निगाहें मेरे शरीरके विभिन्न अंगोंपर घूम रही हैं। जब कभी भी ऐसा लगता कि उनकी निगाहें मेरे मुँहपर जम गई हैं तो उमड़ती लज्जाको मैं बड़ी मुश्किलसे दबा पाती।

मैंने अपनी बात जारी रक्खी: "बहुतसे साहित्यकारोंकी बातें आईं। तब मैंने पूछ लिया—'आपने उदयजीकी कोई चीज़ पढ़ी है? पहले तो नाम ही याद नहीं आया। फिर बड़ी मुश्किलसे याद करके बोली "हाँ, कुछ ध्यान तो पड़ता है थोड़ा। कभी कुछ देखा है शायद कहीं? बहुत पसन्द नहीं आया होगा, वर्ना ज़रूर पढ़ती। मेरी पसन्दके लेखक दूसरे हैं।' और फिर वह उन लोगोंके नाम बतातीं रहीं, जिनकी कोई भी चीज़ उसे अच्छी लगी थी। आपका नाम वहाँ भी याद नहीं आया। मैंने फिर

पूछा—'आपने उदयका नया उपन्यास पढ़ा है?' तो बताया—'याद आया, अभी उस दिन दिखाने लाया था एजेण्ट। कोई खास अच्छा तो लगा नहीं। इसीलिए लौटा दिया।' मैंने तो कह दिया—'वे खुद अगर कहीं अपने बारेमें आपके यह विचार सुनलें तो हार्टफ़ेल हो जाये।' 'उसने पूछा :' क्यों, आप क्या उन्हें जानती हैं?' 'यहीं बम्बईमें तो रहते हैं आजकल।' मैंने बताया—'अपनेको आजके लेखकोंमें सबसे अच्छा बताते हैं। हरवक्त जेबमें चिट्ठियोंके सर्टिफ़िकेट लिये घूमते हैं।''—अपनी बात फिर तोड़कर मैंने उदयको चिढ़ानेको उनकी तरफ़ देखा।

"तुमने कहा यह सब?" वे ग़ुर्राकर बोले—लेकिन चेहरा देखकर मेरी नीयत समझ गये थे, यह उनके नाराज़ होनेके नक़ली ढंगसे साफ़ था। "जाने किस सड़क चलतीने आपको प्रभावित कर लिया, अब आप उसके वाक्योंको गीताके श्लोकोंकी तरह कोट कर रही हैं। अपने नये उपन्यासमें तुम्हें ही नहीं खींचा तो नाम नहीं···।"

"आपको बीस बार बता दिया कि इन सब धमकियोंका यहाँ असर नहीं होता। हम भी यही काम करते हैं।" मैंने उनके कुछ भी कहनेसे पहले ही कहा—"फिर मैं झूठ क्यों बोलती?" आगे धृष्टतापूर्वक अपने क़िस्सेको ज़रा-सा रंग देते हुए मैंने बताया: "हाँ तो, बड़ी घृणासे नाक-भौं सिकोड़कर बोली—'देखिए, मुझे पढ़नेका शौक़ है, किताबें और पत्रिकाएँ मँगाती हूँ और पढ़ती हूँ, लेकिन इन लेखकों-कलाकारोंसे मिलनेमें मुझे क़तई दिलचस्पी नहीं है। एक तो इनके मैनर्स और व्यवहारका ढंग बड़ा अजब होता है। ये लोग बुरे होते हैं या असभ्य होते हैं, ऐसा मैं नहीं कहती; लेकिन वह सब कमसे कम अपन लोगोंको बहुत अटपटा लगता है। कहूँ कि अच्छा नहीं लगता। फिर मेरा इन लोगोंके बारेमें अनुभव अच्छा नहीं है। पहले-दूसरे परिचयमें ही ये लोग या तो पैसे माँगने लगते हैं या कोई न कोई अशिष्ट हरकत कर बैठते हैं। मुश्किल

यह है कि ज़रा ढंगसे बोल दीजिए तो इन्हें मुग़ालता हो जाता है कि इनसे प्रेम किया जा रहा है। उस वक़्त ये लोग अपना चेहरा अगर शीशेमें देख लें तो इस भ्रमकी शुरूआत ही न हो। मैं यह नहीं कहती कि सहज मानवीय सम्बन्धके लिए कोई अलग जात-पाँत होती है, या अलग वर्ग होते हैं। सामाजिक ऊँचाई-नीचाई या देश-प्रान्तकी दूरियोंको लाँघकर भी प्रेम होता है, सही है। और शायद प्रेमको जो इतना महान् और सामर्थ्यवान् बताया गया है वह उसकी यह निर्बाध शक्ति देखकर ही। लेकिन एक बात मेरी समझमें आज तक नहीं आई। आप मेरी शंका अच्छी तरह समझ सकेंगी, अगर समझा सकें तो समझा दीजिए। जिसे आप चाहें या प्यार करें, उसे आप रुपया-पैसा क्या, सभी कुछ दे सकती हैं, कभी-कभी प्राण भी। और शायद देना तो पुरुष जानता ही नहीं, नारी हमेशासे अपने आपको लुटाती आई है। जब देनेपर आती है तो अपना सब कुछ दे डालती है—धन, दौलत, इज्ज़त, भविष्य और जीवनतक। लेकिन मेरा तो खयाल है कि वह भीख नहीं देती, अमानत देती है। वह घरकी चाबी दे डालेगी, उसीको, जो उसको सँभालकर रख सके। आप कहेंगी कि मैं कैसी बात करती हूँ, लेकिन आपने देखा होगा कि भीख देनेमें हमलोगोंसे कंजूस प्राणी शायद ही आपको मिले। ये लोग भीख माँगने आते हैं, अधिकार माँगने नहीं। और इसे मेरा दम्भ कहलें, कलाके नामपर यह मैं नहीं कर सकती।' मैंने देखा कि राजकुमारीके बोलनेका ढंग ही सधा और आत्म-विश्वाससे भरा नहीं था, अपनी बातको तर्कपूर्ण ढंगसे रखनेकी कला भी उसके पास थी।

"इसके बाद फिर जाने कहाँ-कहाँ दुनियाभरकी बातें होती रहीं। उसने मुझे अपनी लाइब्रेरी दिखाई। मुझसे जब नहीं रहा गया तो मैंने पूछा—'आप किस यूनिवर्सिटीमें पढ़ी हैं?' वह खिलखिलाकर हँस पड़ी—'आपको यूनिवर्सिटीमें पढ़ी लगती हूँ? अच्छा, कहाँ तक पढ़ी लगती हूँ? छोड़िए, आपको भ्रम बना रहे, यही अच्छा है। लेकिन समझ रखिए,

मैं बिलकुल भी पढ़ी-लिखी नहीं हूँ । यों ही शौक़ है, सो कभी सितारपर निकलता है, कभी साहित्यपर । फिर कभी सिनेमा जानेका मन होता है तो अंग्रेज़ी खेल देखने चली जाती हूँ । अभी दो खेल बड़े गज़बके देखे हैं—'द किंग एण्ड आई' और' एन अफेयर टु रिमेम्बर' । सुनते हैं 'वार एण्ड पीस' आ रहा है, आपको शौक़ हो तो साथ ही देखेंगे ।' इसके बाद खाना खिलाया । जब दो ढाई घण्टे हो गये तो मुझे लगा कितनी देर हो गई है । मैंने जानेकी हठ की । बोली : 'अगर आपको कोई आपत्ति न हो तो कभी-कभी इधर आया करें । केवल तक़ल्लुफ़में नहीं कह रही । सचमुच मुझे ख़ुशी होगी । यहाँ अपने शौक़ और ढंगका कोई आदमी नहीं है । बस, सभीको हर वक्त नाच, गाना, ये पार्टी, वो कॉक-टेल, कारें, विज़िट्स, ट्रिप, एक्सकर्शन्स, सिनेमा, पिकनिक, होटल, रेस, कपड़े, हीरे, डांस वग़ैरा—यही बातें रहती हैं । यों फँस जाते हैं तो सभी कुछ करना पड़ता है, क्या करें; समाजकी एक ज़िम्मेदारी है, लेकिन मन नहीं करता । मैं तो बचती हूँ । प्राय: नहीं ही जाती । लेकिन कोई बात करनेवाला तक नहीं मिलता । कभी-कभी मन होता है कि बहुत सादेसे कपड़े पहनकर यहाँकी लोकलके थर्ड क्लासमें सफ़र किया जाय, कभी किसी फ़ुटपाथवालेसे चाय पीनेको मन करता है, लेकिन 'कोई क्या कहेगा' का भूत हमेशा सरपर सवार रहता है । फिर देखिए, हरेकके साथ मिलें, उठें-बैठें प्रैक्टिकल रूपमें न इस बातकी हिम्मत है, न आशा । आप शायद न जानती हों, हमलोगोंमें तो ये साहित्य, कला वग़ैरा बड़ी फ़ालतूकी चीज़ें समझी जाती हैं । ऐक्टिंग देखकर उसे सराहनेकी बजाय यहाँ तो लोग ऐक्ट्रैस या नर्तकीको लेकर फ़ॉक्सट्रॉट डांस करना ज्यादा पसंद करते हैं । आप संस्कार कह लीजिए या भ्रम कि इस सबमें मन बहुत अधिक नहीं रमता । मेरे अलग-अलग शौक़ हैं, और अलग-अलग दोस्त । साहित्य और उपन्यास-कहानी पढ़नेका मुझे शौक़ है, अगर आप उचित समझें तो कभी-कभी हमलोग मिल लिया करें ।'''मैंने भी

कहा—'इसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? इस बार मेरे फ़ाइनलके इम्तहान हैं, इसके बाद तो फिर फ़ुरसत ही फ़ुरसत है। यों भी चौबीस घण्टे पढ़ूँगी नहीं।' तो कहने लगी—'नहीं, आपत्तिकी बात इसलिए मैंने की कि आजकल प्रगतिवादका युग है, और आपलोग प्रायः हमें अच्छी निगाहोंसे नहीं देखते। आपकी निगाहोंमें हमलोग शोषक, अत्याचारी और सामंत-पूँजीपति; जाने क्या-क्या हैं। इसलिए आपको हमसे मिलनेमें शर्म भी लग सकती है···' मैं कुछ गम्भीर हो गई—'देखिए, वह एक पूरे वर्ग और व्यवस्थाकी बात है इसके लिए कोई एक व्यक्ति क्यों सज़ा भोगे ? अच्छेसे अच्छे व्यक्तिकी नीयतमें इसलिए विश्वास न किया जाय कि वह किसी विशेष वर्गमें पैदा हुआ है, यह सिद्धान्त मैं नहीं मानती। यह तो वही पुराना जात-पाँतवाला पचड़ा आ गया कि शूद्रके घरमें पैदा व्यक्तिके सारे गुणोंको नज़रंदाज़ कर दिया और उसे सारे अधिकारोंसे वंचित कर दिया। नहीं, राजकुमारी जी, मैं आदमियोंमें जात-पाँत नहीं मानती और न मेरा विश्वास छुआ-छूतमें है कि अमुकके घर जाने या उसे छूनेसे धर्म और जाति चले जाते हैं।' इसपर वह मुसकराती हुई चुप रहीं। फिर मैं किस वक्त मिलती हूँ यह पूछकर बोली—'हो सकता है मैं ख़ुद आऊँ।' मैंने एकदम कहा—'नहीं आप फोन कर लीजिए न। इसके बाद गाड़ी मुझे घर तक छोड़ गई।"

उदय आँखें यों ही अपलक खोले जाने क्या सोच रहे थे। मैं कुछ देर चुप रहकर बोली—"सचमुच, इससे मिलकर तो बिलकुल नहीं लगता कि किसी प्रिंसेससे मिलकर आ रही हूँ···ज़रा घमण्ड नहीं···ज़रा गर्व नहीं। पाँच मिनटमें तो हम लोग इस तरह घुल-मिलकर बातें करने लगे थे जैसे न जाने कबसे एक दूसरेको जानते हों। वर्षोंकी सहेलियोंकी तरह खुल गई वह तो। इसने तो इन लोगोंके बारेमें मेरे विचारोंको एकदम बदल दिया। मैं तो सोच भी नहीं सकती थी कि इतनी मिलन-सार और खुश-मिजाज़ होगी। हमलोग बैठे थे, तभी फोन आया। पता नहीं, दूसरी

तरफ़ कौन था। मैंने उसीकी तरफ़ वाले टुकड़े सुने—'चलो, चलो बहुत बनाओ मत। हमने भी दुनिया देखी है।'...'बस, दुनिया वही है जहाँ आप रहते हैं?'...'अच्छा, वीचिविलासके सामनेसे रात-दिन जो दुनिया गुज़रती है उसे क्या कहते हैं?'...'न सही पैदल चलनेवाले, हमारी आँखें बड़ी पारदर्शी हैं कारोंकी छतें भेदकर देख लेती हैं।' उधर कोई पुरुष था शायद। ऐसी हँस-हँसकर बातें कर रही थीं कि बस। फिर एकदम टेलीफोन रख दिया—'देखो, इस वक्त हम बहुत बिज़ी हैं, एक बहुत बड़ी लेखिका, अभिनेत्रीसे बातें कर रहे हैं।...''

"बस, बस। अब बहुत बोर हुए तुम्हारी प्रिंसेसकी बातोंसे।" ऊबकर उदयने हाथ झटकार दिये: "तुम लड़कियोंमें संतुलन नामकी कोई चीज़ होती है या नहीं? अब बस, एक मिल गई कोई चलती-फिरती तो लगी उसीके यश गाने।"

"यश गानेकी बात नहीं है। वाक़ई मुझे तो बड़ा ही दिलचस्प करैक्टर लगा है। मनमें आता है, उसपर ज़रूर कुछ लिखा जाय।"

"ज़रूर लिखो।" उदयने कहा: "हिन्दीमें ये राजा-राजकुमारी ही तो आनेको रह गये हैं न अब? प्रेमचन्दकी रानी जाह्नवी और प्रतापनारायण श्रीवास्तवके बाद हिन्दीवालोंने तो मानो इन लोगोंका बॉयकाट ही कर डाला था। अच्छा है, यह प्रायश्चित्त तुम्हारे ही हाथों हो। हमारा क्या है, अभी तक हम विदेशी उपन्यास कहानियोंमें ये राजा-ड्यूकोंकी कहानियाँ पढ़ा करते थे। अब हिन्दीमें पढ़ लेंगे।" फिर मुँहके आगे हाथ रखकर जँभाई लेते हुए बोले: 'अरे, मैं कहता हूँ इस सब चक्करोंमें मत पड़ो। इनमें वक्त बरबाद करोगी तो अपना लिखना भी भूल जाओगी। रईसोंके चोंचले हैं ये सब। यह वक्त है कुछ गम्भीरता और ईमानदारीसे लिख पढ़ डालो। बड़ी चली हैं, राजकुमारीजीका मनोरंजन करने।"

"आप तो यह सब कहेंगे ही। आपकी बुराई जो कर दी न।" उनकी बातमें शुद्ध ईर्ष्या है, यह मैं समझ गई।

"मेरी बुराई वह बेचारी क्या खाकर करेगी? बुराई और भलाईको आदमी गम्भीरता-पूर्वक तब ले जब किसी चीज़को समझता हो। एक तो बेचारी बेपढ़ी-लिखी और फिर लड़की। गिलोय और नीम चढ़ी।" उन्होंने उद्धत बनकर जवाब दिया। फिर टालकर बोले—"अच्छा जी, मारिए गोली। हमें क्या है? खूब दोस्ती कीजिए। अब कब जा रही हैं?"

"ज़रूर करेंगे। परसों ही जा रहे हैं।" फिर मैं गानेके लहजेमें बोली: "जलनेवाले जला करें…क़िस्मत हमारे साथ है।…" और एकदम उठ खड़ी हुई। घड़ी देखते ही ऊपरकी साँस ऊपर और नीचेकी नीचे रह गई: "हाय राम, आज मारे गये। पौने बारह। बातों-बातोंमें पता ही नहीं चला। कॉलेजसे रेखा सीधी घर गई होगी। कहीं अक्कासे न कह दिया हो…खैर नहीं है…। कितनी बातें की हैं आज....हद हो गई। आपके साथ तो पता ही नहीं लगता…कि" और अगली बात कहते-कहते मैं रुक गई। जीभ काट ली। सच है, जब-जब उदयके साथ बातें करने बैठी हूँ, समयका ध्यान ही नहीं रहता। इतना सब कह चुकनेके बाद पहले जो मनमें बेचैनी थी वह मानो शान्त हो गई। और जब मैं इस शान्तिको महसूस करनेके प्रति सचेत हुई तो खुद चौंक गई—ऐसा क्यों है? अच्छा, फिर सोचूँगी।

"ये रेखा कौन है?" वे बैठे-बैठे ही कह रहे थे—"ये भी कहींकी प्रिंसेस हैं क्या?"

"जी हाँ, प्रिंसेस हैं। देखें तो ग़श आ जायेगा। इतनी खूबसूरत लड़की देखी नहीं होगी।" मैं चिढ़कर बोली। लेकिन जवाबमें उनकी आँखोंमें अपने प्रति प्रशंसाका भाव मैंने स्पष्ट ही लक्ष्य किया। वे गहरी साँस लेकर बोले: "कहाँ भाई हम तो खुद ही किसी राजकुमारी-की मोटरके सामने ग़श खाकर गिरनेको तैयार हैं। किसी नाज़ुक हाथका स्पर्श तो मिले; वर्ना इस बन्द कमरेमें पड़े-पड़े ही किसी दिन आत्महत्या कर लेंगे…"

मैं बोली : "आत्महत्या क्यों करते हैं? अपनी रश्मिजीको बुला लीजिए न?" मैं खड़ी ही रही।

"यहाँ आकर मेरी और अपनी जान खानेके सिवा और वह करेगी क्या? सभी एकसे एक महान् हैं। किसीके दिमाग़ ही नहीं मिलते।"

मैंने इधर-उधर देखकर कहा : "वह आपका छोकरा कहाँ गया?"

"क्यों पानी-वानी चाहिए क्या? उसे तो सिंह साहबने नीचे ही डाँटकर भगा दिया होगा। वह यहाँका ऐतिहासिक व्यक्ति है। सिगरेट लाने भेजो तो मैटिनी-शो देखकर आता है। अब भुनभुनाते हुए सिंह साहब जा रहे हैं और उसे कान पकड़कर ला रहे हैं तमाचे जड़ते सिनेमा हाउससे निकालकर। कभी-कभी नाराज़ हो जाता है तो दिन-दिन ग़ायब रहता है। उसे अपने जैसे मालिक नहीं हैं, और हमें उस जैसे हीरो नहीं है, सो दोनोंकी निभ रही है। अभी जाते हुए सिंह साहबने कपड़े छीन-कर इण्डिया-वॉच मेकर्समें रख दिये होंगे और वे साहब शामको आ जायेंगे।"

"और खाना?"

"अभी नीचे ही जाऊँगा, सो खा लूँगा किसी ईरानीके यहाँ। एक राइसप्लेटमें काम चलता है।"

मैंने फिर कमरेको देखा और मनमें एक पिघलन-सी महसूस हुई। वे कुछ अजब काँपती आवाज़में बोले—"कॉलेज तो तुम्हारा आज गया ही। अब क्या कोई ख़ास जल्दी है? बैठो न?"

"जल्दी न हो तो सारे दिन यहीं बैठना है क्या?" उनके इस आत्मीय-अनुरोध और आवाज़के काँपनेपर भीतरसे सिहरकर, लेकिन बाहरसे मुसकराते हुए मैं बोली। पता नहीं किस मजबूरीमें फिर बैठ गई। मुझे ख़ुद लग रहा था कि यह मैं क्या कर रही हूँ। मुझे अब चल देना चाहिए, चल देना चाहिए। यह ठीक नहीं है। अब बैठे रहना उचित नहीं होगा। लेकिन पता नहीं, कौन था कि वहाँ बाँधे था और सारी स्थिति

को तोड़कर झटकेसे जानेका साहस नहीं आ पा रहा था। मैं बोली—"आज आपको लिखने भी नहीं दिया।"

"या आपको डर लगता है, अकेले एकान्तमें ?" वे उसी तरह बोलते रहे।

"डर किसका ?" मैं अतिरिक्त दृढ़तासे बोली—"लेकिन अब काफ़ी देर जो हो गई है।"

मेज़के ऊपरसे झुककर जब उन्होंने अपना एक हाथ मेरे सिरकी ओर बढ़ाया तो मैं बुरी तरह काँप उठी। हाय, मुझे क्या हो गया है, मैं यहाँसे उठकर भागती क्यों नहीं हूँ ? मैंने झटकेसे सिर पीछे हटा लिया और ज़रा-सा भौंहोंमें बल लाकर प्रश्न दृष्टिसे उनकी ओर देखा।

उदय बोले—"देखिए, जबसे आपका यह पिन या काँटा मुझे कष्ट दे रहा है। इसे ठीक कर लीजिए, वर्ना गिर-गिरा पड़ेगा।"

मैंने पीछेकी ओर दोनों हाथ करके देखा। सच ही एक काँटा बालोंसे दो-इंच बाहर निकल आया था। वे क्या सिर्फ़ इस काँटेको ही ठीक करनेके लिए मेरी ओर बढ़े थे ? तब सहसा मैं उठ खड़ी हुई : "अब चलूँगी।" मुझे लगा कि काँटेके बहाने जैसे उन्होंने दोनों हाथोंसे मेरा सिर पकड़ लिया हो और अपलक निगाहोंसे मेरी आँखोंको हिप्नोटाइज़ करने लगे हों...

"अच्छी बात है।" वे उठ खड़े हुए। बोले : "अगली बार कब मुलाक़ात हो रही है ?" इतने दिनोंमें मिलनेके बारेमें उनकी ओरसे यह पहला प्रश्न था।

"अब तो दो-तीन दिन फ़ुरसत नहीं है। बड़ी थकावट है। फिर आप जब कहें।" मैं मेज़के बीचसे निकलती बोली।

"तो नया कुछ नहीं लिखा ?" वे बढ़कर दरवाज़ेकी ओर आगये। साथ-साथ मैं भी दरवाज़ेकी ओर चलती बोली—"नहीं, अब तो राजकुमारी पर ही लिखूँगी, ऐसा लिखूँगी कि आप भी चकित रह जायेंगे।"

"तो अपनी प्रिंसेस साहिबासे मिलकर ही मिलो। उनके बराबर इम्पौर्टेण्ट थोड़े ही हैं हम- भाई। सुनेंगे क्या-क्या गप्पें हुई ?"

"अच्छी बात है।" मैं समझदारीसे हँसी। कहाँ तो उससे कुढ़ रहे थे और उसमें कहाँ इतनी दिलचस्पी दिखाने लगे।

और चटखनी खोलनेको जैसे ही मैंने हाथ बढ़ाया कि उनके हाथने बढ़कर चटखनी खोल दी। मुझे लगा उनका हाथ चटखनी खोलकर वहीं ठिठका। हमलोग इस समय बहुत ही पास-पास खड़े थे। जाने क्यों मुझे हर क्षण लगता था जैसे वे अभी झपटकर मुझे अपनी बाँहोंमें बाँध लेंगे और चुम्बनोंसे मेरा सारा मुँह ढँक देंगे। तब क्या करूँगी ? किधर भागूँगी ? कहीं मुँह बन्द कर लिया तो चीख भी नहीं पाऊँगी। मैंने निश्चय कर लिया कि अगर ऐसा कुछ भी इन्होंने मेरे साथ किया तो ज़ोरका धक्का देकर रसोई या बाथ-रूममें घुसकर किवाड़ बन्द कर लूँगी। खूब ज़ोरसे फिर शोर मचा दूँगी। बगलमें औरतें तो होंगी ही। मुँहमें कपड़ा-वपड़ा ठूँस दिया तो ? बलात्कारकी घटनाओंमें अक्सर ऐसा होता है। मैंने यहाँ आकर अच्छा नहीं किया। अब आगेसे नहीं आऊँगी। आज किसी तरह निकल जाऊँ। मैं यह सब तो सोचे जारही थी, लेकिन साथ-साथ मुझे रेखाकी बात भी याद आ रही थी। साथ ही मैं मन ही मन इस समय हो रही घटनाको भविष्यमें रेखा और राजकुमारीको सुनानेके लिए वाक्य भी बना रही थी कि, सारी बातें अगली बार मिलकर किस तरह बताऊँगी।

तभी उन्होंने किवाड़ खोल दिये और मैं बाहर आगई।

"नीचे तक चलूँ क्या ?" उदयने पूछा।

"नहीं···नहीं···क्या ज़रूरत है ? आप अब लिखें।" मैं अप्रत्याशित कृतज्ञतासे बोली। मनमें आया, हो सकता है जो बातें मैंने सोची थीं, वे सिर्फ़ मेरे दिमाग़की ही उपज हों। उनकी तरफ़से ऐसा कुछ न हो। लेकिन फिर खुद ही सवाल उठा : तो जो कुछ मैंने देखा या मह-

सूस किया वह सब झूठ था ? ऐसी परिस्थितियोंमें लड़कीका सहज-ज्ञान, पुरुषके मनको पढ़नेवाली आँखें क्या झूठी भी पड़ सकती हैं ?

और सीढ़ियाँ उतरते हुए मुझे लगा : 'छिः यह व्यक्ति तो बड़ा ही कमज़ोर और डरपोक है। इसमें तो इतना भी साहस नहीं आया कि आगे बढ़कर मेरे कन्धेपर हाथ रख देता !' अपने इस विचारसे मैं खुद ही डर गई। पहले भी इसी तरह किसी बातको सोचकर डरी थी। क्या थी वह ? तो क्या मैं ख़ुद यही चाहती थी···?···और एकदम इसका जवाब न मैं हाँ में दे सकती थी न 'ना' में···।

फिर डायरी खत्म करते-करते राजकुमारीकी भीखवाली बात याद हो आई है : क्या किसीको भीख देना और अपने व्यक्तित्व और हृदयका सर्वश्रेष्ठ अंश—सहानुभूति, दया, प्रेम या प्रशंसा देना समान क्रियाएँ हैं ? किसीकी भीख पाकर भिखारी कल बाज़ारमें जाकर अपनी ज़रूरतकी चीज़ें खरीदेगा; लेकिन हमारे मनके इन सर्वश्रेष्ठ मोतियोंको कोई 'भिखारी' यदि कल बाज़ारमें लेजाकर बेचना चाहे तो उसे देखकर हमें उतना ही संतोष होगा जितना भिखारीको अपने दानसे खाने-पीनेकी चीज़ें खरीदते देखकर होता है ?

बुध २६ : जून

डेढ़ बजेकी रात। चारों ओर छाई अद्भुत निस्तब्ध नीरवता··· दूर सागरकी एकरस गरज और रह-रहकर लहरोंका छहराना। अक्सर सोते-सोते जब आँखें खुलती हैं तो मुझे इस आवाज़को सुनकर ऐसा लगता है जैसे मैं किसी एक ऐसे सुनसान पहाड़ी द्वीपमें बने मकानके कमरेमें सोरही हूँ जिसके पास ही सैकड़ों फ़ीटसे एक ऊँचा झरना लगातार गिरे जारहा है। या जैसे कहीं टीनकी छतपर मूसलाधार पानी बरसे चला जा रहा है···। लोकल रेलकी सीटी और खटर-खट कभी-कभी गूँज

उठती है। बाहरका मैदान और मेरी खिड़कीसे दीखती धनुषाकार सड़कके खम्भोंकी रोशनीकी परछाईं मेरे कमरेके भीतर तक आ रही है, इसलिए अँधेरा घुप नहीं है। कभी-कभी सड़कसे हमारे घरकी ओर आती किसी टैक्सी या कारकी रोशनियाँ तस्वीरके फ़्रेम या खिड़कीके काँचोंमें कौंध जाती हैं, तो दिलमें जैसे कहीं कुछ 'भक्' से जल उठता है···। ग्यारह बजेसे भागते-भागते आज जब बिलकुल मजबूर हो गई हूँ तो पलंगपर लेटे-लेटे डायरी लिख रही हूँ। लगता है, आगे जाकर डायरी लिखना भी एक ऐसा नशा हो जाता है कि अगर न लिखो तो एक बोझ या क़र्ज़के रुपयों-सा दिमाग़पर छाया रहता है कि देना है, देना है।

पता नहीं, क्या-क्या मैं इन दिनोंमें सोचती रही हूँ—कोई ओर-छोर है? दुनियाभरकी बातें। पढ़ाई-लिखाईमें मन नहीं लगता। इम्तहान कितने पास आ गये हैं। मनके एक ओर यह प्रिंसेस हैं और दूसरी ओर उदय। प्रिंसेसकी एक-एक बात मनमें उभर-उभर आती है। किससे कहूँ कि देखो, मैं कितनी महत्त्वपूर्ण हूँ। या तो ये सारे लोग मज़ाक करते हैं, या सावधान रहनेको कहते हैं, जैसे उस महत्त्वको जान-बूझकर समझनेसे इन्कार कर देना चाहते हों। अभी-अभी पता नहीं, मनमें कैसी एक अजब बेचैनी-सी भर आई। लैम्प बुझाकर मैं पहले तो भीतर गई। बिट्टू घर्र-घर्र खर्राटे भरता सीढ़ियोंके पास बाल्कनीमें सो रहा था। रेखाकी बात याद हो आई तो खुद ही मुसकरा पड़ी और उसे सोता देखती रही। किसीको बिना जानने दिये, उसे देखना कैसा अच्छा लगता है कभी-कभी! मन हुआ कि इसे अकारण ही उठाकर बैठा दूँ और कहूँ कि एक तरफ़ हटकर सो, यहाँ क्यों सो रहा है··? लेकिन यह तो रोज़ यहीं सोता है···। अक्का और पापाके किवाड़ तो दस बजे ही बन्द हो गये थे। भैया पूना गये हैं दो दिनसे। शायद कल आयेंगे। क्या करूँ मैं? चुपचाप बाल्कनीके खम्भेसे लगी देखती रही···। पड़ौसके ऊपरवाले साहबकी खिड़की बुझी है। मैं इस आशासे खड़ी-खड़ी देखती रही जैसे कहीं कुछ

रहस्यमय होगा, मेरे सामने ही किसी अकेले जाते आदमीको अचानक पीछेसे छुरा मारकर कोई भाग जायेगा…या किसी खम्भेकी टेक लगाये किसी युगलको आलिंगनबद्ध देखूँगी…। इच्छा हो रही थी कि कुछ 'वर्जनीय', कुछ 'निषिद्ध' देखूँ…। कैसा सन्नाटा है! ऐसेमें इक्का-दुक्का लड़कीको कोई पकड़ ले तो बचानेवाला भी न आ पाये…। अपने-अपने पलंगोंपर सुखसे सोते हुए ये लोग एक भी उठकर नहीं आयेंगे। उस दिन उदयसे मुझे कितना डर लग आया था! कैसा लगता होगा बलात्कारके समय…? क्या एक बार इस अनुभवसे नहीं गुज़रा जा सकता? छिः…मेरे मनमें भी कैसी भद्दी-भद्दी बातें आने लगी हैं इन दिनों। पहले तो ये सब नहीं आती थीं…। ये रीढ़में ये चींटियाँ-सी जाने क्या रेंग रही हैं…?

एकाधको छोड़कर आस-पासके सारे फ्लैटोंकी बत्तियाँ बुझ चुकी हैं। बस, सीढ़ियोंमें जलते, ऊपरसे नीचेतक जानेवाली खिड़कियोंके अँधे-शीशोंकी रोशनी इस तरह दिखाई देती है जैसे किसीने जलते फ़ीते चिपका दिये हों।…अभी कोई टैक्सी किसी मकानके सामने आ खड़ी हुई है…। एक अकेली झूमती लड़खड़ाती छाया निकलती है…। अभी-अभी कारसे सेकेण्ड-शो देखकर आया हुआ जोड़ा निकला था…। टैक्सीका दरवाज़ा खुलता है, वहीं पैसे देने और मीटरका फ्लैग बदलनेकी किरकिराहट और घण्टीकी आवाज़…। टैक्सी घुर्र करके चल देती है…उसके पीछेकी लाल बत्तियाँ चमकती हुई, डूबती चली जाती हैं…तब तक कहीं घुटी-सी जगह-में डोर-बैलकी घनघनाहट सुनाई देती है। जब कहींकी रोशनी खट्से बुझ जाती है तब उधर ध्यान खिंचता है कि अरे, उधर भी जल रही थी…। बत्ती बुझते ही मनमें अजीब-सा कल्पना-चित्र आता है…। बाँहोंकी जकड़में पिसता कसमसाता शरीर…निरावृत करते और उसकी गतिविधिको बरजते दो हाथोंका लिपटी-लिपटी आलस्य भरी छीना-झपटी…। निःशब्द…लम्बी-लम्बी हाँफ़ती-सी साँसें और चार चिपके होंठ…मुँदती

पलकें और···रीतिकालीन नायिका शायद फूँक मारकर दीपक बुझा देती, यहाँ पायेके सहारे लटकते बैड-स्विच तक हाथका पहुँचना और···खट्। अफ़सोस होता—काश, ज़रा पहले मेरा ध्यान उधर चला गया होता तो शायद शीशोंपर कुछ छाया-चित्र देखनेको मिलते। अजीब है यह शहर भी···यहाँ तो अब ज़िन्दगी शुरू हुई होगी। कैसी होगी वह ज़िन्दगी···? आधी-रातको लोकल स्टेशनोंके पुलोंकी दादरों (सीढ़ियों) या पुलोंके नीचे दीवारकी बग़लमें कमरमें हाथ डाले हुए कोई एक दूसरेको सहारा दिये चढ़नेकी कोशिश कर रहा होगा···। कहीं कोई सागरके किनारेकी एक नितान्त अपरिचित जानी-पहचानी भावाकुल-व्यथामें डूबा होगा और कोई ताजमें कॉकटेटलका ग्लास सामने रक्खे झुकी-झुकी आँखोंसे एक दूसरेकी 'हैल्थ' पीता हुआ 'लिन' और 'लिस'के डांस देख रहा होगा···। अनिच्छा-पूर्वक ही सही, प्रिंसेस अपर्णाकी नंगी कमरपर किसीकी बाँह रक्खी होगी और एक वह ख़ास एंगिलसे उसके कन्धेपर हाथ रक्खे लहरोंकी उठान-गिरानपर वह मुँदी आँखों तैर रही होगी···टैंगो नाचकी लहरें—लहरें, जिन्हें हनुमान्‌जीकी दो गदाओं जैसे बड़े-बड़े झुनझुने हिलाते, काला-कोट और 'बो' बाँधे, किसी गोल-मटोलका ऑर्केस्ट्रा पैदा कर रहा होगा···किटर···किटर··· किट···तालपर काठके दो टुकड़े बज उठते होंगे···। रोशनी धुँधली होती चली जाती होगी···ऊपर आड़ी-तिरछी पतंगी क़ाग़ज़ोंकी छतसे झूलती मालाएँ और रंग-बिरंगे गुब्बारे मुँदी-मुँदी आँखोंमें स्वप्निल और इन्द्रधनुषी हो उठते होंगे···जैसे आनन्दकी लहरियोंके बुलबुले! मन होता है एकबार इस ज़िन्दगीको मैं भी ख़ूब भीतर तक डूबकर देखूँ···कैसा लगता है जब क्विक-स्टेप्स-आर्केस्टाके क्लाइमैक्सपर एकदम बत्तियाँ कम होते-होते बुझ-सी जाती हैं···'वॉल्ज़'में लहराते शरीर पास आ जाते हैं—और··· और प्रिंसेस यह सब करती है···? कैसी है यह भीतरसे···? मैं एक प्रिंसेसको जानती हूँ···प्रिंसेस अपर्णासे मेरी दोस्ती है···। हमलोगोंने दो-तीन घण्टे गप्पें लड़ाई हैं—(हद करदी पहली मुलाक़ातमें ही!) कल उसका

फोन आना चाहिए। लेकिन इस बातपर विश्वास नहीं होता! उसमें तो राजकुमारियों जैसी कोई बात ही नहीं! वह तो हमलोगों जैसी ही लड़की है…उन्हीं सब कमज़ोरियां और विशेषताओं वाली। सोचनेका ढंग भी कोई बहुत अलग नहीं है। वैसे ही बोलती है…रहती है…खाती है! कहीं भी तो कुछ विशेष नहीं है वह तो लड़की है…प्रिंसेस कहाँ है…?

एक नई चीज़ अपने भीतर मार्क कर रही हूँ…पहले किसी भी ऐसे व्यक्तिको देखती थी जो कुर्त्ता-पाजामा और जाकेट पहने हो या जिसके बाल गर्दनके पीछेसे अनकटे लगते हों तो लगता कि यह उदय हैं। इसी तरह सड़क चलते अब ऐसा लगता है जैसे अचानक पीछेसे आकर एक कार बग़लमें खड़ी हो जायेगी और साश्चर्य मैं देखूँगी कि यह तो प्रिंसेस अपर्णाने सहसा आकर मुझे चौंका दिया है। हर गाड़ीका हॉर्न या दूरसे आती आवाज़ मुझे उसकी गाड़ीकी याद दिला देती है। बम्बईके किसी भी कोनेमें मुझे लगता है कि जैसे कहीं किसी दूकानपर शॉपिंग करती हुई प्रिंसेस मुझे 'बस'से उतरती देख रही है, चलती देख रही है और मैं कांशस (सचेत) होकर चलने लगती हूँ…।

बृहस्पति : २७ जून—प्रातः

रातको देरसे सोई थी, डर था कि सुबह नौ तक न पड़ी रहूँ। बुलन्दशहरवाली मौसी तो ऐसे वक्त साफ़ ही कह देती थीं कि "जवानीकी नींद है। ऐसे ही थोड़े ही खुल जायेगी? घण्टे-घड़ियाल बजाये जायें, तो जागना।" लेकिन सुबह भी आँखें जल्दी ही खुल गई। रातभर नींद जैसे बड़ी उचटी-उचटी-सी रही। सोचा, तीन या साढ़े-तीन बजे होंगे। बहुत हुए तो चार। मन जब किसी तरह नहीं लगा तो फिर डायरीपर बोझ उतारने बैठ गई हूँ। घड़ी दराज़में बन्द है, कौन देखे।

समझमें नहीं आता, कि यह मुझे हो क्या गया है? नाटककी अपनी

सफलताको, लगता है, मैंने उतनी गहराईसे लिया ही नहीं जितनी गहराईसे लेना चाहिए था···। कितनी बड़ी उपलब्धि थी···। लगता है, जैसे कोई और भी बड़ा नाटक हो रहा है और मेरी सारी चेतना उसीमें उलझी है। उसे फुरसत ही नहीं है कि इन छोटे-मोटे बाहरी नाटकोंपर बहुत अधिक ध्यान दे पाये। कौन-कौन हैं उस बड़े नाटकके पात्र···? या यह भी हो सकता है कि प्रिंसेस अपर्णाका सराहना ही ऐसी बड़ी बात हो कि मैं उसीसे सन्तुष्ट हो गई हूँ···। उँह, होगा भी। यह हमेशा उदय और अपर्णाको लेकर ही सोचना···मानो मुझे करनेको और कोई काम ही नहीं? अभी जागते-जागते बड़ा अजब-सा सपना देखा था: मैरीन-ड्राइवपर एक बहुत बड़ा-सा फ्लैट है···सामने सागर मचलता है, चिकने-चिकने फ़र्श, खुली खिड़कियाँ···लेकिन न कहीं कोई फ़र्नीचर है न कहीं पर्दे···। एक चीखता-सा सूनापन है···। मैं ज़ोरसे कह उठती हूँ—देखिए, यहाँ तो फ़र्नीचर पर्दे सब लाने होंगे····।' एक दरवाज़ा खोलकर कनपटियोंपर हज़ामतका साबुन लगाये, हाथमें रेज़र लिये कोई निकलता है, साबुनका बड़ा-सा झाग रेज़रसे टपककर धरतीपर गिर पड़ता है···। मैं झिड़क देती हूँ—कर दिया न फ़र्श खराब···? तौलिया पहने ही बाथरूमसे निकल पड़े···। अब यहाँ आकर तो थोड़े ढंग सीख लीजिए।' कोशिश करनेपर भी उस व्यक्तिका चेहरा नहीं दीखता, साबुन दीखता है, रेज़र चलता दीखता है। बस चेहरा नहीं दीखता। लगता है उस व्यक्तिकी मूँछें महाराणा प्रताप जैसी हैं और उन्हें वह काट रहा है। मैं कहना चाहती हूँ कि जब काटना ही था तो इतनी मेहनत करके इन्हें बढ़ाया ही क्यों था? चेहरा क्यों नहीं पहचानमें आता, बड़ी अजब बात है? बाँसकी कुर्सीपर किसीकी पैण्ट और कमीज़ रक्खी है। एक मुड़ी-तुड़ी टाईको जाँघपर रखकर, उसपर हाथ फेरते हुए मैं सलवटें निकाल रही हूँ···। कहीं टेलीफोनकी घण्टी बज उठती है···। मैं देखती हूँ कि टेलीफोन-रिसीवर बड़ी-बड़ी मूँछोंके आकारका है। उठानेको हाथ बढ़ाती हूँ कि

मूँछोंके नीचे कोई खिलखिलाकर हँस पड़ता है—'कैसा बेवकूफ़ बनाया !' उसके हँसनेकी आवाज़ ऐसी ज़ोरसे खाली कमरेमें गूँजती है कि मैं चौंककर जाग उठती हूँ...! विचित्र सपना है...इस बार उदय मिलेंगे तो बताऊँगी...लेकिन नहीं, किसी कहानीमें इसका उपयोग करूँगी...। प्रिंसेसको तो बता ही दूँगी...।

अपर्णा और उदय, पता नहीं ये दो नाम क्यों मेरे दिमाग़में इन दिनों हमेशा साथ टकरा रहे हैं...। अपर्णा...उनकी बहनका भी तो नाम है...। तो क्या, यह उनकी बहन ही है...? मुझे तो कुछ गड़बड़ लगता है। नहीं-नहीं, ये अपर्णा नहीं होंगी। कहाँ यह, कहाँ वह? दो नाम मिल गये हैं...बस, एक संयोग है...। अच्छा, फिर यह रजनी या रश्मि कौन है...? तो सचमुच इनका और कई लड़कियोंसे सम्पर्क है? लोग झूठ नहीं कहते...। रजनी जो अर्थमें चाहे रात हो लेकिन उपन्यास में रश्मि बनकर आई है। कितना सूक्ष्म संकेत रक्खा है...(ख़ाक सूक्ष्म संकेत है!) रजनीने पढ़ा होगा तो कैसा लगा होगा उसे? उदयमें सच-मुच कलाकारके टच हैं।

मुझे उनकी जड़ निरुद्विग्नतासे जाने क्यों बड़ा डर लगता है। लगता है जैसे वे मेरा अध्ययन कर रहे हों...पढ़ रहे हों। उन्होंने ख़ुद कहा था। सचमुच मेरे ऊपर भी कुछ लिखेंगे क्या? देखूँ तो सही निगाहें कहाँ तक पहुँचती हैं...। लेकिन उस दिन...उस दिन अच्छा नहीं हुआ। जो कुछ मैं सोचे बैठी हूँ वह मेरा भ्रम था कि वास्तवमें बात सच थी? जो कुछ मैंने उनकी आँखोंमें देखा, जिसे वे सिगरेट पीनेके बहाने बहला रहे थे, अन्यमनस्क और विचार-मग्न होकर टाल रहे थे वह क्या था? चटखनी खोलते वक़्त मुझे ऐसा क्यों लगा जैसे किसीने मेरे जुड़े-को बहुत हौलेसे छुआ हो...(हुँह, पिन निकल आई थी।) जैसे मेरे कंधेपर रखते-रखते हाथ रह गया हो। वह सब ग़लत था? मेरे ही मन-का भ्रम था? मैं अब वहाँ कभी नहीं जाऊँगी। अकेलेमें मन अजब-

अजब-सा होने लगता है। मान लो, उनके मनमें ही कोई बात थी तो जब चटखनी खोलनेको मैंने हाथ बढ़ाया था उसीपर अपना हाथ रख सकते थे···। रखकर तो देखते···? वहीं, ज़ोरसे तमाचा देती खींचकर···'तड़ाक्' 'बाज़ारू समझा है क्या ?'' अच्छा, मानलो रख ही देते तो ?—हिम्मत ही नहीं थी। लड़कियोंकी बात सुनकर तो लाल-पीले होते हैं···। अगर उनके मनमें कुछ आ भी गया तो ऐसा बुरा था ? मेरे मनमें क्या नहीं आया था कि—जब वे सिगरेट पी रहे थे—इन पतली-पतली सल-वटों-सी धारियोंवाले होठोंसे होंठ छुलाकर देखूँ ? कैसा स्वाद होगा ? सिगरेट तो बड़ी चिरपरी होती है। बचपनमें पापाकी सिगरेट चुराकर पीने की कोशिश की थी, सिर भन्ना गया था, आँखोंसे आँसू निकल आये थे, गलेकी नसें उभर आई थीं। बहुत दिन हो गये होठोंका 'स्वाद' चखे भी···। पहले तेजके साथ···। अच्छा, उदयने अभी तक कितने होठोंका स्वाद देखा होगा···? छिश्ट, क्या बेहूदी बातें सोच रही हूँ मैं भी ! तो भी···एक तो रजनी है ही···अपर्णा ? नहीं, अपर्णा तो बहन है बड़ी। हाँ-हाँ, सभी बहनें ही होती हैं···। और भी कुछ होंगी···।

तो क्या, सच ही उदयका मामला आज यहाँ, कल वहाँ वाला है ? लेकिन चेहरे और बातोंसे तो ऐसे लगते नहीं हैं। बहुत लोग वैसे थोड़े ही होते हैं जैसे लगते हैं। तेज ऐसा ही था जैसा आज हो गया है ? इनकी भौहें देखकर मुझे तेजकी याद पहले क्यों आया करती थी ? एक दिन जाने किस झोंकमें मैंने ख़त लिखा था, फिर फाड़ दिया : ''तेज, तुम मेरे जीवनके एक करुण प्रसंग रहे हो। क्या-क्या सपने मैंने तुम्हारे साथ नहीं देखे थे ?—कौन-कौनसे महल मैंने तुम्हारे लिए नहीं बनाये थे ? और तुमने जो कुछ किया, बदलेमें जो एक अविश्वास, एक तलख़ी, एक ऐसी चिड़चिड़ाहट मुझे दे दी कि मेरा सारा व्यक्तित्व बिखर उठा, और मैं टुकड़ों-टुकड़ोंमें बँट गई। और क्या कहूँ अब तुम्हें ? तुम मेरे अस्तित्वके अंश थे, मैं तुम्हारे ख़यालोंमें रहा करती थी। ख़ैर, भगवान्

करे, तुम जहाँ भी रहो सुखी रहो...और मैं...मैं कितना रोई थी, जानोगे ? क्या करोगे जानकर ? हम हिन्दुस्तानी लड़कियोंको चुप-चुप रोनेका रोग है...जैसे अगरबत्ती चुप-चुप जलती है...। अंग्रेज़ लड़कियोंकी तरह हमारा प्रेम न तो किलकारियों, और क़हक़होंवाले उन्मुक्त आलिंगनोंमें निकलता है, न हमारा क्रोध हिस्टीरियाके दौरों जैसी चीख़ोंमें। चाहो तो कह लो कि हम लोगोंमें जीवनकी कमी है। इसीलिए न तो खुले और सम्पूर्ण मनसे प्यार कर सकती हैं, न क्रोध।" इसीलिए चुपचाप, रातों रोती रही थी। वह सब कुछ ठण्डा हो गया, लेकिन अब भी कभी-कभी जाने कैसा भूत सवार होता है, मन होता है कि कमरेके सारे किवाड़ बन्द कर लूँ, और दूरसे ज़ोरसे भागकर आऊँ, एक-एकको ठोकर मारकर खोल दूँ—भड़ाक्! बेतहाशा कैंडल रोडपर भागूँ...भागती ही चली जाऊँ...भागती चली जाऊँ...। सारे कपड़े अस्तव्यस्त हो जायें...। बाल्कनीके खम्भेको धृतराष्ट्र-के भीमकी तरह ऐसी ज़ोरसे भींचूँ कि चूर-चूर होकर बिखर जायें...। पता नहीं, क्या-क्या करनेको मन करता है....हर पुरुषसे, हर छोटे-बड़े लड़केसे खिलवाड़ करनेकी इच्छा होती है। बस पर चढ़ते हुए, साथ बैठते-उठते हुए ज़रा-सी कुहनीका टहोका मार दूँ और जब वह कुछ करें तो सैण्डिल उतारकर दो दूँ भरी भीड़में, दिन दहाड़े...फ़टाक्...फ़टाक्। मज़ा आ जाय।

कहीं उदयके साथ खिलवाड़ करनेमें यही मनोवृत्ति तो नहीं है? तो मैं उदयके साथ भी 'खिलवाड़' ही कर रही हूँ? नहीं! उसमें ऐसी क्या बात है कि मैं खिलवाड़ करूँ? बहुत सुन्दर?—नहीं। धनी?—नहीं। प्रभावशाली?—शायद नहीं...नहीं...नहीं। तो फिर मुझे आज अपने और उदयके सम्बन्धोंको साफ़ कर लेना होगा, ताकि किसी प्रकारके भ्रमकी कोई गुंजायश रह ही न जाये। हाँ, उदयसे मेरा सम्बन्ध मात्र मित्रताका है। हमारे और उनके बीचमें एक कॉमन आधार है—लिखना। वे ज़रा पहलेसे इस लाइनमें हैं, जमे हुए हैं और मुझे उनसे कुछ सीखना है,

लेना है। मित्रके रूपमें वे मेरे अध्ययनके ऑब्जैक्ट हैं, कहानीके विषय हैं। 'विषय' की तटस्थता और निर्लिप्ततासे ही मुझे खतरनाकसे खतरनाक क्षणोंमें उनका अध्ययन करना है। और यह भी तो अध्ययनका एक विषय ही है कि किन क्षणोंमें 'खतरा' आखिर किस सीमा तक बढ़ सकता है ? मुझे एक कहानी लिखनी है : एक लेखक है जो प्राप्तको स्वीकार नहीं कर सकता, अप्राप्यकी ओर लपकता है। मरीचिकाओंकी ओर भागनेवाला व्यक्ति, किन-किन क्षणोंमें क्या-क्या कर सकता है···। दूसरी ओर इस अपर्णाका अध्ययन करना है···बस, अध्ययन करना है, लिखना है··· निरीक्षण करना है···जीना कुछ नहीं है। कहीं भी अपने लिए कुछ नहीं करना। अपनेको नहीं उलझाना···कहीं नहीं भरमाना···।

जाने क्या लिख रही थी। बीचमें बात टूट गई। दूसरे कमरेमें देरसे टेलीफोनकी घण्टी बज रही थी। मरीज़की होगी किसीकी। हालत ज्यादा खराब है। पापा, अक्कामें से व्यर्थ ही किसीको उठना पड़ेगा; सोचकर मैं दौड़कर टेलीफोन उठाने गई थी अभी—"हलोऽ !"

झूमती-सी लड़खड़ाती आवाज़ आई—"हल्लो डार्लिंग !"

पहले तो मुझे केवल घण्टीसे ऐसा लगा जैसे उदय हों। यह आवाज़ कोई और थी "कौन ?" मेरी भौंहें तन गईं।

"जवानीकी रातोंमें कहीं 'कौन' पूछा जाता है ?"

"तो अपनी माताजीको जगा लीजिए न।" कहकर मैंने ज़ोरसे टेली-फोन रख दिया। कमरेसे बाहर भुनभुनाती चली आई : "कम्बख्त, मवाली कहीं के।" चुपचाप लेटी, बड़ी देर तक अँधेरेमें भरभराहट करते पंखेको देखती रही···और फिर तकियेपर माथा पटक-पटककर बिलख-बिलखकर रो पड़ी···। पता नहीं क्या छातीपर जम गया है कि बोझसे दिल डूबा जाता है। मुँह तकियेमें गड़ा लिया कि आवाज़ न निकले और एक अजीब वहशीपनेसे रोती रही···

खूब थक चुकनेके बाद औंधी लेटी हुई 'सुजाता' को 'मैं' पलंगके

सहारे खड़ी होकर प्यारसे कंधेपर हाथ रखकर समझाती हूँ : "पगली रोती क्यों है ? यह रात-रात भर रोना, किस सम्पूर्णतासे अपने रीतेपनको न भर पानेकी पराजित-स्वीकृति है ? बोम ? बोल ?—माँग क्या चाहती है ?"

'मैं कुछ नहीं चाहती सुजाता, मैं कुछ नहीं चाहती। मुझे बस रो लेने दे—रोनेसे बल मिलता है, दिल हल्का होता है।'

कहीं दूर किसी मिलका भोंपू गूँजता है। अब लिखना बन्द करती हूँ···नहीं तो फिर रो पड़ूँगी। दूध वाले और अखबारवाले घूमने लगे हैं।

शुक्र : २८, जून

एक बार उदयने कहा था : "सुजाता, तुम यह सब लिखना-लिखाना बन्द कर दो"

"क्यों ?" मैंने भौंहें तानकर पूछा। सुनकर आसमानसे गिरी थी, मानो सारा स्वप्न-जाल छिन्न-भिन्न हो गया हो। अजब है यह मूर्ख भी ! और मुझे लगा जैसे यह व्यक्ति घोर ईर्ष्यालु है। मेरी श्रद्धा, मेरी आत्मीयता, और मेरे विश्वासको इसने इसलिए बटोरा था कि मुझे एकलव्य बनाकर मेरा अँगूठा माँग ले ?

"इसलिए कि मेरी समझमें सफल लेखकके लिए दो बातोंकी बहुत ज़रूरत है और वह तुममें नहीं है। एक तो उसे निहायत क्रूर होना चाहिए···"

"क्रूर···?" वे जान-बूझकर मुझे प्रश्न करनेका अवसर देनेके लिए रुके थे।

"हाँ, क्रूर ही मैं कह रहा हूँ। उसे क्रूरतापूर्वक अपने पात्रों और अपने अध्ययनके विषयोंसे तटस्थ रहना होगा। उसे हर समय सावधानी बरतनी होगी कि अपने विषयों या पात्रोंके दुःख-सुख, हास-परिहास और विलास-

अवसादसे बिलकुल-बिलकुल तटस्थ और निर्लिप्त रहे, बहे नहीं। वह लेखक अधकचरा है जो जीवनमें अपने विषय, और लेखनमें अपने पात्रोंके 'दुर्भाग्य' और दुःखोंको लेकर उफन उठता है, या रोने लगता है, तक़दीर और दुनियाको गालियाँ देने लगता है और 'प्रकृतिका यही नियम है' जैसे अर्थहीन वाक्य लिखकर ढाँढ़स बँधाता है...। यह रोने-हँसनेका काम तो पाठक ही करेंगे, उसे तो चूहों, खरगोशोंपर प्रयोग करनेवाले वैज्ञानिक की तरह भावहीन, जड़ और तटस्थ-क्रूर होना होगा..."

"अच्छा सा'ब, और ?" मैंने कहा। समझमें नहीं आ रहा था कि रो पड़ूँ या ठठाकर हँस पड़ूँ ? भाड़में जाये तुम्हारा लेखन और लेखक। सचमुच ये लेखक लोग भी बड़े अव्यावहारिक होते हैं। कब क्या, और कहाँ क्या कहना चाहिए, जैसे इसका ध्यान तो इन्हें होता ही नहीं। यह भी कोई वक्त उपदेश देनेका है ?

"और दूसरी बात यह कि उसे बहुत ही ईमानदार होना चाहिए।" उन्होंने इस तरह कहा जैसे पहली बात तो मात्र भूमिका थी, असली बात तो यही है। "उसे परिस्थितियोंको ही नहीं, मनःस्थितियोंको भी उतनी ही ईमानदारीसे देखना होगा, रखना होगा। हम हिन्दुस्तानमें खास-तौरसे जिस समाजमें रहते हैं, उसमें ईमानदार होनेके लिए, मैं मानता हूँ कि बहुत बड़े साहसकी ज़रूरत है। लेकिन बेईमानी लेखनको गिरा देती है, खोखला कर देती है..."

"बेईमानीसे आपका मतलब ?"

"आदर्श या किसी बाहरी अंकुशकी झोंकमें मानव-हृदयकी सच्ची भावनाओं, अनुभूतियों और उनकी सम्भावनाओंको जान-बूझकर भुला देनेको मैं बेईमानी मानता हूँ ! मान लो, इस समय मेरे मनमें आरहा है कि इस बग़लमें बैठी लड़कीको अपनी बाँहोंमें इतनी ज़ोरसे भींच लूँ कि इसकी सारी हड्डी-पसलियाँ चरमराकर पिस जायें, लेकिन इसी परिस्थिति को कहीं लिखते हुए लिखूँ कि 'उसके हृदयमें उस समय बड़े ही

आध्यात्मिक भाव उठ रहे थे। नीले सागरकी परछाईं उसे उस वैदिक ऋषिकी याद दिला रही थी जब इसी तरह वह खुले सागरके किनारे बैठा रहता होगा और अपनी प्रियतमाको उसने ऋग्वेदकी पहली ऋचा सुनाई होगी…' इस तरहका झूठ जहाँ लेखककी ग़ैर-जानकारी और सीमा है, वहाँ तो उसे क्षमा किया जा सकता है; लेकिन जहाँ वह जान-बूझकर इन नक़ली बातोंको गढ़ता है, नक़ली भावोंका बखान करता है, वहाँ चमत्कृत हम भले हो लें; लेकिन प्रभावित नहीं होते। पुरुष हूँ, और बहुत ही ईमानदारीसे कहूँ तो अपने सारे महापुरुषोंके जीवन-चरित्र, ये सारी जीवनियाँ और आत्मकथाएँ, जिन्हें 'सत्यकी खोज' और प्राप्तिके नामों के बिल्लोंसे सजाया गया है, मुझे निहायत नक़ली, झूठी और बेईमानी-भरी लगती हैं। शायद रसेलने कहीं लिखा है कि कैसी विडम्बना है: व्यक्ति जब अपनी आत्मकथा लिखता है तो अपने आपको बड़ा क्षुद्र और नम्र दिखाता है; लेकिन जब राष्ट्र अपनी आत्मकथा लिखने बैठता है तो अपनेको सबसे महान् और श्रेष्ठ बतलाता है, और दोनों झूठे हैं। इस चले आते झूठके ख़िलाफ़ शायद सबसे सबल क़दम रूसोने अपने 'इक़बाल' लिखकर उठाया था। लेकिन हमारे यहाँ, चूँकि जीवनके मान-मूल्य बहुत ही शाब्दिक, मिथ्या, खोखले और आडम्बरपूर्ण रहे हैं, इसलिए उसके लिए बहुत ही बड़े साहस और बहुत ही क्रूर ईमानदारीकी ज़रूरत है। यहाँ तो आदमीको आदमीके रूपमें लिया ही नहीं जाता, उसकी सारी प्रतिष्ठा या तो उसके बाहरी धार्मिक, नैतिक और सामाजिक ढकोसलोंपर होती है, या सबके ऊपर धनपर। जब बार-बार सूत टूट जानेसे चर्खेको उठाकर चूल्हेमें झोंक देनेकी इच्छा मनमें होरही होती है, तब नेताजी मंचपर खड़े होकर चर्खेसे प्राप्त आध्यात्मिक शान्तिके गुण गाते हैं। जब ज़ेवर, और नोटोंको पी जानेकी लालसासे खुद छटपटाते रहते हैं तब दूसरोंको त्याग और तपस्याके उपदेश देते हैं, और जब औरतके अंग-अंगको भूखी निगाहोंसे भेद डालनेकी वासना भीतर साँपकी तरह कुल-

कुछ रही होती है तो ब्रह्मचर्यकी महिमाका वर्णन होरहा होता है...। और इसका नतीजा यह होता है कि इस धर्म-भूमि भारतकी किसी भी चीज़पर हमारा विश्वास नहीं है। विदेशोंमें आदमीको नापनेके लिए धर्म और खाने-पीने रहनेके ढकोसले नहीं है। इसलिए हम खुद मानते हैं कि वहाँका सामान्य आदमी यहाँके साधारण आदमीसे ज्यादा ईमानदार है, वहाँकी बनी चीज़ यहाँकी चीज़से हर हालतमें बेहतर है। इतना तो कमसे कम विश्वास होता है कि जो चीज़ हम खरीद रहे हैं वही हमें मिल रही है। यहाँ तो आप पेंसलीन खरीदने जाइये, और आपको विश्वास ही नहीं होगा कि आप शीशीमें दवा लाये हैं या शुद्ध गंगा-जल! हमलोग कहीं भी तो ईमानदार नहीं हैं—झूठे, मक्कार, खोखले, कमज़ोर और कुन्द-ज़हन और बातें वेदोंसे कमकी करना नहीं चाहते।"

मैं बुरी तरह ऊब उठी थी। बोली : "अब मेरी समझमें आया कि लोग लेखकोंसे दोस्ती करनेमें क्यों कतराते हैं? एक साँसमें इतना लम्बा लैक्चर? अरे भाई, कहीं तो इसे बीचमें तोड़ते? लिख दिया जाय तो पूरे दो पन्ने ले। हमारे लेखकोंकी यह भी एक बहुत बड़ी कमज़ोरी है कि ब्रेक लगाना ही नहीं जानते।" मैं झल्ला उठी थी— "इस सारे लैक्चरका मेरे लिखनेसे क्या सम्बन्ध?"

इस लड़कीको बाहोंमें कसनेकी बात क्या बहानेसे कही है, मैं क्या समझती नहीं हूँ?

"उसीपर आरहा हूँ। मैं यह नहीं कहता कि हर पुरुष ढोंगी होता है, या हर स्त्री दुराच्चारिणी होती है, और उसका कई-कई पुरुषोंसे सम्पर्क होता ही है, लेकिन 'साध्वी' रूपमें जानी जानेवाली स्त्रीके मनका साहस-पूर्वक किसीने आजतक चित्रण किया है? कब, कहाँ, कैसे वह अपने आपसे लड़ती है, अपनेको कुचलती है, बहलाती है, या सन्तुष्ट करती है, और किस बाहरी-भीतरी मजबूरीमें साध्वी या दुराचारिणी बनी रहती है, इसे स्वीकार करनेका साहस तुम्हारी किस साध्वीमें है? है कोई, जो साफ़ कह

दे कि यह ढकोसला और ढोंग है, केवल कुछ बने-बनाये नियमोंकी वेदी-पर मैं अपने जीवनको नहीं कुचल सकती।' जैसे आम और अमरूद फलोंकी दो जातियाँ हैं, उसी तरह हम यह मानकर चलते हैं कि साध्वी और दुराचारिणी औरतोंकी दो जातियाँ हैं। कैसे झूठे विभाजन किये गये हैं हमारे यहाँ सब?" वे जैसे बिफर उठे। पहले तो शायद कुछ सँभले भी थे; लेकिन फिर उसी बहावमें आगये—"और चूँकि औरतकी स्थिति हमारे यहाँ बड़ी ही नाज़ुक है, इसलिए उसे ही सबसे ज्यादा अपने आपसे झूठ बोलना पड़ता है। एक तो हमारे यहाँ नारी-लेखिकाएँ हैं ही नहीं, और जो हैं उनका लेखन ऐसा नक़ली, सतही और छिछला है जैसे वे सब ऊपर ही ऊपर हवामें तैर रही हों। मज़बूरी यह है कि प्रेमके सिवा किसी और विषयपर बेचारी लिख नहीं सकतीं, और उसे भी बड़े डरते-डरते छूती हैं कि कहीं कुछ अति न हो जाय। कोई स्वयं उनपर न कहने लगे। भावुकताके शाब्दिक उफ़ान, रोना-सिसकना, पूजा-आरती, त्याग और बलिदान—लीजिए साहब, आदर्श भारतीय नारीकी गरिमा भी बची रही और कहानी भी बन गई। मैं पूछता हूँ कि इन्हें डॉक्टरों ने बताया है कि तुम कहानियाँ लिखो? अरे, अपने स्कूल कॉलेज़ोंमें बैठकर पढ़ो-पढ़ाओ, और कुशल-गृहिणियों और सफल-माताओंके नमूने सामने रक्खो। है तुम्हारे पास इस्मत लतीफ़ और वर्जीनियाँ वुल्फ़ जैसी हिम्मती लेखिकाएँ? हमारी लेखिका तो आज भी प्रसाद और शरत्की भावुकता और कविता या प्रेमचन्दकी आदर्श नारियोंकी ही नक़ल करनेमें लगी है। कोई झाँसीकी रानी बनाती है तो कोई सती सीता। मैं तो तुम्हें चैलेंज करता हूँ जब तक तुम कॉमन या सामान्य औरतको ईमानदारीसे चित्रित करनेका साहस नहीं दिखातीं, तब तक महान् नारीका निर्माण कर ही नहीं सकतीं।"

बात उदयकी सच थी, यह मैंने महसूस किया। आज सचमुच मैं, अपनी घोर व्यक्तिगत आत्म-कथा लिखने बैठ जाऊँ, तो कब मैंने कैसा महसूस

किया है, कब मेरे साथ क्या हुआ है उस सबको जानते हुए भी लिख सकूँगी ? कभी नहीं ! या तो उस प्रसंगको ही छोड़ दूँगी या कुछ न कुछ बदल दूँगी। अब इसी डायरीको ही लो, मैं क्या वाक़ई वही सब लिख पा रही हूँ जो अपने मनकी आँखोंके सामने देख रही हूँ ! पता नहीं कितनी बातें छोड़ती जा रही हूँ, सब लिख दूँगी तो 'पढ़कर हाय, कोई क्या कहेगा।' और यह मेरी हालत उस समय है जब मैं महसूस करती हूँ कि यौवनको पहले ज्वार, उम्रका पहला आवेग—'फ़र्स्ट इम्पल्स ऑव् यूथ–' मैं पार कर आई हूँ और तटस्थ होकर अपने जीवनकी कुछ बातोंका विश्लेषण कर सकती हूँ।

उदय आगे कहे जारहे थे : "तुमलोगोंने अपने आपको औरतकी दृष्टिसे लेना और देखना ही छोड़ दिया है। तुम्हारी क्या बात पुरुषको कितना खुश-नाखुश करेगी, बस यही एक निगाह तुम्हारे पास अपने आपको जाँचनेकी रह गई। पुरुषने कहा, 'मुझे रिझाओ, नाचो, मेरी सोई वासना जगाओ कि मैं तुम्हें पाकर अपनी वासना तृप्त करूँ' और औरत नाच रही है, उसे रिझा और संतुष्ट कर रही है। कभी ऐसी स्थितिकी कल्पना भी तुम कर सकती हो, कि औरतने आगे बढ़कर कहा हो कि 'मेरे मनमें नाचनेकी उमंग है, मैं नाचूँगी, तुम्हें देखना होगा ? वह केवल प्रतिध्वनि या री-एक्ट कर सकती है, निष्क्रिय होकर क्रियाके आगे अपनेको सौंप सकती है। क्रियाके लिए जो एक सहज-इच्छा और स्वाभाविक स्फुरणा होती है, वह मानो उसके लिए वर्जनीय ही नहीं, नितान्त अप्राकृतिक बात हो। इसी तरह पुरुषने कहा कि इसे 'शील' कहो, इसे 'सच्चरित्रता' मानो, यह 'शालीनता' के गुण हैं। और औरत औरत न रहकर 'सती' बन रही है, 'शीलवती' और 'सच्चरित्र' बन रही है। जहाँ इस सबके लिए थोड़ा बहुत विरोध या विद्रोह है वह भी बड़ा अजब है। जिनको वह बुरा-भला कहती है, जिनके ख़िलाफ़ विद्रोह करती है, उन्हीं लोगोंसे 'गुड-कण्डक्ट'का सार्टिफिकेट भी चाहती है। मैं मानता

हूँ कि पुरुष द्वारा शासित समाजमें अपनी सच्चरित्रता और नैतिकताके लिए पुरुषके ही मानदण्ड मानने होंगे; लेकिन किसी भी स्तरपर वह उनकी आलोचना तो कर ही सकती है। तुम मुझे आजतककी लिखी किसी भी [illegible] नैतिकता और [illegible] दृष्टिसे इनको सही अर्थ देनेकी कोशिश की हो। वह या तो इसका हवाई विरोध करती है, या अन्धी नक़ल। इतनी कमज़ोर भूमियोंपर खड़ी होकर क्या लिखोगी तुमलोग? अपने ही आदर्श रूप देखनेका शौक़ है तो जैसे-जैसे रूप हमलोग दिखाते हैं, देखो और खुश रहो। पुरुष औरतको क्या बनाना चाहता है, या कैसा देखना चाहता है इसके लिए हमारे लेखन काफ़ी हैं।" इसके बाद कुछ देर चुप रहकर बोले थे—"जनाब, लिखना यों नहीं होता, इसके लिए बहुत विशाल-हृदय और गैंडेकी खाल चाहिए।"

मैं झल्ला उठी। बोली—"आपमें तो अच्छे खासे नेता होनेके गुण हैं, क्यों नहीं जेबमें एक माइक रखते? जहाँ कहीं दो-चार आदमियोंकी भीड़ देखी, भाषण शुरू कर दिया।"

"सच इतना बुरा लगता है न?" वे हँस पड़े।

रविवार : २० जून

लगता है, किसीकी दो आँखें [illegible] पीछा करती रहती हैं। मैं बाथ-रूममें होती हूँ और [illegible] हूँ—मानो [illegible] कोई देख रहा हो। कहते हैं, दुर्वासाके पीछे एक बार विष्णुने सुदर्शन-चक्र लगा दिया था और वे जहाँ-जहाँ जाते थे वह उनके पीछे चलता था।

चूँकि ऐसा भ्रम कई बार हो चुका था इसलिए पहले तो मैं आगे बढ़ती चली गई; लेकिन फिर लगा जैसे कॉफ़ी-हाउसमें उदय ही बैठे थे।

विश्वास और अविश्वासकी ऐसी तीव्र अनुभूति उस समय हुई कि मैं आगे जाकर ठिठक गई। यों समय साँझका था; लेकिन बाहर अधिक रोशनी थी और भीतर कम। भीतरके आदमीको देखकर पहचानना मुश्किल था। तब तो उदयने भी मुझे देखा ही होगा। एक मन हुआ, चलो, एक कप कॉफ़ी पी ली जाय। फिर सोचा, अच्छा देखें अगर उदय ही हुए, तो बुलाते हैं या नहीं। लेकिन उदय ही हैं, यही क्या ठीक है? तब भी देखूँ। तभी अपने कानके पास ही सुनाई दिया: "मैंने कहा, इतनी डूबकर बम्बईमें चलोगी तो सीधी वैतरणी पार पहुँच जाओगी।"

मैंने चौंकनेका भाव दिखाया—"अरे तु···आप उदयजी! यहाँ किधरसे आ रहे हैं?" फिर कॉफ़ी-हाउसकी ओर इस तरह इशारा किया जैसे सहसा ही ध्यान आ गया हो—"ओह, माफ़ कीजिए आप लोगोंका तो मन्दिर ही यही है। यहाँ न आयें तबतक खाना पचेगा कैसे?"

उदय आज बिलकुल बंगालियोंकी तरह गलेमें चादर डाले थे। चेहरेपर थकान और अस्त-व्यस्तता थी। हँसे—"अब नास्तिक लोगोंको मन्दिरका महत्त्व कैसे समझाया जाय? पूनासे आये, तो सोचा, ज़रा शान्तिसे बैठकर एक कप कॉफ़ी ही पी ली जाय। चलो न तुम भी।"

मैंने घड़ी देखकर बहुत ही नम्रतासे जवाब दिया, "इस समय तो बिलकुल भी इच्छा नहीं है। फिर कभी सही।" फिर बातको बदलनेके लिहाज़से हँसकर कहा, "आप जैसे भक्तोंके लिए मन्दिर होगा। मेरा तो इसमें जी घबराता है। मार दुनियाभरकी तो काँव-काँव मची रहती है। यह शान्तिकी जगह होगी?"

"अरे, अजब बात करती हैं आप भी। बम्बईमें इससे ज़्यादा शान्तिकी जगह आपको मिलेगी कहाँ? जहाँ बगलका आदमी आपकी बातोंमें क़तई दिलचस्पी न ले, आप मज़ेमें घण्टों बैठे रहें, और बैरा बार-बार आकर अपनी उपस्थिति मेज़ साफ़ कर-करके न बताये, वर्ना जब तक जी हो, यहाँ कन्धे-से-कन्धा रगड़ते फ़ुट-पाथपर खड़े रहिए। सभी तो यहाँ शिवाजी

पार्कमें रहते नहीं हैं, चार-चार कमरे लेकर। यहाँ तो एक-एक कमरेमें बीस-बीस आदमी हैं, आप किसको कहाँ घर बुलायँगे यहाँ? और हो सकता है दो दोस्त एक दूसरेसे बीस मीलकी दूरीपर रहते हों तो और भी मुसीबत। वहाँ पहुँचते-पहुँचते ही दो घण्टे लग जाँय। उस हालतमें यही तो सबसे बीचकी जगह है। आपलोग हमें बदनाम तो कर देते हैं, लेकिन कभी गंभीरतापूर्वक इस मजबूरीको भी तो सोचिए कि बड़े शहरोंके ये होटल और रेस्तराँ पनपते क्यों हैं?"

मैंने जान-बूझकर जम्हाई लेकर परिहाससे कहा—"भई, बोर हुए आपके इस भाषणसे। यह भी कोई जगह है इसकी? आते-जाते लोग क्या सोचेंगे?" फिर कलाई घड़ी देखकर बोली—"अच्छा, हम चलें, आप अपने इस एकान्त-मन्दिरमें साधना कीजिए।"

वे खिसियाकर बोले—"बड़ी दुष्ट होती जा रही हो।"

मन बेबस खिलकर पुलक उठा और फिर सहसा ही उदास हो आया। अनजाने ही फुटपाथके आने-जानेवालोंके धक्कोंसे बचनेको हमलोग दीवारकी ओर खिसक आये थे। वे अपनी भूल स्वीकार करके आत्मीयतासे बोले—"अच्छा, जाना कहाँ है?" फिर जवाब देनेकी फुरसत न देकर कहा: "तब फिर चलिए आप। क्यों देर कर रही हैं? आपको प्रिन्सेससे भी मिलने जाना होगा न? हमारे भी दोस्त कहेंगे कि कहाँ मर गया?"

गहरी साँस लेकर मैंने मजबूरीमें दोनों कन्धे उचका दिये और उद्धत दृढ़तासे बोली, "जी हाँ, जाना तो प्रिन्सेसके ही यहाँ है। आप चलेंगे क्या?" फिर दाँत पीसकर कहा, "आप लोगोंका दिमाग़ तो नहीं ख़राब हो गया है? एक वह है रेखा, जब देखो तब प्रिंसेस। कहींसे आई, कहीं गई, बस प्रिन्सेसके यहाँसे आ रही हो? प्रिन्सेसके यहाँ गई थी? जैसे प्रिन्सेस न हो गई, जुएका अड्डा हो गई, जहाँ हमें नहीं जाना चाहिए, लेकिन जाते हैं। अरे, किसीकी चोरी है? ख़ूब जाँयगे।"

इस बार वे जम्हाई लेकर बोले : "भई, बोर हुए इस लेक्चरसे।" और हम दोनों ही खिलखिलाकर हँस पड़े। लेकिन जब ध्यान आया कि फ़ुट-पाथपर खड़े होकर हँस रहे हैं और एक-आध सिरको अपनी तरफ़ घूमकर ताकते भी पाया तो सहसा ही मैं संकोचसे पानी-पानी हो आई। हाय, कोई देखे तो क्या कहे? कैसे बेशर्म हैं। कोई जान-पहचानका ही देख ले। संकोच शायद कुछ उन्हें भी इसी तरहका महसूस हुआ, पर मेरी दुविधाको पकड़कर बोले, "इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि भीतर चलकर बैठें। बम्बई और कलकत्तेमें तो लोग हँसना इसी तरह भूल जाते हैं कि कोई हँसे तो लोग आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगते हैं। मानो कहते हैं, 'यह कौन ग़द्दार है जो यहाँ रहकर भी हँस रहा है!' और इसी जॉली मूडमें जैसे सारी हिचक और झिझकको तोड़कर उन्होंने अपना हाथ मेरे कन्धेपर रख दिया, "आओ, चलो, रानी बेटियोंकी तरह कहना मानो, एक कप कॉफ़ी पियो और तब प्रिन्सेसके यहाँका साइडर पीना।"

और इस सबके बावजूद मेरे मनमें आया कि कन्धा झटककर हाथ हटा दूँ। भरे बाज़ारमें मैं इतनी लिबर्टी देनेको तैयार नहीं हूँ, साथ ही उनके हाथ रखनेके ढंगपर मन ही मन हँसी भी आयी। यह इस बातका प्रमाण भी था कि वे खुद भी कॉन्शस हो गये हैं : मानो ज़्यादा देर तक हाथ रखेंगे, तो जल जायगा। हाथ अब तक ढीला होते-होते हट गया था। जिस बेचारेके मनकी खुद ही यह हालत हो, उसे मैं क्या कहूँ? इस चेतनासे मनको आश्वासन भी मिला कि इस स्थितिमें भी जब मैं उनके हाथ हटानेकी बात या उनकी मानसिक स्थितिका विश्लेषण कर सकती हूँ तो मैं निश्चय ही भावुक नहीं हूँ। और जब मैं भावुक नहीं हूँ तो ये 'खतरे' मेरा क्या बिगाड़ेंगे? ज़रा इन्हें दू-बदू देख ही लेनेमें क्या हर्ज है? तभी एक अज्ञात-सा भय उभरा—कहीं अपने ही जालमें फँस गयी तो?—हुँह...मैंने मचलकर कहा, "नहीं, वहाँ जानेको हमारा मन नहीं करता।"

वे जैसे कुछ सोचकर सामनेके बड़े-से विज्ञापनपर निगाहें टिकाये आज्ञा देनेके स्वरमें बोले, "अच्छा तो सुनो, आज आप अपनी प्रिन्सेस के यहाँ नहीं जायँगी। मैं भी बहुत थक गया हूँ। पूनामें कम्बख्तोंने धूपमें न जाने कहाँ-कहाँ घसीटा है। हम लोग ज़रा मैरीन-ड्राइवपर बैठेंगे, आप 'इरोज़'के नीचे मिलिए। मैं आता हूँ।"

इरोज़के नीचे खड़े हुए मुझे बड़ा अजब-अजब लग रहा था। शो शुरू हो चुका था और भीड़ कम थी। एक-आध कोई हड़बड़ाती टैक्सी या प्राइवेट गाड़ी आती और फ़ुर्तीले क़दम सीढ़ियाँ चढ़ते भीतरकी ओर दौड़ पड़ते। पीले-पीले सीमेण्टके फ़र्शपर गहरी लाइनोंसे खिंचे चारख़ाने-के टाइल्स मैं कई बार गिन चुकी थी। अपनेको व्यस्त दिखानेके लिए, आ रहे या चलनेवाले पिक्चरकी तस्वीरें शो-केसोंसे काफ़ी ग़ौरसे देखती रही। फिर सूनी-सूनी आँखोंसे चर्च-गेट स्टेशनमें आने-जानेवाले लोगों, गाड़ियों और बीचमें खड़े सिपाहीकी क़वायदमें मन उलझाये रही। ऊपर लम्बा-चौड़ा साबुनका नियॉन-विज्ञापन आँखें मिचका रहा था। दूर और पासकी यह सारी चहल-पहल बड़ी सपनीली-सी लग रही थी। लेकिन जलती हुई रोशनियाँ अभी काफ़ी धुँधली थीं। बग़लसे डूबती किरणोंकी निस्तेज-सी रोशनी बैंगनी आसमानमें घुलती चली जा रही थी। इस बार प्रिन्सेसका नाम सुनकर मैं सचमुच कोई कड़ी बात कहनेवाली थी कि उनकी अधिकारपूर्ण ध्वनिने सारा ध्यान अपनी ओर खींच लिया, 'अरे, यह तो हुक्म देने लगा।' अपने आपसे स्पष्ट ही यह शब्द कहते हुए भी, कहीं भीतर यह विभोर भाव उठ आया—जाने कितने दिनों बाद, कितने दिनों बाद ऐसी अधिकारपूर्ण वाणी सुनाई पड़ रही है। लेकिन मैं शायद इतनी तैयार नहीं थी कि इस वाणीको उदयकी ओरसे सुनूँ: नहीं, यह स्वर बस एकका ही अधिकार था—अब किसीका नहीं। लेकिन कहींसे भी आया हो, यह स्वर मुझे आत्म-समर्पणके लिए मजबूर कर

देता है। मैंने एकदम कहा था, "अरे वाह, जैसे हमें कुछ काम ही नहीं है। यों ही भटकनेके लिए पैदा हुए हैं।"

"हाँ-हाँ, हमें पता है।" जाते-जाते वे कह गये थे। ऐसे अधिकार-पूर्ण स्वरमें तो अक्सर तेज कहा करता था, "सज्जी, जब तक मैं नहीं आऊँगा, तब तक तुम खाना नहीं खाओगी···समझीं?" और मैं भी थी कि सामने लाख लड़ती, लाख विरोध करती, ठीक वही करनेकी धमकी देती, जिसे वह न चाहता; लेकिन ऐन मौक़ेपर पता नहीं मन अपने-आपको किस तरह समझा लेता था कि मैं उसकी इच्छा ही कर डालती। कैसा अद्‌भुत रस था उस समर्पणमें!

मैट्रिकके पर्चे हो रहे थे, स्कूलसे बाहर निकली तो देखा, तेज नहीं था। पर्चा अच्छा हुआ था। भीतरसे बड़ी खुश आयी थी, बाहर आकर गुम हो गयी। जैसे-तैसे घर आयी। क़दम रखा ही था कि हाँफता, साइकिल दौड़ाता तेज उसी वक़्त आया—"तुमसे ज़रा-सा रुका नहीं गया? मुझे देर हो गयी, तो आप जनाब चली आयीं। कैसा हुआ पर्चा?" और मैं थी कि मुँह फुलाये भीतर आयी। पलँगपर फूट-फूटकर रोने लगी। उसने सोचा, पेपर ख़राब हो गया, ख़ूब समझाया-बुझाया—कोई बात नहीं, ऐसा तो होता ही रहता है। कलका पेपर अच्छा कर लेना। डिवीज़न न आये तो न सही, अगले भी तो क्लास हैं। जब तेजने यही समझाया तो कैसी कटखनी कुतियाकी तरह मैंने कहा था (आज भी मुझे ख़ुद अपनी वह सूरत दिखाई दे रही है)—"भाग जाओ तुम यहाँसे। बड़े आये अब हमदर्दी दिखाने, स्कूल तक तो पहुँचा नहीं जाता और हमें समझा रहे हैं।" कितने हाथ-पाँव जोड़े थे बेचारेने! मैंने दुष्टतासे कहा था, "अच्छा, कलसे तुम स्कूलके दरवाज़ेपर नहीं, चौराहे-पर खड़े मिलोगे, समझे। यही तुम्हारी सज़ा है।" मईका महीना शुरू हो चुका था। घर आते-आते शरीर पसीनेसे तर-बतर हो जाता था, आँखोंके आगे लाल-लाल तिरमिरे नाचने लगते थे। लेकिन तेज था कि

दूसरे दिन चौराहेपर खड़ा मिला। उस दिन मैं जान-बूझकर दूसरी लड़कीसे सवालोंपर बहस करती रही। दस मिनट देरसे पहुँची। तप रहे थे श्रीमान्जी। वे भी क्या अजब दिन थे—एक-दूसरेपर अधिकार जतानेके ! खुश हो गये तो ऐसे खुश कि अपना सब कुछ दे डालें, और नाराज़ हुए तो ऐसे नाराज़ कि रो-रोकर ढेर कर दें, जनम-जनमके सम्बन्ध तोड़ लें। आज यह सब किससे करूँ ? करूँ भी तो अच्छा लगेगा ? मनपर जैसे कफ़न पड़ गया है।

अरे, बड़ी देर कर दी उदयने। आते-जाते लोगोंकी अजब निगाहें देख-देखकर खुद ऐसा लगने लगा कि यहाँ खड़े रहना अच्छा नहीं है। लोग क्या सोचते होंगे ? ऐसे ही तो खड़ी रहती हैं लड़कियाँ जगह-जगह यहाँ...? ये लड़कियाँ भी क्या सोचती होंगी ? ऐसी किसी लड़कीसे दोस्ती करके देखी जाय। पर कम्बख्त कहीं ऐसी-वैसी जगह ले जाकर फँसा न दे। 'बम्बइया' सिनेमाओंपर विश्वास किया जाये तो ऐसी हर लड़कीका सम्बन्ध किसी न किसी पिस्तौलबाज़ दलसे होता है। तभी जाने कैसे ध्यान आया कि चेहरेपर चौड़े पट्टे जैसे हरे गॉगल्स चढ़ाये, 'सुएड'के लाल-सफ़ेद भारी जूतोंको मचमचाते एक साहब मेरे आसपास मँड़रा रहे हैं। छाता लगाये रेतपर पड़ी नंगी ऐक्ट्रेसको हाथ पकड़कर खींचते हुए किसी अभिनेताकी रामनामी डिज़ाइन वाली ढीली-ढाली बुश्शर्ट उनके शरीर-पर थी। कभी इधर आ जाते हैं कभी उधर। कभी जूतोंके बल टाँगों-को इस तरह लचकाते हैं, मानो तख्तेके पुलपर खड़े होकर उसकी मज-बूती देख रहे हैं। सिगरेट मुँह तक लाकर वे जिस ढंगसे मुझे देखते थे, उससे मेरा रेशा-रेशा सिहरकर झनझना उठता और जैसे ध्यान बँटानेके लिए मैं दूसरी ओर देखने लगती। बार-बार अपनी घड़ी देखती, ताकि वे समझ लें कि मैं 'यों ही' नहीं हूँ, किसीकी प्रतीक्षा कर रही हूँ। बड़ी देर कर दी, जाऊँ ? मैं भी अजीब बुद्धूकी तरह खड़ी हूँ। अरे, अपने कामसे लगूँ। पर हो सकता है, मेरे जानेके एक मिनट बाद ही

आ टपकें। अच्छा, अब बजा है छह-छब्बीस। अगर पाँच मिनट और नहीं आये तो चली जाऊँगी। (वैसे मैंने यह समय छह-पन्द्रहसे बढ़ाकर बीस तक कर लिया था) इस प्रतीक्षाके बीचमें भी वे सारे वाक्य मेरे दिमाग़में उमड़े आ रहे थे, जिसमें मैं इन साहबका वर्णन उदयसे करनेवाली थी।

आसपाससे कोई भी लम्बी-सी ख़ूबसूरत गाड़ी जाती, तो मेरा ध्यान उधर चला जाता। ओवेल-ग्राउण्डसे म्यूज़ियम तक मैं उधर ही देखती रहती। कहीं अपर्णा जी तो नहीं जा रहीं? यह तो उनका रास्ता भी है। आते-जाते ज़रूर गुज़रती होंगी। कहीं मुझे इस तरह खड़े देख लेंगी तो क्या सोचेंगी···? किस तरह खड़ी थी। कैसा मज़ा आये, उदय उधरसे आयें और इधरसे ठीक मेरे सामने अपर्णाकी लम्बी खुले हुडवाली क्रीम-कलर-गाड़ी आकर खड़ी हो जाय। रौब पड़ जायगा। लेखक होनेकी धुनमें अपने आगे किसीको गिनते ही नहीं। मैं भी ऐसी चीज़ दिखाऊँगी लिखकर कि आँखें खुली रह जायँगी।

उँह, यह साढ़े छह बज रहे हैं। अभी तक कोई पता नहीं। इसके बाद दो मिनट तक और राह देखूँगी। नहीं आयें, तो जायँ भाड़में। अरे, हाँ। यही तो एक काम नहीं है···

अब तो जैसे मैं टूटकर दो हो गई हूँ। न जाने कैसा एक अदृश्य अंकुश है, जो मेरे हर हँसने-बोलनेकी गर्दनपर लगा है। मेरा एक टुकड़ा हँसता है, तो गम्भीर और मनहूस सूरत बनाये दूसरा टुकड़ा दूरसे कहता है, "इस तरह मत हँस, कोई क्या कहेगा!" रोती हूँ तो दूसरा टुकड़ा हँसता है, "बेवक़ूफ़, बच्चोंकी तरह रोती है!" बातें करती हूँ तो भीतरसे कोई ज़बान रोक लेता है, "बस, बहुत हो गई। अब क्या बक-बक ही किये जायगी?" चुप हो जाती हूँ तो लगता है जैसे यह चुप्पी मुझे बूँद-बूँद करके पी जायगी। और तब कोई उकसाता है—"कुछ हँस-बोल न, मर जायगी पागल होकर···" क्या सचमुच तेजने ही मुझे तोड़ दिया है?

लेकिन अभी तक तो मुझे इन टुकड़ोंका कोई ज्ञान ही नहीं था। लगता है, जैसे मैं अपने व्यक्तित्वको नये सिरेसे बनाने बैठी हूँ, तो पाती हूँ कि वह टुकड़ोंमें बिखरा है। हर टुकड़ा जैसे एक-दूसरेसे लड़ता है, एक-दूसरेकी चुग़ली करता है। यह एहसास कभी-कभी मनको बहुत बेचैन कर देता है...।

"बोलो, सिनेमा चलोगी?" चौंककर मैंने अपने कन्धेके पास ही उदयका स्वर सुना तो झल्लाकर बोली, "एक तो यहाँ खड़े-खड़े पाँव टूट गये, अब क्या, घर जाकर मार खानी है?"

"पहले मेरी बातका जवाब दो।" उदयने बड़ी मजबूरी और प्रार्थनासे कहा : "क्या करूँ, पीछा छुड़ाते-छुड़ाते मुझे इतना समय लग गया। सचमुच सिनेमा चलो, देखें।"

अरे, अभी तक इसपर मेरा ध्यान भी नहीं गया कि खेल कौन-सा चल रहा है? सिर्फ़ तस्वीरें देखीं और अक्षर पढ़े। अर्थ समझनेकी कोशिश ही नहीं की। हँसकर बोली, "भैया, भले आदमियोंकी तरह बम्बईमें रहने दो, या एकदम आवारा बनाकर ही छोड़ोगे?"

"मैं कहता हूँ, इन राजा-रानियोंके साथ कमरोंमें बैठकर ही तुम कहानी-लेखिका बन जाओगी? दुनिया देखो, दुनिया। और दुनिया बिना आवारा बने दीखती नहीं।" और अनजान रूपसे ही हमलोग मैरिन-ड्राइवकी ओर चल पड़े। मेरे कहनेके ढंगसे उनके चेहरेपर हँसी झलक आई। सामने तेज़ीसे साँवले पड़ते क्षितिजमें सूरजका निस्तेज गोला आधा डूब चुका था। ऐसा लगता था जैसे सागरकी लहरोंके साथ उछल रहा हो। दोनों ओरकी बिल्डिंगोंकी ऊपरी मंज़िलोंवाली खिड़कियोंके काँच हल्की धूपमें झलमला रहे थे। बिजलीके तार और कारोंकी पीठें चिलक रही थीं। गाड़ियों और लोगोंकी इतनी हलचलके बावजूद सड़क ऐसी चमक रही थी जैसी बिलकुल सुनसान हो।

"आवारा बनानेके लिए और लोग नहीं रह गये?" फ़ुटपाथकी

भीड़से बचते हुए हमलोग चल रहे थे, तब मैं बोली। सामनेके होटलों और रेस्तराँओंकी चहल-पहल बढ़ गई थी। मैंने कनखियोंसे उनकी ओर देखा। सामनेकी सिन्दूरी आभामें साँवला चेहरा खिला था। पतले होंठ इस तरह चिपके थे जैसे बोलना जानते ही न हों···मैं उन्हें उनकी स्थिति-की याद दिला देना चाहती थी।

"जी नहीं, मुझे आपको आवारा बनानेका क़तई शौक़ नहीं है।" तपाकसे वे बोले। स्थितिकी याद मैंने दिलाई थी, सफ़ाई उन्होंने कर दी। उनके लहजेमें ऐसी नोंचती ध्वनि थी, मानो कहना चाहते हों, मैं तुम्हें क़तई इस लायक़ नहीं समझता! और शायद इस प्रहारकी कटुताको धोनेके लिए ही उन्होंने अपना अगला वाक्य मज़ाक़ बना दिया— "आवारा बनना कोई आसान है? बहुत बड़े साहसकी ज़रूरत है जनाब। ढाई-अक्षरी मन्त्रका जाप करना पड़ता है, तब कबीरकी तरह बोलनेकी हिम्मत आती है—'कबिरा खड़ा बजारमें लिये लुकाठी हाथ। जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ।' सोलोमनका गीत सुना है 'लव हैज़मेड अ जिप्सी आउट ऑफ़ मी···"

मैंने एकदम बात बदल दी—"आपकी अपर्णा बहन जीका क्या समा-चार है?"

"तो आपका मतलब है उसे आवारा बना दिया जाय, क्यों?" वे हँस पड़े, "बड़ी जल्दी बदला चुकाया है। वे आवारा बनें, और उनके पतिदेव सिर घुटाकर साधु। मज़ा तो सचमुच बड़ा आये।"

मुझसे नहीं रहा गया, "आप भी सच, अच्छे-खासे बोर हैं। अब घसीटे जा रहे हैं एक ही बातको। अरे, कोई नई बात करो, भाई। हमने अपर्णा बहनकी बात पूछी थी, सो टाल गये। आपकी श्रीमती रजनी कैसी हैं? किसी और नयी लड़की-वड़कीसे दोस्ती हुई?"

"वह सब तो चलता ही रहता है।" वे सहसा हत-प्रभ हो गये। सामनेसे नाइलोनकी एकदम पारदर्शी गहरी गुलाबी साड़ी पहने एक

महिला चली आ रही थी। साड़ीके पार शॉर्ट और लो-कट ब्लाउज़से झाँकती कमरकी चौड़ी पट्टी और खुले कन्धे सहसा ही उधर ध्यान खींच लेते थे। सफ़ेद साटनका पेटीकोट घुटनोंसे नीचे पिण्डलियों तक ही जाकर समाप्त हो गया था। अजब भोड़ी लग रही थी साड़ी। गोरे पाँवोंमें सुर्ख़ सैण्डल, गलेमें गोल-गोल प्लास्टिक मोतियोंकी माला और होंठोंपर लिप्स्टिक, कानोंमें चमचमाते बाले और 'पोनीज़ टेल' चोटी, जिसे वे झटकेसे गर्दन मोड़कर कभी इधर और कभी उधर हिला रही थीं। केवल दो पतली तनियोंसे लटका स्कर्ट पहने एक प्रौढ़ा विदेशी महिला उनके साथ थीं। उनसे ये अपनी सुती-सुन्दर उँगलियाँ उठा-उठाकर अत्यन्त व्यस्ततासे बातें करती चली आ रही थीं। एक हाथसे उन्होंने पर्सके साथ ही साड़ीकी अगली वाली पटलियोंको बड़े अन्दाज़से (ताकि उनकी पाँचों उँगलियोंके पालिश लगे नाखून दीखते रहें,) उठा रखा था, फिर भी वह धरतीपर घिसटती चली आ रही थी।

जब वे गुज़र गईं तो उदयने कहा, "आपकी प्रिन्सेस तो नहीं थीं?"

"हिश्ट, बदतमीज़।"

"अच्छा बताइए, क्या इरादा है? कितने नम्बर दे दिये जायँ?"

"आप लोग भी, सच, बहुत बेहूदे होते हैं।" मैंने झेंपकर कहा।

"जी हाँ, बेहूदे भी हम ही हुए?—और जो जा रही थीं वे क्या थीं?"

"आपको मतलब? अरे, यह तो सड़क है जिसका जी चाहे चलेगा। आप लोग क्यों ताकते हैं?"मैं जानती थी कि मेरा तर्क लचर है। सिनेमाके नीचे खड़े हुए आदमीका चेहरा सामने घूम गया।

"मेरा तो मन हुआ कि निहायत अदबसे जाकर उनसे प्रार्थना करूँ—'हे उर्वशी, बेकार ही क्यों आपने यह साड़ीका तोले भरका बोझ अपने फूल जैसे शरीरपर लाद रखा है? उसे भी घर ही छोड़ आतीं तो पतिदेव तह करके रख देते। यहाँ वालोंको इसके रहने न रहनेसे

कोई फ़र्क नहीं पड़ता।" उदयके स्वरमें व्यंग्य था—"अच्छा, हमलोग उन्हें देखें तो कोई बात नहीं, लेकिन तुम्हें इतने ग़ौरसे ताकनेकी क्या ज़रूरत? तुम लड़कियोंका दिमाग़ भी चर्ख़ा होता है। मेरे पाससे एकदम नये मॉडलकी चमचमाती गाड़ी गुज़रे और मेरी उधर आँख भी न उठे, यह कैसे···"

मैंने बात काट दी—"अरे छोड़िए, मनके पापको यों तर्कोंमें मत उलझाइए। बड़े-बड़े धर्मात्मा-महात्मा दीखनेवाले पुरुष भीतरसे क्या हैं, यह हमसे छिपा है? आपलोग चाहे एक-दूसरेको खुदा समझें; लेकिन असलियत तो हमारे ही सामने खुलती है। या तो एक मिनटमें खाल उतारकर अपना असली चेहरा दिखा देते हैं या ज़रूरतसे ज़्यादा सावधानीसे खालको खींच-खींचकर लपेटे रहते हैं, तब अपने-आप पता चल जाता है कि भीतर कुछ ऐसा है जिसे छिपानेकी ये सारी चेष्टाएँ हैं।" मुझे फिर ध्यान आगया कि बग़लसे गुज़रती गाड़ियोंमें कोई अपर्णाकी भी हो सकती है।

"अच्छा भाई, ग़लती हुई, अब आगेसे नहीं देखेंगे। चाहे कैसी भी गाड़ी बग़लसे क्यों न निकल जाय।"

सामने 'टी' की शकलका तिराहा था। सिपाहीने हाथ दिया, और दौड़ती हुई लम्बी-सी कार खच्चसे झकोले खाकर रुकी ही थी कि पीछे वाली गाड़ीका मडगार्ड, इसकी लम्बी-सी पिछली बत्तीसे जा भिड़ा। 'ख-र्र्र-न्' करके काँचके टुकड़े सड़कपर खीलोंकी तरह बिखर गये···मैंने एकदम चौंककर इस तरह देखा, कहीं अपर्णाकी गाड़ीसे ही तो ऐक्सीडेण्ट नहीं हो गया। ट्रैफ़िकका सिपाही और कुछ लोग उधर लपके, लेकिन उदयने निहायत ही निश्चिन्त तटस्थतासे कहा, "लीजिए, है न मुसीबत? इन गाड़ियोंको न देखो तो आपसमें ही टकराती हैं।"

इस क्षण भी इतना निरुद्विग्न मज़ाक़! क्रोध और भयसे मैं रोमांचित हो आयी।

अँधेरा गहरा आया था। हमलोग नरीमान पॉयण्टपर बैठे थे।

"एक बात पूछूँ सुजाता, सच बताओगी ?" रोशनी और अँधेरेसे चितकबरी, मरोड़े खाती लहरोंको अपलक ताकते, वे निहायत तटस्थकी तरह बोले।

मैं भीतरसे काँप उठी। पता नहीं क्या पूछें ? वैसे इन शब्दोंमें पूछा जानेवाला पुरुषोंका एक ही प्रश्न होता है कि तुमने कभी प्यार किया है ? फिर भी अनजान बनकर सामनेकी गीली-गीली ठंढी हवाको पीती रही। मेरा रोम-रोम जैसे उनकी हर गति-विधिको लक्ष्य कर रहा था। लेकिन उनके प्रश्नपर मैंने इस तरह चौंकनेका भाव दिखाया, मानो अभी तक जाने कहाँ दूर खोयी हुई थी। मुँह उनकी ओर घुमाया। ज्यादासे-ज्यादा हमारे चेहरोंकी दूरी एक फ़ुट होगी—मैंने सोचा। कहा, "बताने लायक़ होगी तो सच ही बताऊँगी।"

"बिलकुल ?"

"बिलकुल ! पर आप बात तो पूछिए···" मुझे चिनचिनाहट छूटने लगी। उत्सुकताको ज्यादा बढ़ाना मुझसे सहन नहीं होता। मैं रीढ़की हड्डी तानकर बात सुननेको तैयार हुई।

"देखो, संस्कारोंसे हटकर बात कहना। दूसरोंकी सुनी-सुनायी बात मत कहना।" उनके स्वरमें इस बार कोई व्यंग्य नहीं था—"अच्छा, हमलोग, यानी पुरुष, जब तुम्हें अर्थात् नारीको सड़कोंपर, ट्रामों या जहाँ-तहाँ भूखी या प्रशंसाभरी निगाहोंसे देखते हैं, तो सचमुच तुम्हें बुरा लगता है ? इन विज्ञापनोंको देखकर तुम्हें कैसा लगता है, जिनमें नारी शरीरके साथ मनमानी की जाती है।"

मनमें तो आया कि कह दूँ कि नहीं जी, बुरा काहेको लगेगा ? हमें तो बड़ी खुशी होती है कि पुरुषकी चेतनापर यों हर समय, हमारा ही राज्य है। पर वातावरण व्यंग्यका नहीं था। एकदम गहरी साँस निकल गयी —क्या पूछा है ! मैं तो समझी जाने क्या पूछेंगे। बोली—"देखिए,

आपके प्रश्नके दो रूप हैं। विज्ञापनोंका जो आज रूप है वह नारीके अपमानके अलावा कुछ नहीं है। कुत्सित वासनाओंके ऐसे खुले प्रदर्शनकी आज्ञा देना, असभ्यता है। पश्चिमी सभ्यताकी एकबार किसी रूसीने व्याख्या की थी कि 'यह पुरुषोंको अधिकसे अधिक कपड़ोंसे लादने और स्त्रीको अधिकसे अधिक नंगा करनेकी सभ्यता है—' अब रहा देखनेका सो प्रशंसा किसीको भी बुरी नहीं लगती, मगर यों घुग्घुओंकी तरह घूरे चले जाना अच्छी लगनेकी बात है?"

और फिर वे बैठे-बैठे जाने क्या-क्या बोलते रहे। मैं जैसे बड़ी ऊपरी चेतनासे हाँ-हूँ करती रही। भीतरी सतहोंमें झुकते अँधियारेके साथ पता नहीं कैसी एक उदासी और विषण्णता घिरती चली आ रही थी। हमलोग पश्चिमकी ओर मुँह किये पाँव लटकाये किनारेपर बैठे थे। नीचे पत्थरोंके ढोकोंपर लहर ज़ोरसे आकर थपेड़े मारती तो फुहार उछलकर कभी होंठों और कभी गालोंपर आ पड़ती। अँधेरेमें मचलता चंचल काला-काला पानी मनके भीतर ऐंठती किसी अज्ञेय, अनजान व्यथा-सा लगता था। दाहिनी ओर मैरिन-ड्राइवकी चन्द्राकार दीपमालाएँ चली गयी थीं। इमारतोंकी दीवारोंपर चारखानों जैसी कढ़ी खिड़कियोंके पारसे आती रोशनी, कटावदार जालीका भ्रम पैदा कर रही थी। मैं मन-ही-मन अपर्णाजीकी बिल्डिंग पहचाननेकी कोशिशमें थी।

मेरी बातपर उन्होंने कुछ नहीं कहा; लेकिन साफ़ लगा सहमत नहीं थे। अपर्णाका फ्लैट अभी तक पहचाननेमें नहीं आ रहा था। बड़ी झुँझलाहट हो रही थी कि मैंने आस-पासकी किसी ऐसी चीज़को क्यों नहीं पहचान लिया कि इस समय आसानी रहती। जैसे किसी चीज़को याद करनेकी कोशिश करो और वह ज़बानपर आ-आकर फिसल जाय। दूर चौपाटीका आसमानी-नियोन-लाइटका चक्र ऊपर घूम रहा था, फिर मलाबार-हिलकी ऊपर चढ़ती चली जाती रोशनी थी, जैसे किसीने रोशनीके फूलोंका बना धनुष प्रत्यञ्चा खींचकर ज्योंका-त्यों रहने दिया हो। सारी

सड़क और रोशनियोंकी घूमती लाइन ऐसा ही प्रभाव मनपर छोड़ती थी—खिंचा हुआ पुष्प-धनुष। मनमें अजब खिंचावट-सी होती थी—यह सस्पेन्सकी स्थिति कब तक चलती रहेगी? क्यों नहीं कोई या तो इसे छोड़ देता या भरपूर खींचकर तीरको जाने देता कि सनसनाता हुआ लक्ष्यमें सारी शक्तिसे गर्दन तक खुभ जाय। और यह खिंचावटकी स्थिति मुझे ऐसी लगती जैसे वह तीर मेरे मनके ही स्तर-स्तर पार करता धीरे-धीरे खुभ रहा है। एक दर्दकी तड़पके साथ हर अगला स्तर आशंकासे सिहर उठता है कि इस बार उसका नम्बर है। सामने इधर-उधर सरकती रोशनियोंसे लगता था कि जुगुनुओंकी तरह डोंगियाँ चल-फिर रही हैं: ऐसेमें भी ये लोग सागरपर घूमते हैं? इन्हें डर नहीं लगता? पीछे चलती गाड़ियोंके हॉर्न, लोगोंका गुज़रता वार्तालाप, क़हक़हे, फेरी वालोंकी आवाज़ें, खुशबुओंके झूमते बादल···यह चेतनाके भीतरी और बाहरी स्तरोंपर भटकनेकी बेचैनी···

जब उनकी बात खत्म हुई तो मैं ज़ोरसे खिल-खिलाकर हँस पड़ी। मेरी हँसीकी आवाज़ आगे-पीछे कहाँ तक गयी होगी, क्या प्रतिक्रिया उसने पैदा की होगी, यह भी मुझे ध्यान था। और उसी हँसीके आवेगमें आगे झुक गई। जब हँसी थमी तो बड़ी कठिनाईसे कहा, "इसे कहते हैं कि आदमीमें अक़्ल हो तो क्या नहीं कर सकता! मैंने तो ज़रा आपको उन परी-साहिबाको देखने नहीं दिया और आप हैं कि उसीको घोटे जा रहे हैं। मैं तो, सच, उस बातको बिलकुल ही भूल चुकी थी। अच्छा बाबा, अब माने लेती हूँ कि पुरुषकी प्रशंसा-भरी निगाहों और हसरत-भरी आँखोंसे हर औरतके भीतरकी नारीको एक स्वर्गीय गुदगुदी और आह्लाद मिलता है, वह उमँग उठती है; लेकिन बाहरका खयाल करके वह उसे कुचलकर होंठ कसकर दूसरी ओर देखती चली जाती है। बोलो, अब तो खुश?"

आदमी बड़ा झक्की है। ठीक है, कोई ऐसा भी क्षण होना चाहिए,

जब आदमी ईमानदार हो, सच बोले, जब अपने निर्व्याज रूपमें सामने आये, लेकिन ऐसा आश्वासन मैंने आपको कब दिया कि आप ही वह व्यक्ति हैं या आपके साथ ही वह क्षण आयेगा? जम्हाई लेकर मैंने अपने दोनों हाथ पीछे टिका दिये और काले-काले आसमानपर दो-एक तारोंको टटोलती-सी बोली—"आज क्या आपके दोस्तोंने आपको बोलने नहीं दिया दिनभर?"

"क्यों?" बड़ी आत्मीय-जिज्ञासासे उन्होंने मेरे पास ही मुँह लाकर पूछा।

"तभी तो आज बे-मौक़े यह भाषण पिलाया जा रहा है। आप क्या हर बार यह सोच लेते हैं कि इस बार यह बात करके बोर करना है?"

"दुष्ट!" और उन्होंने अपने कन्धेसे मेरा कन्धा टकरा दिया फिर पीठपर हाथ रख दिया। रूठना ख़त्म हो गया। मेरे शरीरका जैसे तार-तार झनझना उठा। साथ ही अपने इस झनझनानेपर ख़ुद ही विस्मय भी हुआ, जैसे मेरे बावजूद ऐसा हुआ हो। हाथ वहीं रखा रहा, और ब्लाउज़के कपड़ेके पार उनकी उँगलियोंकी फड़कन मुझे अपनी खालपर महसूस होती रही, जैसे कोई चीज़ थी, जो उनकी उँगलियोंसे होकर मेरी रग-रगमें समायी जा रही हो। पहले तो मैं एकदम बड़ी अव्यवस्थित-सी हो उठी; लेकिन जब महसूस किया कि उदयका हाथ धीरे-धीरे हट गया है तो मुक्तिकी साँस ली। आज इन्हें हो क्या रहा है? अभी कॉफ़ी-हाउसके सामने भी तो···मन बड़ा बोझिल हो गया।

हम-लोग थोड़ी देर यों ही चुपचाप बैठे रहे, जैसे दो अपरिचित बैठे हों—ख़ाली और शून्य! भीतर मनमें एक अस्पष्ट-सा ज्ञान भी था कि पीछेसे आने-जाने वाले लोग देखकर तो हमें भी शायद रोमांस करते किसी जोड़ेके ही रूपमें लेंगे—ज्यादासे ज्यादा पति-पत्नी समझ लेंगे। किसीको क्या मालूम कि हम लोग कितने अपरिचित हैं···कितने दूर-दूर हैं। हम लोगोंके बीचमें कहीं भी तो कोई वैसी बात नहीं है···हमारे सम्बन्ध

तो निरे शाब्दिक हैं···। और ऊपरी चेतनामें एक अजब-सा उल्लास भरा था···कैसा रोमानी वातावरण है। मनमें चाहे जो समझें, लेकिन मान लो, अगर हमारे सम्बन्ध कभी बहुत घनिष्ठ हो गये, बहुत ही अधिक घनिष्ठ हो गये तो खुद हमलोग ही अपने इन क्षणोंको शायद रोमांसके क्षण ही तो कहेंगे···। यों गोदीमें ढीले-ढीले हाथ रखकर बैठे-बैठे सामने ताकते रहना, अपलक कहीं दूर खोये रहना और झूलते पाँवोंको धीरे-धीरे हिलाते जाना···आखिर कब तक चलता रहेगा ? उदयके हाथकी गर्मी अभी तक पीठपर महसूस हो रही थी। मन होता था, धीरेसे उदयकी ओर अनजान रूपसे झुककर उनके कन्धेपर सिर टिका दूँ···कितना अँधेरा था। मैंने उदयकी ओर देखा : एक आशंका थी कि शायद यों ही बातें करते-करते या सोचते-सोचते वे अपने कन्धे मेरे कन्धोंसे फिर छुला देंगे···और उनका हाथ मेरी गोदीमें पड़े हाथपर आ रहेगा और फिर वे धीरे-धीरे उसे अपनी मुट्ठीकी पकड़में ले लेंगे···मेरी उँगलियाँ चटकाने लगेंगे···। उस कम्बख्त तेजको मेरी उँगलियाँ चटकानेकी कैसी आदत थी। जब भी मौक़ा मिलता, हाथ प्यारसे अपने हाथमें लेकर दबाते-दबाते वह उँगलियाँ चटकाने लगता। मैं लाख मना करती : "टूट जायँगी···। आड़ी टेढ़ी हो जायँगी···देखो कलका ही, अभी तक दर्द हो रहा है···" लेकिन वह भला क्यों माने? कहता—"हमारी चीज़ है हम जो चाहें सो करें···।" "बड़ी आयी तुम्हारी चीज़। शीशेमें मुँह देखो जाकर पहले।" मैं उसे चिढ़ाया करती। उँगलियोंमें दर्द होने लगता था; लेकिन उसे देखते ही रह-रहकर एक कसमसाहट होती कि वह उँगलियाँ चटकाये···। एक दिन पता नहीं वह कहाँ खोया था। बस, हाथमें हाथ लिये रहा। मैं आशा करती रही,···इच्छा होती दूसरे हाथसे उसकी मुट्ठी कसकर अपनी उँगलियाँ चटकवा लूँ···फिर कहा था—"आज बड़े सज्जन हो गये हो···" बहुत दिनों बाद उँगलियोंमें वैसी ही कसमसाहट महसूस हो रही है। मन होता है, इन्हें कोई खूब चटकाये···खूब चटकाये। उदयका

दाहिना हाथ मेरे पास ही धरतीपर रखा था। कई बार इच्छा हुई कि अपना हाथ इस तरह उस हाथके पास रख दूँ कि दोनों आपसमें छुलते रहें ···लेकिन मैंने कुछ भी नहीं किया और अपने आप ही अपनी गोदमें पड़े हाथोंकी उँगलियोंको चटकाती रही···ठंढी गीली-गीली हवाओंसे कनपटियों-पर हिलनेवाले बाल भीतर विचित्र-सा रोमांच पैदा करते रहे।

वे कहीं बहुत दूरसे कहते रहे, गहरी साँस लेकर—"वैसे तुम्हारी बात ठीक है। सुबहसे ही आज कम्बख्तोंका भाषण सुनना पड़ा है। तुम भी अपनी सलाह दो भाई, मैं क्या करूँ ? जबसे आया हूँ, अपर्णा बहन कह रही हैं कि यहाँ तुम कुछ भी नहीं कर सकोगे। ये बड़े शहर तो व्यापारियों-के लिए हैं—यहाँ न तुम्हारा लिखना होगा, न पढ़ना। यहाँसे अपने घर चले जाओ, जैसे हो, चले जाओ। शायद ही कोई हफ्ता गया हो, जब उसने यह बात न लिखी हो···"

"और रजनी···?" मैं बीचमें बोली।

"रजनी क्या कहेगी बेचारी।" वे जैसे कहीं डूबते-डूबते सँभल गये, "यही बात वे दोनों राक्षस मुझे समझाते रहे कि बम्बई तुम जैसोंके लिए नहीं है। यहाँ के लिए बहुत ही चालाक और चलता-पुर्ज़ा आदमी चाहिए। तुम क्यों यहाँ अपना वक्त बरबाद करते हो···"

"थे कौन ?" मैंने स्वरमें हमदर्दी लाकर पूछा और सीधी बैठ गयी। "दोस्त हैं पुराने। घूमने आये हैं। कहते हैं, यहाँ मैं सिर्फ़ भटकूँगा और कुढ़ूँगा—करूँगा कुछ नहीं···। मेरी हालत बड़ी अजब है। जितना ही लोग मुझे समझाते हैं उतनी ही मुझे ज़िद आती है कि चाहे कुछ हो जाय, रहूँगा यहीं। आदमी क्या इतना मजबूर है कि जहाँ चाहे रह भी नहीं सकता ? बस, अपर्णा बहनकी बात कभी-कभी मेरा मन डावाँडोल कर देती है···।"

मैंने समझदारीसे कहा : "अपना आप जानें, लेकिन इतनी बात मैं भी कहूँगी कि यहाँ आप अपनी प्रतिभाका पूरा उपयोग नहीं कर पायेंगे।

यहाँकी तरह-तरहकी समस्याएँ आदमीको इतने हिस्सोंमें तोड़ देती हैं कि अपने पूरे व्यक्तित्वसे वह कोई काम ही नहीं कर सकता और इतना उपदेश मैं भी दूँगी कि लिखना व्यक्तित्वका सम्पूर्ण समर्पण चाहता है। हो सकता है कि आप ज़िदमें अपनी प्रतिभाके उपयोगके सबसे अच्छे क्षण गँवाये दे रहे हों···" मैं उनकी बातमें और अधिक दिलचस्पी लेकर बोली। यों उनके जानेकी बात इस वक्त बड़ी बेमौक़े लगी; लेकिन मन ही मन सोचती थी कि हो सकता है मेरा इस वक़्तका कहना सचमुच असर कर जाय, और वापस जाकर वे ऐसी चीज़ें दें कि उनके लेखनका नया-युग प्रारम्भ हो। तब आगे जाकर यह बात उनके और दूसरे लोगोंके सामने नहीं आयगी ? कोई लिखेगा, 'सुजाताजीके समझानेसे आप बम्बईसे लौट आये। यहाँ आकर अपनी सर्वोत्तम कृतियाँ दीं। आपके जीवनके मोड़में सुजाताजीका बड़ा हाथ था···' सच ही क्या इनके जीवनके मोड़में मेरा कहीं हाथ हो सकता है ? उस समय यह सोचकर मन ही मन एक सन्तोष हुआ कि देखो, कितनी तटस्थ और निरुद्विग्न मैं यह सब सोच सकती हूँ।

"मेरी खुद समझमें नहीं आता, मैं क्या करूँ ?" वे वैसे ही आविष्ट स्वरमें बोलते रहे—"कभी-कभी खुद ही हँसी आती है कि इस झूठ-मूठकी शहादतमें क्या रखा है, क्यों नहीं मैं घर चला जाता ? अब आज ही की बात लो। हस्ब-मामूल नौकर-राम मैटिनी चले गये। दो खत डालनेको दिये थे सो उनका भी पता नहीं कि टिकिट बेच खाये या उन्हें ठीक जगह डाल भी दिया। जब ये दोनों दोस्त आये तो मैं फ़ाउण्टेनपेनके पीछेके हिस्सेसे चायमें चीनी मिला रहा था···चम्मच ही नहीं मिली। भीतरसे मन जाने कैसा-कैसा हो रहा था कि देखो, एक तो ख़ुद ही चाय बनाओ फिर उसमें भी यह झंझट। इच्छा हुई कि चाय-चीनी सबको उठाकर खिड़कीसे बाहर फेंक दें···। यह भी कोई ज़िन्दगी है···! इसके पीछे वाक़ई अगर कोई उद्देश्य हो तो एक बात भी है।"

मैं चुपचाप सुनती रही। भीतर एक ज्ञान उभरने लगा था कि देर हो गयी है। अब चलना चाहिए। अक्कासे कहकर आयी थी कि सिनेमा देखकर आऊँगी कॉलेजकी एक लड़कीके साथ। इतनी बड़ी तो हो गयी। अब भी अक्काका यह नियन्त्रण कभी-कभी झुँझलाहट पैदा कर देता है। एक तरफ़ तो दिन-रात मेरी जान खाती है कि अब शादी कर ले, घर बसा ले। फिर कौन करेगा तेरी शादी? दूसरी तरफ़ इतनी भी छूट नहीं देती कि आँखोंसे एक पलको भी ओझल हो जाऊँ। घर क्या आसमानमें मैं बसा लूँ? मैंने उदयकी बातके जवाबमें कहा, "रजनीको क्यों नहीं बुला लेते, अब आखिर घर बसाइए न, हमें भी जान खानेको एक भाभी मिले।"

"रजनी...!" वे ज़ोरसे बड़ी नकली-सी हँसी हँसे : "रजनीको तुमने देखा ही कहाँ है! देख लोगी तो ये सारी पागलपनकी बातें नहीं करोगी। पता नहीं सुजाता, मैं एकान्त मनसे कभी सोच ही नहीं पाता कि मैं रजनीको प्यार करता हूँ या वह मुझे चाहती है। शुरूसे ही एक चला आता मोह है, और बस, जैसे दोनों एक दूसरेकी ओरसे निश्चिन्त हैं, जैसे दो पुराने मित्र हों। चूँकि पुराने हैं इसीलिए मित्रता भी महसूस करते हैं; लेकिन मित्रताकी आगका दोनोंमें अभाव रहता है। अक्सर एक ही शहरमें रहनेवाले ऐसे मित्रोंको तो तुमने देखा होगा, जो कभी बचपनमें छठे-सातवें तक साथ ही पढ़े थे। अब वे आते हैं; दो बातें आपकी बीवीसे कीं, बच्चोंको थपथपाया, घरमें दो चक्कर लगाये और चले गये। हफ़्तों आपका सामना होता है, 'खाना खाओगे?' के सिवा दूसरी बात नहीं होती। आप भी जब उनके यहाँ जाते हैं तो इसी तरह घूम-फिर आते हैं। और यही सब चलता रहता है। रजनीसे मेरे सम्बन्ध कुछ-कुछ इसी तरहके हैं। अक्सर मुझे अपर्णा बहनकी बात सच लगती है कि वह काफ़ी चालाक है और किसी अवसरके लिए मुझे अटकाये हुए

है कि पता नहीं कब ज़रूरत पड़ जाय। जब मेरी ओरसे खिंचाव-सा महसूस करने लगती है तो फिर चारा डाल देती है।"

"अच्छा, एक बात कहूँ ?"

"हाँ..."

"बिलकुल सच ?"

"मुझे तो तुमलोगोंकी तरह झूठ बोलनेकी आदत नहीं है।"

"आपके और अपर्णा बहनके आपसमें क्या सम्बन्ध हैं ?" यह नाम लेते ही प्रिन्सेस अपर्णाका चेहरा मेरी आँखोंके आगे घूम गया।

इस बार वे फिर खूब खुलकर हँस पड़े। उन्होंने अपना हाथ बढ़ाकर मेरे हाथपर रख दिया और बोले—"अब मेरी बात ही पूछे जाओगी या कुछ अपनी भी बताओगी ?" मेरी उँगलियोंसे खेलते हुए उन्हें याद आ गया : "अरे देखो न, मैं भी कैसा बेवक़ूफ़ हूँ कि बस, अपनी ही अपनी बात बके जा रहा हूँ, तुमसे कुछ पूछनेकी ज़रूरत ही नहीं लगी। पर मैं भी करूँ क्या, अजब बात है कुछ। जब भी तुम्हारे सामने होता हूँ, एक अजब-सा नशा छा जाता है कि कुछ-न-कुछ बके ही चला जाता हूँ। हर बार तय करता हूँ, इस बार जब मिलोगी तो कम-से-कम बोलूँगा और सुनूँगा अधिक। लेकिन फिर ध्यान ही नहीं रहता। जो बातें किसीसे नहीं कहता, वे सब अपने आप खुलती चली जाती हैं..."

"अरे, हम ऐसे बड़े जादूगर हैं, हमें पता ही नहीं था।" मैंने खिल-कर मज़ाक़में कहा। गहरेमें यह भी समझ गयीं कि मेरी बात टाल दी गयी है। "आखिर कारण तो पता लगाया ही होगा कि क्यों ऐसा होता है...?"

"कारण क्या होता, यारी हो गयी है।" बच्चों जैसे भोलेपनसे उन्होंने ऐसे सहज भावसे यह वाक्य कह दिया कि मैं एकदम चकित रह गयी। उनके हाथमें मेरा हाथ सहसा ही कंटकित होकर पसीज आया...। लगा

जैसे बत्तियोंकी धनुषाकार लाइन झमककर एक घेर ले उठी···। अभी-अभी चेखवकी एक कहानी पढ़ी थी···प्रेमी और प्रेमिका बर्फ़ीले ढलानपर स्कीइङ्ग कर रहे हैं···दोनों ऊपरसे नीचे फिसलते हैं, तेज़ीसे नीचे आते हुए दोनोंके मुँह पास-पास आ जाते हैं। हवा 'शूँ···शूँ' करती गुज़र जाती है और लड़कीको ऐसा लगता है जैसे कोई उसके कानपर मुँह रखकर कह रहा हो, 'आई लव यू···आई लव यू···'। उसका अंग-अंग पुलक उठता है···। लड़की निर्णय नहीं कर पाती कि यह शब्द सचमुच उसका साथी कह रहा है या सिर्फ़ हवाकी शूँ-शूँसे ही उसे ऐसा सुनाई दे रहा है, जिसे उसकी आन्तरिक कामनाने इन शब्दोंका रूप दे दिया है···और जैसे इसी बातका निश्चय करनेके लिए वह बार-बार ऊपर जा-कर फिसलनेका आग्रह करती है···आई लव यू···आई लव यू···। हाय कैसी उन्मुक्त होती होंगी वे लड़कियाँ जो निर्द्वन्द्व भावसे प्यार कर सकतीं और प्यार पा सकती हैं···। मैं कहूँ···? शायद गर्दन कट जाय तब भी ये शब्द मेरे मुँहसे न निकलें। जाने क्यों, ऐसा लगता था कि इन शब्दोंको सुननेका अधिकारी बग़लमें बैठा यह व्यक्ति नहीं है। दूर··· बहुत दूर कोई है, जिसके कानमें मैं कभी यह बात कहूँगी···। नहीं उदय, तुम इसके अधिकारी नहीं हो···कोई और है, कोई और है···। मेरा हाथ क्यों नहीं छोड़ देते, वरना मैं फिसलकर नीचे पत्थरोंपर सरक रहूँगी···। क्या गिरते हुए मुझे भी हवामें वैसे ही शब्द सुनाई देंगे···? आई लव यू···। शायद वे दिन बीत गये जब हवाओंमें ऐसे शब्द सुनाई दिया करते थे···। पता नहीं क्या था कि भीतरसे उमड़ा आ रहा था। याद आया, उदयने कहा था—'यारी हो गयी है।'

मैं स्तब्ध और निर्वाक् आत्मीय निकटताका अनुभव करती रही··· फिर जब सहसा अपनी स्थितिका होश आया तो उँमगकर बोली—"अच्छा, एक बात बताइए, इस बारेमें कल हमारी प्रिन्सेससे भी बड़ी देर बातें होती रहीं···"

"तुम क्या चौबीस घण्टे बस प्रिन्सेसकी ही बातें सोचती रहती हो?"

"अरे, सुनिए भी। बड़ी दिलचस्प बात बता रहे हैं। आपको हर वक़्त ही मज़ाक़ रहता है?" मैंने बेचैनीसे हाथ झटकाकर कहा—"उसका कहना था कि स्त्री-पुरुषके बीचमें दोस्ती, एक आत्मीय घनिष्ठता, बिना शारीरिक सम्बन्ध आये सम्भव नहीं है।"

"और तुम?"

"मेरा कहना था कि बिलकुल सम्भव है।"

"बस तो ठीक है। तुम लोगोंने जब आपसमें ही फ़ैसला कर लिया तो मैं क्या बोलूँ?"

पहली बार तो उन्होंने टाल दिया, लेकिन शायद ध्यान आ गया कि इस बातको टालनेसे कहीं पिछली बात भी न पकड़ ली जाय। बोले, "यों मेरा भी ख़याल तुम्हारी प्रिन्सेससे मिलता है। मेरी समझमें यह बात अभी तक नहीं आती कि तुम लोग शरीरको इतना महत्त्व क्यों देती हो? बम्बई जैसे शहरमें हमारे आस-पास परिस्थितियाँ ऐसी नहीं हैं कि शरीरको लेकर ज़्यादा माथा-पच्ची की जाय, या नैतिकताके वे ही मापदण्ड काममें लाये जायँ, जो यहाँसे अलग परिस्थितियोंमें लाये जाते रहे हैं। यहाँ बस, ट्राम, सिनेमा, मीटिंग सभी जगह तो एक-दूसरेसे भिड़न्त होती रहती है। तुमने कभी सोचा है कि पुरुष-पुरुष या स्त्री-स्त्रीके बीचमें जो खुलापन, एक बेझिझक अपनापा बहुत शीघ्र और सहज आ जाता है वह क्यों? यही तो वजह है न, कि वहाँ हर वक़्त यह भूत दिमाग़पर नहीं रहता कि किससे किसका क्या छू रहा है या किसकी निगाहें किसके किस अंगपर हैं। जहाँ जान-बूझकर या [illegible] दोस्ती खत्म हो [illegible] ? [illegible] आगे जाकर एक गहरी मित्रता, एक उन्मुक्त अभिन्नता आ जाती है उसकी वजह भी तो यही है कि वहाँ एक-दूसरेका शरीर हौवा नहीं रह जाता।"

"बस, बस ठीक है, आप अपनी फ़िलासफ़ी अपने तक रखिए। हमें यह उल्टी-सीधी बातें मत समझाइए। शरीरको महत्त्व न देनेकी बात माननी होगी तो अपना मायावादी दृष्टिकोण ही क्या बुरा है? यहाँ तो शरीर और उसकी अनुरक्ति सभी कुछ धोखा और झूठा माना गया है।" बातकी सच्चाई अनुभव करते हुए भी यह देख कर मुझे बड़ी खिजलाहट हुई कि प्रिन्सेस और उदयके तर्क एक-से ही हैं। जाने क्यों, नये सिरेसे शरीर रोमाञ्चित हो आया और मैंने झटकेसे अपना हाथ खींच लिया।

"दोनोंमें फ़र्क़ है: एक शरीरको सच मानकर, उसे अभ्यासमें ले आना है, और दूसरा उसके अस्तित्वको ही झुठला देना है। किसी देशको जीतकर अपनाना और बात है और घर बैठे-बैठे ही यह कह देना कि वह है ही नहीं, शब्दोंका जाल और छल है।" सहसा उन्होंने मेरे पीछे पीठसे हाथ लाकर दाहिनी बाँह पकड़ ली और धीरेसे, डरते-डरते मुझे अपनी बगलमें खींचकर कहा, "तुम सभी लड़कियाँ एक जैसी होती हो। जब कहनेकी कोई बात न हो तो नाराज़ी।"

स्वीकार करती हूँ, मुझे बुरा नहीं लगा। बल्कि भीतर ही भीतर मैं यह आशा कर रही थी कि यही होगा···होना चाहिए। अब एक हल्का सन्तोष और खुशी महसूस हुई कि मेरी आशा झूठी नहीं थी···मानो परिस्थितिपर विजय मेरी ही रही है। पर पता नहीं कैसे, मेरा दूसरा हाथ उठा और मैं बेमनसे अपनी बाँहपर उनकी उँगलियोंकी पकड़ छुटाती रही। बोली, "तो शरीर जीतनेका काम यहींसे शुरू कर दिया?"

दोनों हँस पड़े।

"विदेह बननेके लिए भी कोई मुहूर्त चाहिए?"

"विदेह!" हल्केसे एक प्यारभरा घूँसा उनकी पीठपर मारे बिना मुझसे नहीं रहा गया।

"यह विदेह बननेका आशीर्वाद है।"

हम दोनों फिर खिलखिला पड़े और ऐसा लगा जैसे वह खिलखिलाहट प्रकाश-तरंगोंकी तरह अँधेरी लहरोंमें तैरती चली गयी। दूर तक जाते हुए मैंने स्वयं अपनी आँखोंसे उसे देखा। लगा, हम दोनों बहुत-बहुत निकटके मित्र हैं…न जाने कबके हैं। अभी तक ऐसा लगता था जैसे भारी बोझकी तरह शरीर किसी पानीमें डूब रहा था, और अब मनकी तरह हल्का होकर ऊपर तैर आया हो। जीमें आया, उनसे बातें करूँ… खूब बातें करूँ। मनकी सारी बातें कह डालूँ। मुड़कर चारों तरफ़ देखा। फ़ुटपाथपर अपनी-अपनी कुर्सियाँ लाकर हवाखोरी करनेवाले पारसी बुड्ढे-बूढ़ियाँ जाने कबके जा चुके थे। एक नारियलवालेको बुलाकर हम लोगोंने दो नारियल लिये। अधिकार-पूर्वक पासका पर्स उठाकर उसमेंसे पैसे खोजते हुए बोले, "हमारे पास आज पैसे नहीं हैं। यह नारियल तुम्हारे हिसाबमें रहेगा।"

मैंने सोचा, अगर सिनेमा देखनेको तैयार हो जाती तो?

पूछा—"हाँ, तो क्या नतीजा निकला आपका, प्रिन्सेस अपर्णासे बहसमें…?"

"सच, बड़ा अजब कैरेक्टर है यह भी। बहुत गम्भीरता-पूर्वक मैं उसपर लिखनेकी सोच रही हूँ।" मैंने उत्साहमें बताना शुरू किया! आश्चर्य हो रहा था कि इतनी महत्त्वपूर्ण बातको इतनी देर मैं पचाये कैसे रही? इसे कहनेके लिए तो मैं जाने कबसे बेचैन थी। खलबली मची थी भीतर। असलमें यह बोलनेका मौक़ा दें, तब न कुछ बोलती। कहा, 'परसों साढ़े नौ बजे रातमें फोन आया। चलो, वारसोवा चलोगी ड्राइवपर? चाँद निकल आया है। बड़ा प्यारा मौसम है। चलो, बड़ा मज़ा रहेगा।' मैंने कहा; 'अपर्णाजी, मैं राजकुमारी नहीं हूँ कि अपनी मर्ज़ीसे जो चाहूँ, करूँ। आप अभी निम्न-मध्यवर्गीय परिवारोंकी हालत नहीं जानतीं। दिन छिपेके बाद, लड़कीको कहीं देर हो जाय तो मुसीबत

हो जाती है। दिनमें तो जहाँ चाहें चलिए।' तो बोलीं, 'कल .फ्री रखिए, शामको जुहू-बीचपर चलेंगे।' तो कल शामको फिर उनकी दूसरी लम्बी-चौड़ी गाड़ी आ खड़ी हुई। इस बार वे खुद थीं। मैंने ऊपर आनेको बहुत बार कहा, नहीं आयीं। बोलीं, फिर कभी आयँगे।' खैर, साहब, जुहू पहुँचे। भगवान् जाने कितना पढ़ती हैं। मैं तो वाक़ई उनसे डरने लगी हूँ मन ही मन···।"

"है यह आखिर कौन ? तारीफ़ें तुम इसकी इतनी करती हो, इसके बारेमें कुछ विस्तारसे भी तो बताओ। क्या करती है ?"

"इस बार मैंने आधी बातें तो पूछ ली हैं। हम लोग वहाँ ज़रा हटकर रेतपर बैठे-बैठे बड़ी देर गप्पें लड़ाते रहे। सचमुच, बड़ी सरल मिलनसार और 'अनऐज़्युमिंग' है। कभी महसूस नहीं होने देती कि प्रिन्सेस है। जब ऊपर हमारे यहाँ नहीं आयी और नीचे ही गाड़ीमें बैठी रही तो मुझे लगा था, शायद इसीलिए नहीं आ रही कि हम साधारण आदमी हैं। ड्राइवर क्या कहेगा ? उसने शायद मेरे मनकी बात समझ ली। लौटते वक्त बोली, 'आओ, चलो तुम्हारा कमरा देखें। क्या-क्या किताबें हैं, क्या-क्या लिखा है ?' उस समय सच उदय जी, मेरी इच्छा हुई कि यह ऊपर न चले। जाने कैसा उल्टा-सीधा पड़ा होगा। तब अपनी इस आदतपर झुँझलाहट आयी : मेरे बाद इस कमरेमें कोई क़दम न रखे, इसमें क्या तुक है ? फिर मेरे पास किताबें भी कम ही हैं। लिखा भी नया कुछ नहीं था···लेकिन वह आकर बड़ी अपनापेसे बैठ गयी—"

उन्होंने बीचमें बात काट दी, "अब आप यह बता रही हैं कि उसने क्या किया, या यह कि उसने क्या जाना ?"

"आप क्यों टोकते हैं सा'ब हमें ? हम भी तो आपकी दुनिया-भरकी बकवास सुनते रहे थे।" मैं चिढ़कर बोली। अपनी बात जारी रखी : "रेत-पर लेटे-लेटे बड़े अजब-अजबसे शेर सुनाती रही। बड़े कमालके शेर याद

हैं उसे। और कितने याद हैं, इसका तो कोई हिसाब ही नहीं। पहली बार देखनेमें ऐसी संयत लगती है, व्यवहारमें उससे ठीक उल्टी है। उसने तो राजकुमारियोंके बारेमें मेरी धारणा ही बदल दी है...।"

"इस बातको आप मुझे दर्जनवीं बार बता रही हैं।"

"देखिए, जो बता रही हूँ उसे चुपचाप सुनते रहिए। सब बता दूँगी, लेकिन अपने ढंगसे। उसमें कुछ बड़ी अजब-अजब-सी बातें हैं। कहाँ तो ऐसी उन्मुक्त है कि पैरोंपर रेत थोप-थोपकर घरौंदे बनाती रही, लेटी-लेटी शेर सुनाती रही और कहाँ उसे अपने राजकुमारी होनेका इतना ख़याल है कि बाज़ारसे एक तिनका नहीं लिया। पान खाना हुआ तो ड्राइवरसे कारमें रखा डब्बा मँगवाया। ड्राइवरने अदबसे पान पेश किया, तो रुमालसे पकड़कर दो टुकड़े खा लिये। साथ ही फलोंका रस भी अपने फ़्लास्कमें लायी थी। ड्राइवरने बीचमें तौलिया बिछा दिया। खूबसूरत कट-ग्लासके आइस-क्रीम कप जैसे गिलासमें एक-एक घूँट करके रस सिप करती रही। मुझसे पूछा, 'आपने कभी शराब पी है?' मैंने तो कानोंपर हाथ रख लिया। 'ना बाबा, ऐसी तो बात भी हम सोच नहीं सकते, लेकिन रस पीनेके उसके ढंग, चुस्की और बादमें होंठोंकी स्थितिसे पता लगता था कि उसने ज़रूर पी होगी। मैंने पूछा, 'आपको तो पीनी पड़ती होगी।' बड़ी समझदारीसे मुसकरायी। आँखें बड़ी 'चार्मिंग' हैं। चुस्की ली और गिलास नीचे रखकर बोली 'अगर मैं कहूँ कि नहीं, तो, आप विश्वास करेंगी?'

उदयने फिर बात काटी, "बिलकुल झूठ। राजकुमारी और शराब न पिये? एकदम असम्भव। अरे, उन्हें बचपनसे पीनी पड़ती है। आगे जाकर जब राजा साहब पूरी मशक चढ़ायँगे तो रानी साहिबा क्या दो-चार पेग भी नहीं चखेंगी?"

"हाँ, यही तो मुझे भी लगा।" मैं उत्साहसे बताने लगी। वह कहती थी, एक-आध सिप कभी लिया, लेकिन क़म्बख़्त कड़वी इतनी होती है

कि मुझसे चलती नहीं।' साँझका समय, जुहू-बीच, रंग-बिरंगे गुब्बारे, खिलौने और खोमचेवाले, लालसे सुरमई होते हुए पश्चिमके हाथी-घोड़े, पीछेकी हरियालीपर ताँबे जैसी झलमलाती हुई किरणें और लहरोंपर उड़ते हुए छोटे-छोटे पक्षी। वह बताती रही, 'हमारे यहाँ सब पीते हैं और इस बुरी तरह पीते हैं कि चार-चार नौकर लादकर लायें। एक दीवान तो इसी चक्करमें मर गये वेचारे। शराबका टोंटीदार पीपा था, आपने सीधे ही टोंटीमें मुँह लगा दिया। लोग मना कर रहे हैं, खींच रहे हैं, लेकिन कौन सुनता है, सबको लातें मार-मारकर भगा दिया। और इसके बाद जो गिरे तो उठे ही नहीं।' मैंने प्रिन्सेसकी जगह उन्हें अपर्णा जी कहना शुरू कर दिया है। पूछा, 'अपर्णाजी, आपकी रियासत कहाँ है?' जब उन्होंने राजस्थानकी एक बड़ी प्रसिद्ध रियासतका नाम लिया तो मैं चकित रह गयी। पूछा, 'आप क्या यहाँ महाराजके साथ ही रह रही हैं? अभी आपने उनके दर्शन कराये नहीं।' कहनेको तो मैंने कह दिया; लेकिन उनके रहन-सहन और बातोंसे जाने कैसे मुझे विश्वास हो गया था कि उनके पति नहीं हैं। इस सवालपर पहले तो उनकी भौहें खिचीं, जैसे मैं किसी निषिद्ध-क्षेत्रमें अनधिकार प्रवेश कर रही हूँ। फिर सँभलकर जवाब दिया, 'रियासतें टूट जानेके बाद एच० एच० इटलीके भारतीय दूतावासमें एक बहुत ऊँचे अधिकारी होकर चले गये हैं।' पता नहीं, क्यों मुझे ऐसा लगा कि एच० एच० का ज़िक्र करते समय उनके चेहरेपर हल्की-सी ऐंठन आ गयी थी, जैसे मैंने उनका दुखता फोड़ा छू लिया हो। इसके बाद मैंने पूछा, 'आप यहाँ अकेली रहती हैं?' तो बोलीं, 'महाराज-कुमार मेरे भाई हैं। मलाबार-हिलपर हम लोगोंका एक कॉटेज है।' मैंने फिर इधर-उधरकी बातोंके बाद पूछा—'करते क्या हैं?' तो मुँह बिचकाकर बताया, 'करते क्या, दो-तीन विदेशी फ़र्मोंके साथ बिजनेस-पार्टनर हैं, बाहरकी बैंकोंमें रुपया जमा है। बस, खुद दिनभर होटल, रेस और शराबपर फूँकते रहते हैं। आजकल एक बहुत प्रसिद्ध ऐक्ट्रेसके

चक्करमें हैं सो बहुत बड़े स्केलपर फ़िल्म कम्पनी खोलनेकी बातें किया करते हैं। हमें तो महीनों उनकी सूरत देखे हो जाते हैं।' मैंने उत्सुकतासे पूछा, 'तो क्या मैरिन-ड्राइव वाले फ्लैटमें नहीं रहते वे ?' 'कभी हफ्तेमें आध घण्टेको आये तो आये, वर्ना हम और भाभी साहिबा बस, दो ही यहाँ रहते हैं। पारसाल तक तो बड़ी महारानी साहिबा, यानी 'माँ' भी यहीं थीं। उनका हार्ट-फ़ेल हो गया।' मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। पूछा—'तो पुरुष कोई नहीं है यहाँ ?' 'यों तो कोई न कोई रिश्तेदार पड़ा ही रहता है, लेकिन स्थायी रूपसे मेरा छोटा देवर और भाई हैं। बाक़ी तो रानी-साहिबा ख़ुद सब सम्हाल ही लेती हैं। इतनी बात है कि चाहे भाभी साहिबाकी भैया चिन्ता न करें, लेकिन मुझे बहुत ही मानता है। मैं फोन करूँ तो आधी रातको दौड़ा आये। भाभीको बीसियों बार टाल चुका है। साहित्य-कलाको चाहे बिलकुल बेकार चीज़ें मानता हो, लेकिन मेरी इतनी इज़्ज़त करता है कि सामने चूँ नहीं कर सकता। मैं आज लाख रुपया बरबाद कर दूँ, एक शब्द नहीं बोल सकता। अभी पिछले दिनों भाभी साहिबाकी लौंगका हीरा खो गया। होगा मुश्किलसे कोई बीस-पच्चीस हज़ारका। वह लताड़ लगायी है कि तीन दिन आसन-पाटी लिये पड़ी रोती रहीं। और मैंने ज़रा-सा इशारा किया कि भाभी कहीं चली जाती हैं तो आने-जानेमें दिक़्क़त होती है, अगले ही दिन मेरी अपनी 'वैंगार्ड' आ गयी। उसीने तो ज़िद करके यह 'जुडीशियल सैपरेशन'की एप्लीकेशन दिलायी।' मैंने पूछा—'तो क्या आप अलग···' तो ऐसा लगा जैसे यह बात अवांछनीय रूपसे उसके मुँहसे निकल गयी हो। टालती-सी बोली—'हाँ, कुछ ऐसा ही व्यक्तिगत मामला है।' यह बात कुछ ऐसे ढंगसे उसने कही कि मैं आगे पूछनेकी हिम्मत नहीं कर सकी। बातें करते-करते मैं उसकी सारी हरकतोंको ग़ौरसे देखती जाती थी। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि अरे, यह तो बिलकुल साधारण लड़कियों-जैसी है। बोल-चाल, ढंग-ढर्रे, किसीमें तो ऐसा लगे कि हम लोगोंसे कुछ अलग है।"

"और कोई ख़ास बात नहीं हुई...?" उन्होंने सोचते-से पूछा।

"और तो सब इधर-उधरकी बातें होती रहीं। मेरा अन्दाज़ यह है, सही भी हो सकता है और ग़लत भी, कि पतिसे काफ़ी समयसे वह अलग है और उन लोगोंमें सम्बन्ध बहुत अच्छे नहीं हैं।"

"इन लोगोंमें तो यह सब चलता ही रहता है।" उदयने बताया।

"हाँ तो बड़ी देर तक हम लोग इसी बारेमें बहस करते रहे कि दो-विरोधी लिंगके व्यक्तियोंमें बिना शारीरिक सम्बन्ध हुए आत्यन्तिक घनिष्ठता हो सकती है या नहीं। नैतिकता और अनैतिकता क्या है? और इसकी ज़िम्मेदारी क्या सिर्फ़ औरतपर ही है, मर्द पर कुछ भी नहीं? मुझे तो ऐसा लगता है जैसे इधर इन सवालोंने उसे काफ़ी बेचैन कर रखा है और उन्हींको उचित सिद्ध करनेके लिए वह अपनी शंकाओं और प्रश्नोंका उत्तर और समर्थन चाहती है। अभी तक तो पता नहीं, लेकिन अगली बार देख लीजिए, मैं सारी बातें पता लगा लाऊँगी।"

"कब मिल रही हो?"

"दो तीन दिनोंमें मिलेंगे। फोनपर ही तय हो जाता है हमारा मिलना तो।"

"एक सलाह मानो, तुम उसकी पर्सनल सेक्रेटरी बन जाओ।"

"जी हाँ, पर्सनल सेक्रेटरी बन जाओ!" मैं मुँह बिराकर बोली। सामने लटकी अपनी चोटीकी लटोंसे खेलते हुए मैंने लक्ष्य किया, इस बार उनके स्वरमें व्यंग्य नहीं था—"जैसे कोई और काम हमें नहीं रह गया है? कम-से-कम एम० ए० तो कर लें। वैसे जो चाहें सो बन सकती हूँ। कभी-कभी तो सोचती हूँ कि डिग्रीके बाद भी करना हमें क्या है? लाओ, ऐसेमें कुछ बन ही जाओ। आपलोगोंपर कुछ रौब ही पड़ेगा।" कहना मैं चाहती थी 'आप' लेकिन 'लोगों' जोड़ दिया।

फिर सहसा हम-लोग उठ खड़े हुए। चलते-चलते बोले—"इन

दो मुलाकातोंमें ही रौब डालनेका मर्ज़ लग गया न ? अच्छा-खासा लिख लेती थी, लड़की हाथसे गयी।"

"दिमाग़ तो नहीं खराब होगया आपका ? अभी तो स्टडी कर रही हूँ, ऐसी चीज़ें दूँगी कि आप भी मान जायँ, किसीने लिखा है कुछ।" आत्मीयतासे मैंने कहा। मुझे जाने कितनी देर बाद याद आया कि अध्ययन तो मैं इनका भी कर रही थी, इस बातको तो जैसे भूल ही गयी। हम लोग धीरे-धीरे पत्थरोंवाले फ़ुटपाथपर चल रहे थे। दीवार-पर बैठकर ताकते लोगोंकी निगाहोंके हर स्पर्शको अवचेतन मनमें महसूस करती मैं दाहिनी ओरकी बिल्डिंगोंको देखती चल रही थी। एक फूलोंके गजरेवाला निकला तो ध्यान आया कि फ़ुटपाथपर आने-जाने वाली हर स्त्रीने अलग-अलग ढंगसे फूल लगा रखे हैं। देखूँ, यह उदय गजरेके लिए पूछते हैं या नहीं। एक बार तो पूछेंगे ही, मैंने कन्धेके ऊपरसे ले-कर अपनी दोनों चोटियोंको सामनेकी ओर कर लिया था और अलग-अलग मुट्ठियोंमें पकड़े झुलाती हुई चहल-क़दमीकी चालसे चल रही थी। सामने गजरेवालेको देखा तो ध्यान आया कि नारियलोंकी तो इन्हें सफ़ाई देनी पड़ी थी, जूड़ेको पैसे कहाँसे होंगे : पता नहीं, जानेको भी हैं या नहीं।"

"अपनी प्रिंसेसको लेकर मेरे मज़ाक़ोंका तुम ग़लत अर्थ तो नहीं लगा लेती ?" वे कुछ अनमने भावसे बोले—"फिर भी एक बात मैं अक्सर सोचा करता हूँ कि हम लोग इन बड़े कहे जानेवाले लोगोंकी दोस्तीको बड़ी गम्भीरतापूर्वक लेते हैं, बड़ा महत्त्व देते हैं, 'सिंसियर' और ईमानदार रहनेकी कोशिश करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि दोस्ती दिखानेके लिए, अपना समय, अपनी शक्ति, अपना श्रम सभी कुछ बरबाद करते हैं। अपने-आपको समझाते हैं कि क्या दोस्तीके लिए हम इतना भी नहीं कर सकते ? लेकिन इन लोगोंकी तरफ़से स्थिति दूसरी है। इनके लिए तो वक़्त काटनेको एक मनोरंजन चाहिए। एक खिलौना, जिसे

निर्जीव मानकर जब तक इनका मन हो ये खेल सकें और जब वह पुराना पड़ जाय, या उधरसे रुचि हट जाय तो दूसरा बदल लें।''

इस बार उनके स्वरमें कोई परिहास नहीं था। सच्चे दोस्तों जैसी सलाह थी। मैंने बड़ा निर्जीव-सा विरोध किया—"तो क्या मैं ऐसी कमज़ोर और बेवक़ूफ़ हूँ?"

"वह सब तुम जानो। लेकिन तुमने मार्क किया होगा, जब ये लोग उन लोगोंसे मिलते हैं, जिन्हें 'साधारण' समझते हैं तो इनके हर व्यवहारमें एक शहीदों जैसा दर्प होता है कि 'देखो, हम झुककर तुमसे मिल सकते हैं, इतने महान् हैं हम।' और उनकी सामाजिक स्थितिके कारण हम भी यही समझते हैं। फल यह होता है कि हमारा सारा मस्तिष्क इन्हींको लेकर तरह-तरहकी चिन्ताओंसे उलझा रहता है। जैसे हम लोगोंके लिए समय निकाल पाना एक समस्या है, वैसे ही इन लोगोंके लिए समय बिताना। खैर, यहाँ तक तो मुझे कोई गिला नहीं; लेकिन कहीं आपके किसी व्यवहारसे आपकी यह चिन्ता, यह कसक व्यक्त हो जाय कि आपके सामने रहने-खाने जैसी आधारभूत समस्याएँ भी हैं, कुछ सीमाएँ और परेशानियाँ हैं कि आपके हाथ बँधे हैं, तो इनमेंसे हरेक यह समझता है कि उससे पैसा झटकनेकी भूमिका बनायी जा रही है। आपसे आपका बहुमूल्य या सर्वश्रेष्ठ लेकर भी ये लोग अपने उसकी चिन्तासे घुलते रहते हैं, जिसका न तो इनके लिए बहुत मूल्य ही है और न जो इनका सर्वश्रेष्ठ है।"

"हो सकता है, आपकी बात सच हो, लेकिन प्रिन्सेस बेचारीने तो अभी तक कोई ऐसी बात की नहीं है।" मैं एक बार फिर प्रिन्सेसके एक-एक व्यवहारको मन-ही-मन दुहराती बोली।

"हो सकता है तुम्हारी प्रिन्सेस इसका अपवाद हों।"

और हमलोग चुपचाप चहल-क़दमी करते, आस-पासकी दुनियासे बेख़बर चर्चगेट-स्टेशन आ गये। दादरकी अगली गाड़ी कब आयेगी, यह

देखनेके लिए जब घड़ीकी ओर देखा तो सुई ६-४० पर लगी थी। आज फिर खैर नहीं है···

अब तो उँगलियाँ बहुत ही दुखने लगी हैं। मैंने भी कितना घसीटा है आज। ध्यान ही नहीं रहा। अब दो बजे हैं। मन होता था कि जो कुछ मनमें है सब कुछ इन्हीं पन्नोंपर उँडेल दूँ, ताकि जी हल्का हो। कभी-कभी सोचती हूँ कि आगे बहुत दिनों बाद जब इन पन्नोंको पढ़ूँगी तो कैसा लगेगा? आजकी स्थितिसे उस समय बिलकुल कट और गुज़र चुकी होऊँगी और जब दूसरे व्यक्तिकी तटस्थतासे पढ़ूँगी तो वे सारी छोटी-छोटी बातें जो आज मेरे मनमें हलचल मचा देती हैं, बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगती हैं—शायद तब बहुत ही बेकार और अर्थ-हीन लगें।

मंगलवार : २ जुलाई

कानोंमें अभी तक वह लाजभरी हँसी गूँज रही है···

पता नहीं कैसी याददाश्त हो गई है कि कोई चीज़ रखकर याद ही नहीं रहता। ज़रूरत पड़नेपर सारी आलमारी और दराज़ें खखोलनी पड़ती हैं और वह चीज़ मेज़पर ही रखी मिल जाती है। हाथमें पेन लेकर इधर-उधर पेन ढूँढ़ती हूँ। सुबह जाने क्या खोज रही थी कि एक किताबके पन्ने कुछ अलग-अलग-से लगे। निकाली। किताब थी 'श्रीकान्त' पहला भाग। खोली कि पन्ने ठीक कर दूँ तो देखा, पन्नोंके बीचमें रजनी-गंधाका एक लम्बा-सा फूल दबा था। पहले तो कुछ समझमें नहीं आया, लेकिन फिर जैसे एक रील-सी खुलती चली गई। पन्नोंमें चिपककर तितली-के परों जैसा हो गया था। उँगलियोंमें पकड़े बिस्तरपर चित आलेटी···बम्बई आ रही थी और तेज स्टेशनपर छोड़ने आया था। कोटका फूल निकाल-कर दिया चलते समय। इतने लोगोंके सामने कितनी मुश्किलसे आँसू पिये

थे…होंठ काँप रहे थे…। पहले तो फूल मुट्ठीमें लिये रही, फिर उसे ब्लाउज़में रख लिया था। रास्तेमें 'श्रीकान्त' पढ़ रही थी। बार-बार निगाहें लाइनों-से उठकर, हरियाली चूनर ओढ़े, गरबा-नृत्यमें झूमते पेड़ोंकी पंक्तियोंमें खो जाती थीं। और मन सुनहरे बादलोंवाली आसमानी नीलिमामें उतरता चला जाता था। साथ-साथ झुकते- उठते टेलीग्राफ़के तार चल रहे थे। खिड़कीसे बाहर झुककर फूल निकाल लिया और उसे देर तक होठों और गालोंसे छुलाती रही। फिर चुपचाप पन्नोंमें रखकर दबा दिया था…आज अचानक भूली याद-सा यह निकल आया। तेजका वह कॉलर, उसमें लगा फूल सब कुछ मुझे इतना साफ़ दिखाई देने लगा, जैसे उसके फूल निकालनेसे पहले ही मैं स्वयं हाथ बढ़ाकर खुद उसके कॉलरसे वह फूल निकाल लूँगी। नेवी-ब्लू समरका सूट था, चॉकलेट-कलर टाईकी अमेरिकन नॉट आज भी ज्यों-की-त्यों उसकी ठोड़ीके नीचे दिखाई दे रही है…। मुरझाया फूल और तेजका चेहरा…भगवान् करे, उसका चेहरा हमेशा ताज़े फूल-सा खिला रहे…। कहीं उसपर कोई संकट तो नहीं आ पड़ा ? हो सकता है आज अचानक ही अदृश्यने मुरझाया फूल सामने लाकर यह संकेत दिया हो कि किसी कारणसे उसका चेहरा ऐसा ही मुरझा गया है…। ऐसे संकेतोंकी बात कई लोगोंसे सुनी है।…कभी-कभी ये बातें भी सच हो जाती हैं…। कोई मुसीबत तो नहीं आ गई ?

तेजकी बहुत याद आती रही। देखो, कम्बख़्तने साल-भरमें एक ख़त नहीं लिखा। सचमुच कैसा धोखेबाज़ निकला यह व्यक्ति ! पता नहीं, फूल हाथमें लेकर मैं कैसी मजबूर हो गई। दुर्निवार इच्छा हुई कि लाओ, सारा मान-सम्मान तोड़कर उसे एक ख़त लिखा जाय। जवाब दे या न दे, कम-से-कम यह तो लिख दे कि कहाँ है, कैसा है। और जैसे-तैसे मैं उठी। बिस्तरपर मेंढक बनी पैड सामने रक्खे, पेनको दाँतोंसे ठोकती घण्टों ख़ाली काग़ज़को ही घूरती रही। क्या लिखूँ, सम्बोधनमें ? 'तेज

मेरे' नहीं, अब वह 'मेरा' कहाँ है ? 'तेज डार्लिंग' यह सम्बोधन तो जाने कबका समाप्त हो गया। तो क्या 'तेज' ही लिख दूँ केवल ? लेकिन मनके जिस उच्छ्वासमें उस समय पत्र लिखने बैठी थी, यह नामभर बहुत सार्थक और सम्पूर्ण नहीं लगा। आख़िर सीधी लेटकर ताँबेके एरियलकी जालीदार पट्टीपर निगाहें गड़ाये, बड़ी देरतक जाने क्या-क्या देखती और सोचती रही। और जब कनपटियोंसे बह-बहकर कानोंमें कुछ गीला-गीला लगा तो पोंछनेके लिए हाथ बढ़ाते समय ध्यान आया, अरे, हाथमें तो अभी तक पेन ही पकड़े हूँ और यह गीला-गीला और कुछ नहीं, आँसू है। अपने आप ही निगाहें दरवाज़ेकी तरफ़ चली गईं, किसीने देख तो नहीं लिया ? फिर कभी और लिखनेके लिए पेन और पैड एक ओर सरका दिये···

बीचमें तो ऐसा लगा था जैसे मैं तेज-वेज सबको भूल चुकी थी; लेकिन अब तो जब-जब उदयको देखती हूँ या उनकी बात सोचती हूँ, अपने-आप ही तेजकी याद हो आती है। जैसे एक अदृश्य तुलना है जो दोनोंमें चलती रहती है। कभी-कभी सोचती रहती हूँ कि नहीं, कुछ नहीं, वह सब तो किशोरावस्थाका एक खिलवाड़ था। इस बार तो उदयने ही उसकी यादको कुरेद दिया था उस दिन।

रेलमें बैठे-बैठे उदयने एक बात पूछी थी : "तुमने कभी किसीसे प्रेम किया है ?"

"नहीं जी, हम सीधे-सादे स्टूडैण्ट रहे हैं, हमें ये सब ख़ुराफ़ातें करनेका वक़्त कहाँ मिला ?" मेरा बना-बनाया उत्तर था।

उन्हें जैसे मेरे इतने सीधे और सरल उत्तरकी उम्मीद नहीं थी। उस समय हमलोग एक दूसरेके प्रति जिस आत्मीयता और मैत्रीकी छा लेनेवाली अनुभूतिमें डूबे थे, उसने एक ऐसी अण्डर्स्टैण्डिङ्ग दे दी थी कि उस क्षण शायद चाहकर भी झूठकी उम्मीद नहीं की जा सकती थी।

मनमें एक उच्छ्वास था कि चाहे कुछ न बोला जाय और चुप ही रहा जाय, कम-से-कम झूठ न ही बोला जाय। लेकिन इस सवालका जवाब 'हाँ' में देते नहीं बना—तेजका मोटी-मोटी भौंहों वाला चेहरा आँखोंके आगे आ खड़ा हुआ।

"कभी किसीके प्रति घनिष्ठता या आत्मीयता भी अनुभव नहीं की?" वे खिड़कीसे बाहर गुज़रते बाज़ारों और बिल्डिंगों, नारियलके पेड़ों और सागरको देखते रहे। तेज़ हवासे उनके और मेरे बाल लहरा रहे थे और बार-बार उँगलियोंसे उन्हें कानके ऊपर सँभालना पड़ता था। यहाँ भी जब ट्यूब रेलें—मैट्रो—बन जायेंगी तो यह सब देखनेको कहाँ मिलेगा…? तब तो निरन्तर चलती एक सपाट दीवार होगी।

"न्ना!" कहकर मैं ऐसी खोई-खोई देखती रही मानो सचमुच इस तरहके किसी सम्बन्धको याद करनेकी कोशिश कर रही हूँ। मेरे होंठ यों ही भोलेपनसे ज़रा-से खुले रहे। इस पोज़में मेरा चेहरा बड़ा मासूम और अबोध-सादगीसे भरा लगता है। सच बात तो यह है कि मैं इस प्रश्नकी जाने कबसे उम्मीद कर रही थी। हरबार उनसे मिलकर मुझे आश्चर्य होता कि यह प्रश्न आया क्यों नहीं? सबसे ज्यादा उम्मीद थी मैरीन-ड्राइवपर। हर क्षण लगता जैसे अगला प्रश्न यही है। और आज आख़िर वह आ ही गया। लेकिन जिन क्षणोंमें यह आया है, उनमें इसकी मुझे उम्मीद नहीं थी। मेरी इस सपाट 'न्ना' पर उन्होंने कतई विश्वास नहीं किया है, यह साफ़ था। मैंने अपनी बातको साफ़ करनेके लिए स्निग्ध-स्वरमें कहा—"बात यह है कि अभी तक तो हम रहे यू० पी०में। वहाँ जैसी निगरानी और वातावरणका जो स्वरूप है, उसे तो आप जानते ही हैं। वहाँ तो लड़की होना ही मानो पाप है। यही एक अपराध-भावना छातीपर वहाँ हरवक्त छाई रहती है कि हम लड़की हैं; परिचय या सम्पर्ककी बात ही नहीं उठती।"

बात पूरी करके मैंने उधर कनखियोंसे देखा।—चेहरेकी रेखाओंमें

मुखर अविश्वास और होठोंपर एक ऐसी कुटिल-मुसकराहट थी जैसे वे वर्षों पहलेसे जानते हैं कि इस प्रश्नका कोई लड़की क्या उत्तर देती है। फिर भी हर प्रेम-कहानीमें एक लड़की होती है (वर्ना प्रेम-कहानी बने ही क्यों ?) आख़िर वह आ कहाँसे टपकती है ? और किसी लड़कीसे पूछिए तो—'नहीं, उसका सम्पर्क लड़कों जैसे दुष्ट-जन्तुओंसे कैसे रह सकता है ? असम्भव ! यह तो उसका पहला ही दुर्भाग्य है कि उसे आपसे बातें करनी पड़ रही हैं। वर्ना वह ?—वह इतनी नीचे कभी नहीं गिरी।' और यह सब जैसे उदयकी भौंहोंकी मरोड़, बाहर झाँकनेसे मेरी ओर आगई कनपटीकी हरकत, फड़कन सभीसे मुखर होता था। ये भौंहें···?

हमलोग एक ही सीटपर बैठे थे। उनके और मेरे कन्धे आपसमें छू रहे थे—एक मांसल दबाव गाड़ीके हिलनेसे महसूस होता, रीढ़की हड्डीमें कुछ सनसनाने लगता कन्धोंपर गुदगुदी होती, और तबतक बड़े बे-मालूम ढंगसे वे कन्धा हटा लेते या मैं हटा लेती···और फिर···। अभी-अभी कैसे हमलोग 'विदेह' बननेकी बातें कर रहे थे। शरीर जीतना सचमुच इतना आसान है ? आस-पासवाले लोग क्या सोच रहे होंगे ? हमलोग बड़ी देर चुपचाप बैठे रहे, जैसे जो कुछ अभी हो चुका है, जिन क्षणोंसे होकर गुज़रे हैं, उन्हें ही पीरहे हों। नैकट्यकी एक घनिष्ठता थी, एक मूक समझौते जैसी चीज़ कि दोनोंके बीचमें अगरुके पवित्र-धूम्रकी तरह छाई हुई थी। मौन बड़ा अखर रहा था और उसमें भी यह कन्धोंका टकराना, आस-पासकी निगाहें, और देर हो जानेसे घर-का निकट आता भय,—लगा यह सब असहनीय हो जायेगा ! जबतक बैठे हैं तब तक तो इसे बहलाये रहें। सामनेवाली सीटपर हाथ रखकर मैं उनकी ओर मुड़कर इसतरह हँसती हुई बोली, जैसे कुछ याद करते-करते स्मृतियोंके बीचमें बोल रही हूँ : "हाँ, याद आया। एकबार ऐसा सम्पर्क हुआ था।"

वे कुछ चौंके। मेरी ओर मुड़कर जैसे विश्वास करनेके लिए देखा।

बृहस्पति : ४ जुलाई

आज सुबहसे ही आसमानमें बदली अँगड़ाई ले रही है। सुबह गहरे गुम आकाशपर पहले सलेटी बादलोंकी एक मोटी तह थी और उसके ऊपर झीने-झीने रुईके गालोंकी तरह सफ़ेद धुँए जैसे बादल मरोड़े खा रहे थे··· हवामें एक ऐसा सीलापन था कि मन भीग-भीग उठता था। लगता था, पानी अब बरसा····अब बरसा। जैसे, ऐसे मौसमको जाने कबका बरस जाना चाहिए था, लेकिन यह बरस क्यों नहीं रहा—बड़ी बेचैनी थी।

सिर्फ़ एक ही पीरियड था, उसे मैं गोल कर गई। एक अजब-सा नशा दिनभर छाया रहा···मनकी रबर जैसी लचीली डोरको किसीने खींचकर कहीं अटका दिया हो, और फिरसे अपनी स्वाभाविक स्थितिमें आ जानेके लिए जैसे वह तड़प-तड़पकर रह जाती हो। और मानो नसोंके इस अस्वाभाविक दबावसे बचनेके लिए मैं दिनमें सो गई। उठी तो लगा सुबह होगई है। पहले आँखें खोलीं और फिर एकाध बार बदन तोड़कर भी लेटी रही। बादल उसी तरह घिरे थे। आखिर, उठना तो था ही। उठी और ब्रशपर पेस्ट लगाकर दाँत साफ़ करने लगी। बॉल्कनीसे झाँककर देखा। झुटपुटा हो रहा है। अक्काने पूछा—"अरे सब्जी, यह नई बात क्यों?"

"नई क्या? तुम कब उठ गईं आज?"

"अरे लड़की, पागल तो नहीं हो गई? घड़ीमें तो देख ज़रा। सुबह नहीं, यह साँझ है···"

हाय···

रह-रहकर उस दिनकी बातें, जैसे टुकड़े-टुकड़े होकर हवामें तैर रही थीं। उस दिनका वार्तालाप, उस दिनका वातावरण सब आँखोंके आगे झलक-झलक उठता···इधर आँखें फेरती तो एक टुकड़ा इधरसे तैरती मछलीकी तरह पास आता, उधर फेरती तो एक टुकड़ा उधरसे आता।

लगता है मैं जैसे कल्पनातीत रूपसे लम्बी हो गई हूँ, इतनी ऊँची कि गर्दनसे ऊपरका हिस्सा हवाकी पारदर्शी लहरोंकी सतहपर तैर रहा है और वहाँसे मुझे न तो अपने पाँव दिखाई देते हैं, न धरती और उसपर चलते-फिरते लोग। जैसे किसी स्काई-स्क्रैपरके ऊपरसे झाँक रही हूँ। वहाँसे देखती हूँ कि ताशके घरों जैसे छोटे-छोटे मकान···न जाने किन आकांक्षाओंकी मशीनी-गतिसे परिचालित पुतलों जैसे लोग; चलते-फिरते हैं लेकिन स्वेच्छासे नहीं। मानो मैं उन्हें आज पहली बार देखकर बोल उठती हूँ साश्चर्य : "अच्छा, तो ये लोग चल-फिर भी लेते हैं···?" सब कुछ एक सपना-सा लगता है! सारी दुनियासे बेख़बर बेहोश···

पता नहीं, मेरे पास क्या आगया है कि मैं भरी-भरी-सी घूमती हूँ। किसी भी चीज़को देखती हूँ···देखती रहती हूँ और फिर ख़ुद ही मुसकरा पड़ती हूँ। डर भी लगता है कि किसीने मुसकराते तो नहीं देख लिया? सोचेगा, पगला गई हूँ। लगता है, अब तक सपनेमें भटकती रही हूँ, सत्य तो अब पाया है। अभी तक जिन चीज़ोंकी ओर ध्यान भी नहीं जाता था वे अब विराट् होकर आती हैं। दीवारें पार-दर्शी हो गई हैं··· मैं उनके पार देख सकती हूँ···।अक्का और पापाको बातें करते देखती हूँ, बिट्टूको खाना बनाते देखती हूँ। किसीके चेहरेकी हल्की-सी मुसकराहट देखकर मानो मैं उसके मुसकरानेके अन्ततम रहस्यको समझ लेती हूँ कि—आदमी कब और क्यों मुसकराता है, क्यों अचानक गाने, गुनगुनाने लगता है। कोई बात क्यों वैसी ही होती है जैसी है, क्यों नहीं उससे अलग होती?—यह भेद मेरे सामने बिलकुल स्पष्ट होगया है। आज दिनभर बादल घिरे रहे हैं। इस तरह बादल क्यों घिरते हैं?—इस सवालका जवाब केवल मैं ही जानती हूँ। लहरें क्यों दौड़-दौड़कर किनारोंसे टकराती हैं, इस भेदको भी मेरे सिवा कोई नहीं समझ सकता। एक अजब-सी अन्तर्दृष्टि मिल गई है, और मन कसमसाता है कि दिव्य-दृष्टिसे मुझे जो कुछ भी दीखता है वह सब कैसे और किसे

जाकर बता दूँ कि देखो, मुझे क्या दिखाई दे रहा है...'यारी होगई है' हाय, कैसी भोंड़ी 'क्रूड' और वहशियाना अभिव्यक्ति है।

मगर नहीं, यह सब...यह सब भावुकता है और मुझे इतना नहीं बहना चाहिए। अब बच्ची भी तो नहीं हूँ। पता नहीं, कैसी एक अदृश्य कील है कि हर साँसके साथ रस्क उठती है और मैं हूँ कि इस प्राप्त-सत्यको दोनों बाँहें भरकर भेंट भी नहीं पाती, आत्मसात् नहीं कर पाती। कोई है कि बाँहें थाम लेता है। मन होता है कि ख़ूब रोऊँ...ख़ूब रोऊँ। ...क्यों हम किसी चीज़को मुक्त-हृदयसे नहीं ले पाते...? क्यों हम टूटे-टूटे और बँटे-बँटेसे रहते हैं...? कहीं दूर हम सपनोंमें खोये भी रहते हैं और बिलकुल अलग खड़े हुए देखते भी रहते हैं कि देखो, हम कैसे सब कुछ भूलकर यों खोये हैं ?...यह क्या है ?...यह अंकुश क्या है जो हर दम हर भावनाकी गर्दनपर रक्खा रहता है...?

पता नहीं कहाँ सुना या पढ़ा था कि चेखवकी डायरीमें लिखा मिला : 'टाल्सटायसे सचमुच मुझे डर लगता है। अन्ना कैरेनिनामें अन्नाके रेलके नीचे कटते समयका वर्णन करते हुए वह कहता है कि 'अन्नाको अपने अन्तिम क्षणोंमें ऐसा लगा जैसे अँधेरेमें दो तेज़ आँखें उसे घूर रही हैं...और ये दो आँखें खुद अपनी ही अन्नाकी दो आँखें हैं...'' जो लेखक यह लिख सकता है वह सचमुच कितना भयंकर लेखक है...उसकी अन्तर्दृष्टिसे आदमी भयभीत नहीं होगा तो क्या होगा...?''

जैसे सूने गुम्बदमें लगातार कुछ गूँजता रहता हो...यह ग़लत है...यह अनुचित है...मैं बहुत ही अवांछनीय कर रही हूँ...

शुक्र ५ जुलाई, अपराह्न

बग़लवाले फ्लैटकी जोजा तवक्कले बाल्कनीमें खड़ी अपने छोटे बेबी 'भाऊ'को दोनों हाथ ताने सिरके ऊपर उठाये है। कभी प्यारमें

आकर उसके सिरसे अपना सिर मिलाती है, कभी उसकी आँखोंमें लगातार देखती-देखती कहीं दूर खो जाती है। भाऊ जाँघिया पहने है··· गोरा गदबदा शरीर···बार-बार जीजा प्यारसे दाँत मिसमिसाकर उसे मसलती है, गुदगुदाती है और तरह-तरहके स्वर निकाल-निकालकर अपनी समझमें बातें करती है। 'भाऊ' जीजाके दोनों हाथोंमें टँगा टुकुर-टुकुर उसे देखता है, और जब वह उसे मसलती है तो आँखोंमें आँखें डालकर किलकारी मारकर हँस पड़ता है। कैसी डूबी है जीजा, कि इसे न तो आनेवालेका होश है न जानेवालेका···।और मैं मुग्ध उसे देखती रहती हूँ···खुद भी उसी दृश्यमें डूबी और लीन···मुँह खोले मुसकराती. रहती हूँ। जब वह उसे ऊपर उछालती तो मेरा कलेजा मुँहको आने लगता हाय, कहीं गिर न पड़े! फिर बड़ी देर बाद ध्यान आता है कि 'अरे मुझे यह हो क्या गया है?' और तब मैं झेंपकर ऐसे देखती हूँ जैसे कुछ वर्जनीय कर रही हूँ···वर्जनीय···वर्जनीय···

आज सुबहसे तबीयत ढीली है, और बदन बहुत टूट रहा है।

रात्रि : १०,४५

हमारे सामने पार्कमें आज दिनभर फ़ुटबॉल-मैच होता रहा, और मैं एक अजीब-सी दिलचस्पीसे डूबी उसे देखती रही। इतने लोग एक साथ मिलकर यों योजना-बद्ध रूपसे कोई खेल खेलें मानो यह दृश्य मेरे लिए एकदम नया था···

मुझे लगता है, जैसे मैं दो हो गई हूँ। एक उदयके कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर चेहरेपर सागरकी फुहारोंकी आर्द्र-शीतलता अनुभव करती है तो दूसरी खड़ी-खड़ी घूरती है: "हूँ, तो आप जनाब यों बैठी हैं? बेशर्म! कोई देख ले तो? मान लो पापा ही इस गाड़ीसे घर जा रहे हों तो···?"

मेरी चेतना कई खण्डोंमें बिखर गई है…। कभी किसीको हँसता-मुसकराता देखती हूँ तो लगता है जैसे मैं इसके हृदयके अन्तर्तमको जानती हूँ कि इसकी हँसीके पीछे क्या है ? क्यों यह हँसता है ? सिनेमा देखती हूँ तो जैसे नायिकाके अन्त-तलकी भावनाओंको जितनी अच्छी और सही तरह मैं जानती हूँ, कोई भी तो नहीं जानता। वह सुखी होती है, अपने प्रियसे मिलती है, तो लगता है मानो मैं ही तो वह सुख भोग रही हूँ, मैं ही तो वह मिली हूँ। अगल-बग़लकी सीटोंपर बैठे स्त्री-पुरुष (आज सुबहके शोमें हम बँगला सिनेमा देखने गये थे) 'हारानो शूर' की नायिकाकी किस प्रतिक्रियाको किस रूपमें ग्रहण कर रहे हैं, मानो यह मुझे ही तो अच्छी तरह पता है। मनुष्य कब और क्या, क्या सोचता है, इस चीज़को मैं स्क्रीनपर उभरती लहरोंकी तरह देख-पढ़ सकती हूँ…हर चीज़के आर-पार देखनेकी शक्ति मुझे मिल गई है।

साथ ही इस बातका भी होश है कि बहुत केन्द्रित हो गई हूँ मैं अपने आपमें। मैं बात करती हूँ तो लगता है कि यह बात करना झूठ है, मुझे इस बातको कहनेकी न आवश्यकता है न दिलचस्पी। बोलते-बोलते कुछ ऐसी असम्बन्ध बात ध्यान हो आती है कि वाक्य टूट जाता है और फिर बटोरकर लाना पड़ता है। सुनते-सुनते मन छिटककर कहीं दूर चला जाता है, और मैं चकित स्तब्ध आँखोंसे निहायत अपरिचितकी तरह सामने देखती रहती हूँ…मेरे आस-पास क्या हो रहा है, मुझे इसका ध्यान ही नहीं रहता। मुझे कुछ भी सुनाई देना—कुछ भी दिखाई देना बन्द हो गया है…। मैं सचमुच अन्धी हो गई हूँ…स्तब्ध !

मैंने उदयसे कहा था कि नहीं, मैं इससे पहले कभी किसी पुरुषके सम्पर्कमें नहीं आई। ठीक ही तो कहा था—उसमें झूठ कहाँ बोली मैं ? मुझे पहले कब लगा था कि मैं किसीके खयालोंमें खोई-खोई नारी हूँ। यह सब मैंने पहले अनुभव कहाँ किया ? जो कुछ आज हर क्षण मेरे साथ हो रहा है, ऐसा पहले कभी कहाँ हुआ ? मुझे ऐसा कब लगा, जैसे मैं एक

ऐसी नदीमें स्नान कर आई हूँ कि मेरा 'कायाकल्प' हो गया है और मैं फिर एक अबोध किशोरी हो गई हूँ...जो शेष सारे संसारको मुग्ध और विस्मित दृष्टिसे देखती है...? मैं तो एकदम नई और कोरी स्लेटकी तरह उदयसे मिली हूँ...। साथ ही साठ-सालकी बुढ़ियाको मैंने आजसे पहले ऐसी स्पष्टतासे कब देखा था जो मेरे मनमें बैठी, मेरी और उदयकी हर हरकत, हर गतिविधिको देखती है—उसका अर्थ और आशय समझती है और बार-बार अपना पोपला मुँह बिचका-बिचकाकर कहती है : "हुँह, वही सब तो चल रहा है जो सबके साथ चलता है, हमेशासे चलता रहा है। वही सब बने-बनाये सवाल, जवाब, वही अनुभूतियाँ और वही समवेदनाएँ ! कहीं भी तो कुछ ऐसा असाधारण और असामान्य नहीं है कि उसे नया बनाया जा सके ! अनादि-कालसे चलता आया वही घिसा-पिटा ढंग...हज़ारों कहानी-उपन्यासों और सिनेमाओंमें यही सब तो आ चुका है...।" और उस पन्द्रह सालकी बच्चीमें इतनी ताब नहीं है कि इस बुढ़ियाकी आँखोंसे आँखें मिला सके। वह हकलाकर बड़ी कठिनाईसे कहना चाहती है..."नहीं, यह सब देखनेमें चाहे जैसा लगे ऊपरसे, लेकिन वह सब नहीं है, जैसा होता आया है। इसमें एक ऐसी नई बात है, एक अछूतापन है जिसे सिर्फ़ मैं ही अनुभव कर रही हूँ...। न कह सकती हूँ, न दिखा पाती हूँ...लेकिन निश्चय ही वह आज तककी सारी अनुभूतियों और भावनाओंसे अलग है, विशेष है...और वही नहीं है।"

बुढ़िया डपट देती है : "चल हट्ट, सभीको अपनी अनुभूतियाँ विशेष और खास ही लगती है...आखिर कुछ तो आगा-पीछा सोचना चाहिए...।"

लेकिन सारे दिन, आपसमें लड़ती हुई वह किशोरी बच्ची और बुढ़िया दोनों ही समान उत्कण्ठासे राह देखती रहीं कि उदयका फोन अब आता है...अब आता है। मगर वह नहीं आया...। बुढ़िया तलखीसे पूछती है—"क्यों री, उदयने अभी तक तेरी उम्र नहीं पूछी ?" और मैंने

देखा कि वह किशोरी बालिका सहसा ही अदृश्य हो गई है···। हाय, कहाँ गई वह ?

शनिवार : ६ जुलाई

प्रिंसेस अपर्णा और उदय !···मानो मेरी चेतनाकी डोर इन दो खूँटियोंपर ही टँगी हो !···मैं बहुत अच्छी तरह जानती हूँ कि प्रिंसेस अपर्णा और उदयकी बहन अपर्णा दो अलग व्यक्ति हैं···वे एक हो ही नहीं सकते; फिर भी चूँकि इन दोनोंको जाननेका केन्द्र मैं हूँ, वे दोनों मेरी चेतनाके ही दो छोर बन गये हैं। इसलिए आपसमें इन दोनोंमें मुझे घनिष्ठ सम्बन्ध लगता है। दोनोंका मुझसे परिचय कैसे आकस्मिक रूपसे साथ ही साथ हुआ है। और दोनोंने ही कैसे वेगसे मुझे आच्छादित कर लिया है कि लगता है—पहले मेरा किसीसे कभी कोई सम्पर्क रहा ही नहीं। मैं पहला सब कुछ भूले चली आ रही हूँ···। कभी-कभी सच, बड़ी झुँझलाहट आती है···खीझकर कटखने कुत्तेकी तरह झल्ला उठनेको मन करता है : यह बैठे-बिठाये क्या मुसीबत मोल ले ली···? अब तो जैसे कुछ और सोचने और करनेको रह ही नहीं गया हो···। मनपर इतने बोझ और व्यस्तताका अनुभव होता है कि लगता है यह सब मुझसे अकेले सँभलेगा नहीं, लेकिन आखिर किसे इसमें हिस्सेदार बनाऊँ ? किसे बाँट दूँ ?···हँसी भी आती है कि क्या अजब सम्पर्क हैं दोनों ही मेरे ये ! एकको टिकटके लिए चवन्नी देनी पड़ती है और एककी फर्लांगभर लम्बी गाड़ी मुझे लेने आती है। कैसा विरोधाभास है ! ये दोनों सम्पर्क क्या मेरे लेखन और जीवनकी दिशा बदलने आये हैं ? आशंकासे मन सिहर उठता है कि दोनों ही पता नहीं किन अनजान राहोंपर छोड़ जायँगे मुझे ? दोनोंसे परिचयका माध्यम मेरी कला है, लेकिन दोनोंके परिचयके बादसे मैंने कुछ भी तो नहीं लिखा। जैसे नई दुनियामें

आकर मनुष्यकी चेतना स्तब्ध हो जाती है, वैसे ही मैं समझ नहीं पाती कि क्या लिखूँ ?

रविवार, ७ जुलाई,

उस दिनके आतंकका ज्वार आज उतर गया है। कल तक तो ऐसा लगता था कि अथाह कोलाहलसे भरे ऐसे रेस्तराँके बीचमें अकेली बैठी हूँ जिसमें हर कोई अपनी ही अपनी कह रहा है—उसे देखने या दूसरेकी सुननेकी फ़ुरसत ही नहीं है। आज मैं तटस्थ होकर सोच सकती हूँ कि हाँ, मेरा और उदयका, मेरा और प्रिंसेस अपर्णाका एक समान धरातल, अर्थात् मिलनेका आधार लेखन ही है और मुझे हमेशा ही इस बातका ध्यान रखना होगा। वर्ना हमारी और उन लोगोंकी क्या दोस्ती ? उदयको ही लूँ, न तो वे देखनेमें ही ऐसे सुन्दर प्रभावशाली, न सामाजिक दृष्टिसे ऐसे प्रतिष्ठित···आर्थिक दृष्टिसे तो कहना ही क्या। एक उखड़ा हुआ हवामें उड़ता बीज जो अपने लायक़ धरती खोजनेमें खुद यहाँसे वहाँ भटक रहा हो···! वह कैसे मेरी भावनाओंको यों उकसा सका ? आज मुझे सुबहसे ही अपने ऊपर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। कल, परसों और पिछले दिनोंकी डायरी पढ़ी तो मन हुआ कि फाड़कर फेंक दूँ। क्या बकवास लिख मारी है मैंने भी···? सच, वह सब क्या मैं ही थी ? कैसे सोच सकी, उसे लेकर यह सब बातें ? जैसे निरन्तर खिंचती चली आती कोई स्वप्नावस्था हो। शायद कभी नहीं देखा, इस निगाहसे तो मैंने उन्हें—ऐसे व्यक्तिके साथ तो दो दिनमें ज़िन्दगी नरक बन जाय ! माना कि वे प्रतिभाशाली हैं, और उनके व्यक्तित्वमें एक आत्म-विश्वासकी दृढ़ता है, लेकिन उस सबको मैं उनकी रचनाओंके ही माध्यमसे तो ज्यादा अच्छी तरह जान और पा सकती हूँ। मैं भूल जाती हूँ कि हमारे और उनके बीचका सेतु वे नहीं, उनकी रचनाएँ ही हैं···

और रचनाएँ ही डोरी हैं राजकुमारी अपर्णा और मेरे बीचमें। वर्ना दो विरोधी-लिंगके होनेके नाते, हो सकता है मैं और उदय एक दूसरे-की ओर आकर्षित हों भी; लेकिन राजकुमारीसे तो ये सम्बन्ध और भी औपचारिक हैं। अरे, मैं यह कैसे मानने लगी हूँ कि वह मेरी मित्र है—? मेरी और उसकी समानताकी कॉमन-भूमि कहाँ है? हो सकता है यह मेरा हीन-भाव ही हो कि मैं उदयसे अपनेको ऊँचा समझनेमें और राजकुमारी-को अपने बराबर लानेकी कल्पनामें ही सन्तोष पाती हूँ; या दोनोंसे ही कोई ऐसा स्वार्थ साधना है कि सम्बन्धोंमें असन्तुलन होते हुए भी मैं दोनोंको उलझाये हूँ। अपना तटस्थ विश्लेषण करके मैं अपने भीतर उस स्वार्थ-भावनाको पाती हूँ, इसे मैं पहले भी स्वीकार कर चुकी हूँ...

और जब यह बोझ मुझ अकेलीसे नहीं सहा गया तो मैं रेखाके यहाँ पहुँची। "तुझसे एक बड़ी ज़रूरी सलाह लेनी है रेखा। मैं इन दिनों बड़ी परेशान हूँ।"

"सो तो सभीको दीख रहा है। कुछ हो-हवा गया क्या? कोई हर-कत कर बैठे या उदयजीने पैसोंकी माँग रख दी?" फिर तानेके स्वरमें कहा—"शुकर है, उस मुसीबतका ही, कि आप दीखीं तो सही, वर्ना हमने तो सोच लिया था कि न हम बड़े लेखक हैं न राजकुमारी। आज-कल आप ज़रा 'वी० आई० पीज़' (वैरी इम्पौर्टेण्ट पर्सन्स)से ही मिलती हैं न।"

मुझे गुस्सा आगया। बेकार आई इस मूर्खाके पास। कम्बख्त सहानुभूतिसे सोचना तो जानती ही नहीं। हर वक्त वही ज़हरीली और तानेबाज़ीकी बातें। कोई और बात ही नहीं। मैंने तो कुढ़कर कह दिया: "अगर सलाह नहीं दे सकती तो छोड़ बातको एकदम। यों जी क्यों जलाती है?"

बात कुछ मैंने ऐसी आजिज़ीसे कही कि शायद उसे कुछ अपनी

तानेकशीपर पछतावा हुआ। बोली : "तू जीको लिये फिरती है, यहाँ चिन्ताके मारे सूख-सुखकर आधे रह गये कि कैसी अच्छी लड़की थी। भगवान् उसकी आत्माको शान्ति दे।"

आँखें छलछला आई : "तू भी समझती है कि मैं बहक गई हूँ रेखा ? सच ?" और कुछ देर चुप रहकर मैंने उसके सामने स्वीकार किया "मैं स्वीकार करती हूँ कि हमारे बीचका अर्थात् परिचयका जो माध्यम था उससे हटकर मैं अब व्यक्तियोंपर केन्द्रित हो गई हूँ। यानी राजकुमारी खाती क्या है, रहती कैसे है—उसका पिछला जीवन क्या है—मेरा ध्यान सिर्फ़ इन्हीं बातोंपर केन्द्रित हो गया है। यही हाल उदयके साथ है। पता नहीं क्यों, मैं इस बातको अब याद ही नहीं करना चाहती कि व्यक्ति उदय न तो मेरे परिचयका लक्ष्य था न आधार…"

इसबार रेखा गम्भीर होगई : "लेकिन मुसीबत तो यही है कि व्यक्ति और उसके गुणोंको तू अलग-अलग दो वस्तुओंके रूपमें देखती है। मानो गुणकी एक अलग सत्ता हो और व्यक्तिकी अलग; और दोनों दो रसायनोंकी तरह किसी एक प्राकृतिक संयोगसे आपसमें मिल जाते हों। जैसे हमसे पिछली पीढ़ीके लोग सोचा करते थे कि 'पाप' एक अलग चीज़ है जो कहीं किसी अनजान बुरी जगहमें रहती है, और 'पापी' एक निरीह व्यक्ति है जो किसी दुर्भाग्यसे इस 'पाप' की शैतानी चपेटमें आगया है और कष्ट पारहा है। वे लोग यह समझनेकी तकलीफ़ नहीं करते थे कि पापका एक सामाजिक आधार है, वहीं वह पनप सकता है।"

उदास बेबसीसे मैं बोली : "यह सब दर्शन-शास्त्र सुननेका मूड नहीं है। यह ठीक है कि मैं गुणोंकी डोर पकड़कर व्यक्ति तक जा पहुँची हूँ, लेकिन अगर सच पूछा जाय तो उसमें मेरा अपना ही स्वार्थ शायद अधिक है। यों मैं भी जानती हूँ कि प्रिंसेस चाहे तो बीस सहेलियाँ मेरी जैसी बनाले, उसे क्या कमी ? हो सकता है मेरे दिमाग़में यह भी हो कि राजकुमारीकी मित्र बनकर मैं किसी रूपमें उसका कुछ लाभ भी उठा

१४

लूँ। यही तुम उदयके बारेमें भी कह सकती हो। मैं यह नहीं कहती कि उदयको मेरी कम्पनी बुरी लगती है। मैं उनकी वकालत नहीं कर रही; लेकिन वे साहित्यिक हैं, इसलिए उन्हींपर इस बारेमें 'ढीला' होने का फ़तवा क्यों दिया जाय? विरोधी-सेक्सकी कम्पनी या साथ किसे बुरा लगता है? अपने कॉलेजमें ही देख लो, प्रो० कुलकर्णी और देसाईकी क्या हालत है इस उम्रमें? वे तो साहित्य नहीं पढ़ाते? एक अर्थ-शास्त्र पढ़ाता है, दूसरा फिलॉसफ़ी। मैं यह भी अब अच्छी तरह जान गई हूँ कि उदयका सम्बन्ध दो-तीन लड़कियोंसे काफ़ी घनिष्ठ है। हो सकता है, यही वजह हो कि मैंने उसमें किसी भी तरहकी 'पहल' या इनीशियेटिवका अभाव पाया है। बड़ा आत्म-तुष्ट, अपनेमें ही डूबा, और कद्रे दम्भी-सा व्यक्ति भी कह सकते हैं। खैर, अपनी वह जाने, मैं तो अपनी बात कह रही थी। मैं हमेशा ऐसा महसूस करती रही हूँ कि मुझे लिखनेमें प्रोत्साहन देने, पथ दिखलानेके लिए एक व्यक्ति चाहिए जो इस रास्तेमें पड़नेवाली उलझनोंसे मुझे आगाह करे और हो सके तो मेरी मदद करे। इसमें सब कुछ होते हुए भी उदयने ही मुझे अपनी ओर खींचा। सुनकर मुझे ग़ुस्सा ज़रूर आया, लेकिन वही पहला व्यक्ति था जिसने मेरी कहानी पढ़कर अपनी बेबाक़ राय दी थी...''

मेरे आत्म-प्रवाहसे बोर होकर वह बोली—''यह तो सब ठीक है, लेकिन मुसीबत आखिर क्या आ खड़ी हुई?''

''स्थिति अब कुछ ऐसी हो गई है कि लगता है मेरा सारा उद्देश्य इन लोगोंके व्यक्तित्व तक पहुँचनेका साधन मात्र था।''

''मेरी समझमें नहीं आता कि इसमें उलझन कहाँ है? अगर तुम समझती हो कि व्यक्तियों तक पहुँचना खतरनाक है, लेखक उदयकी अपेक्षा व्यक्ति उदय बेकार है, तो छोड़ो पीछा और वापस लौट आओ। जन्म-पत्रीमें तो विधाताने लिख ही नहीं दिया था कि व्यक्ति उदयसे ही दोस्ती करनी है। लड़कोंसे ही दोस्ती करनी है तो कॉलेजमें क्या कमी

है···? यहीं उलझ जाओगी तो पुराने लोग क्या करेंगे आखिर ? "अन्त तक पहुँचते-पहुँचते रेखाके स्वरमें फिर परिहास आ गया—"बस, शर्त यही है कि यहाँ मामला कुछ गहरा न हो गया हो···"

"गहरा है खाक।" मैं बोल पड़ी। कुछ देर तक तो मैं ठगी-सी उसे देखती रही। उससे ईर्ष्या भी हुई। बातको कैसे सुन्दर ढंगसे रखा है—मैं नहीं रख पाती ऐसे। कैसे सीधे ढंगसे वह हर समस्याका रेडीमेड हल तैयार कर डालती है, वैसा मैं क्यों नहीं कर पाती ? मानो इसके जीवनमें भावना और भावुकताका कोई स्थान ही न हो।

वह मेरी ओर इस तरह देखे जा रही थी, जैसे उसने विश्वास न किया हो। हठात् कुछ कहते-कहते रुक गई। उसकी निगाहोंकी चुभन मैंने अपने चेहरेपर महसूस की। अजब वितृष्णा मनमें फुफकार उठी। यह कम्बख्त क्या कभी गम्भीर होती ही नहीं है ? कमसे कम यह तो इसे सोचना चाहिए कि मैं उससे एक सलाह लेने, अपना जी हल्का करने आई हूँ। कुछ न करे, चुपचाप सुनती ही रहे, बस। लेकिन अब इसका दाँव है, छोड़ेगी क्यों ? कैसी असहाय हूँ मैं!—अकेली और अनाथ। कोई भी तो नहीं है जो मेरी बात समझता हो, जिससे ईमानदारीसे सलाह ली जा सके; या एकदम खुलकर उन्मुक्त और निर्व्याज हृदयसे बात-चीत की जा सके। पहले, चौदह-पन्द्रह वर्षकी उम्रमें जैसा एक अकेला और अनाथपन महसूस किया करती थी, ठीक वैसी ही अनुभूति इस समय हो रही थी। उदयसे बातें करते समय कम-से-कम मनमें एक आश्वासन, एक सन्तोष तो होता है···

उस दिन क्या-क्या बातें हमलोगोंने नहीं कर डालीं ? इधर एक अजीब बात हुई है। मेरे दिमाग़से वे सब वार्तालाप और वाक्योंके टुकड़े मानो एकदम उड़ गये हैं—बस, कुछ धुँधली-सी तस्वीरें कभी-कभी कौंध जाती हैं···गहरा अँधेरा···दो-तीन तारे···मचलता सागर, धनुषाकार चली जाती रोशनियाँ···मैरीन-ड्राइवपर हल्के-हल्के क़दमोंसे चली जाती

मैं···साथमें कोई और है···सिर्फ़ छाया है, शरीर नहीं है शायद; लेकिन लगता है कि साथ-साथ चल रहा है। एक जगह हमलोग देखते हैं: एक लड़का और लड़की बैठे हैं···लड़कीका पल्ला गोदीमें आ गिरा है और चुस्त ब्लाउज़ पहने उसकी पूरी पीठ खुली है। दोनों चोटियोंको उसने आगे कर रक्खा है, तभी लड़केका हाथ उसकी पीठपर होता हुआ कन्धे पर आ रहता है···। दूसरी तस्वीर···दोनों हाथोंमें शंखकी तरह नारियल पकड़े लड़की नारियल पी रही है और अपना नारियल हाथोंमें पकड़े लड़का उत्सुक मुद्रामें उसे देखे जा रहा है, फिर झटककर नारियल फेंक देता है···। कितना साफ़ दीखता है मुझे अँधेरेमें भी···दोनोंके चेहरोंका भाव कितना स्पष्ट और सूक्ष्म मुझे दिखाई दे रहा है। एक बड़ी अद्भुत बात रह-रहकर मनमें मचलती है···पहली बार जब वह मनमें आई थी तो मैं खुद चौंक उठी थी। जिस तरहकी मनःस्थिति और मानसिक-प्रसंगमें यह बात आई थी उसमें ऐसी बात बड़ी बेमौक़े उभरनेवाली थी···। वह अँधेरा···वह एकान्त···वह साथ···और उस आदमीके दिमाग़में एकबार भी नहीं आया होगा कि ज़ोरसे बाँहोंमें भरकर मुझे चूम ले···? बस, लकड़ीकी तरह कन्धेपर हाथ रख लिया···! कहीं···कहीं···? आगे बात सोचनेकी हिम्मत नहीं पड़ी···और मैं मनकी बातके लिए शब्द ही खोजती रही फिर खुद ही अपनी बातपर लज्जासे चेहरा लाल होकर झनझना आया···। कैसी-कैसी बातें आती हैं मेरे दिमाग़में भी···!

ध्यान आया हमलोग काफ़ी देरसे चुप-चाप बैठे हैं। एकदम अपनेको समेटकर बोली "अब चलूँगी, रेखा!"

"अरे, बड़ी अजीब है तू भी···! मैंने सोचा, तू मेरी बातका जवाब सोच रही है।" इस बार उसे मेरा यह व्यवहार शायद कहीं छू गया। चेहरे पर सहानुभूति लाकर बोली—"तो फिर क्या तय रहा?"

"किसका?" उठने-उठनेको होकर बोली।

"यही उदय और अपर्णाका?"

मैं ढीली होकर फिर बैठ गई। गहरी साँस लेकर फिर कहा : "भई, अपनी तो वे जानें। हमारी तरफ़से तो कोई ऐसी बात नहीं है। मुझे भी अब यही लगता है कि व्यक्तियोंपर अपनेको केन्द्रित कर डालना शायद बहुत अच्छा न रहे।···" फिर अपलक सूनी आँखोंसे एकटक देखती बोली : "लौटना ही है···और कोई चारा भी तो नहीं। यों जगह-जगह उलझती रहूँगी तो कैसे चलेगा···? तुमलोगोंने वैसे ही फ्लर्ट कहकर बदनाम कर दिया है। इम्तहान सिर पर है···। सोचती हूँ शायद डिवीज़न बन जाये। और इस सबसे लिखनेका बड़ा नुक़सान होता है। इन लोगोंके परिचयके बाद एक लाइन भी तो मैंने नहीं लिखी। कुछ न कुछ अब जल्दी ही लिखना है। पहले एक बात मनमें आई थी, वह भी इसी सब उलझनमें चल नहीं सकी। निश्चय किया कि इन्हींका खूब अध्ययन करके लम्बी कहानी इन्हीं लोगोंपर क्यों न लिख डाली जाय···" मुझे फिर अपना निश्चय याद आ गया।

"ठीक है, आइडिया तो बुरा नहीं है। करैक्टर भी दिलचस्प ही हैं दोनों।" रेखाने 'दिलचस्प' कहा, 'अच्छे' क्यों नहीं कहा, यह मैं जानती हूँ। उदयको वह पसन्द नहीं करती।

"सारी दिक्क़त तो यही है। करैक्टर कोई ताजमहल तो होता नहीं है कि आप गये, ग़ौरसे देखा, डिटेल्स नोट किये और घर आकर लेख लिख डाला। वे तो जीवित लोग हैं। उनकी आदतें जाननी पड़ती हैं, रहन-सहन, पिछला इतिहास, आगेकी आकांक्षाएँ सभी कुछ तो समझना पड़ता है। तुम जानती हो, यह सब इक-तर्फ़ा होता नहीं है। मुसीबत यह है कि आप जब व्यक्तिगत दिलचस्पी लीजिए, तो दोनों तरफ़से ग़लतफ़हमी पैदा हो जाती है।" परेशानीकी स्थितिमें भी यह बात याद हो आई तो उभरती मुसकराहट दबाकर बोली—"उदय कहते हैं कि लेखकको बड़ा क्रूर होना चाहिए···। यानी अपने 'विषय' में व्यक्तिगत रूपसे बहुत गहरे उतरकर और चाहे जैसी व्यक्तिगत दिलचस्पी रखते हुए भी

उससे दुश्मनों-जैसी तटस्थता निबाहनेकी निर्दय-क्षमता होनी चाहिए। और इसमें वह खुद अपने-आपसे भी वैसी ही दुश्मनी निबाह सके, अर्थात् अपनेको ज़रा भी पक्षपात न देकर शेष पात्रोंके बराबर ही मान-स्थान दे। अपने आपको अपनेसे अलग होकर देख सके…"

हठात् मैं बोलते-बोलते चुप होगई…अरे, मैं खुद भी तो इसी रोगसे परेशान हूँ। हमेशा अपने-आपको अपनेसे अलग होकर देखती रहती हूँ…और यह निस्संगता, यह अलगाव कहीं भी तो मुझे रमने नहीं देता। इस समय मुझे खुद अपने पर सन्तोष और आश्चर्य हुआ कि किन-किन अद्भुत क्षणोंमें मैंने उदयकी हर हरकत, हर गति-विधि, के गूढ़तम अर्थों को स्पष्ट देखा है, उनके हर मनोभावको खुली किताबकी तरह पढ़ा है। खुद अपनेको एक खुली किताबकी तरह जाँचते पाया है। सचमुच अगर तटस्थका अर्थ यही है तो मुझमें निश्चय ही एक प्रथम-श्रेणीकी लेखिका की तटस्थता है। उस क्षण मुझे स्पष्ट लगा कि अगर मैं चाहूँ, थोड़ा-सा और परिश्रम करलूँ तो विदेशों-जैसी प्रथम श्रेणीकी लेखिका बन जाना कोई बहुत मुश्किल काम तो नहीं है। एक आश्वासन भी मिला कि अभी तक मैं चाहे जितना अपने और उदयको लेकर उलझती रही होऊँ, अब मैं तटस्थ होती चली जा रही हूँ। इस ज्ञानसे मेरे इस विचारको और भी बल मिला कि मैं अब उनपर अधिक अच्छी तरह लिख सकूँगी, अधिक आत्म-विश्वाससे लिख सकूँगी…।

मुझे चुप होता देखकर थोड़ी देर तो रेखा ऐसे देखती रही कि मुझे कुछ सोचनेका अवसर दे रही है, कि मैं शायद आगे कुछ बोलूँगी… लेकिन जब देखा कि मैं कुछ भी नहीं बोल रही तो खुद ही हँसकर बोली : "अच्छा है, मियाँकी जूती मियाँके सर। वह भी क्या याद करेगा किसी लेखिकासे पाला पड़ा है। पर कहीं उसने ही तुझपर कुछ लिख-लिखा डाला तो?"

"अरे जा, वह क्या खाकर लिखेंगे। ये वो रहस्य है कि उनके बड़े-बड़े पुरखे 'दैवो न जानाति!' से आगे कुछ नहीं कह पाये···"

लेकिन उसकी बातसे मेरा शरीर बेबस फुरहरीसे रोमांचित हो आया। अंग-अंग इस तरह सिहरकर काँप उठा जैसे किसीने सारे कपड़े उतारकर भरे बाज़ारमें खड़ा कर दिया हो। एक क्षणको मुझे लगा कि उदयकी वह निर्जीव तटस्थता; डूबे-डूबे रहनेका बहाना, यह अपने आप ही मुझे देखते-देखते कहीं खोजाना, सब कुछ एक सर्द-दिल डॉक्टरका अध्ययन ही तो है? नहीं···नहीं···, ऐसा होता तो मैं कहीं न कहीं तो अब तक उसे पकड़ ही लेती। मनके नहीं नहीं करनेपर भी जाने क्यों मुझे ऐसा विश्वास होता गया कि हो न हो वे मेरा अध्ययन कर रहे हैं···। असावधानीमें मैं जाने कैसे-कैसे उनके सामने व्यवहार कर बैठी हूँ, पता नहीं क्या-क्या बातें उन्होंने नोट कर डाली होंगी? मैं भी बड़ी बेवक़ूफ़ हूँ···! जब जानती हूँ कि इन 'लेखकों-वेखकों' से सँभलकर पेश आना चाहिए—ज़रा संयत व्यवहार करना चाहिए। मुँह बिचकाकर मैंने जवाब दिया: "लिख डालें। आखिर कोई इस लायक़ समझे तो सही।" लेकिन भीतर ही भीतर एक ऐसी बेचैनी थी जैसे असावधानीसे कोई आपका फोटो खींचले और आपको रह-रहकर ध्यान आये कि जाने कैसा आया होगा। थोड़ी-थोड़ी देर बाद मचलन-सी मनमें उठे कि उसका प्रिंट देखें। नहीं, ऐसा धोखा उदय नहीं देंगे···। फिर उस आशंकाको निर्मूल करती-सी मैं कहती रही: "इन लेखकों-वेखकोंसे दोस्ती करना भी बड़ा खतरनाक है। मान लो, सज्जनता-वश और कुछ न करें तो आपके ऊपर कुछ लिख ही डालें! लो, और मरो! फिर हमेशा-हमेशा आपको यह महसूस हो कि एक जासूस आपके पीछे लगा है और आपकी हर हरकतपर उसकी तीखी निगाह है, आपके हर भावको वह पढ़ रहा है··· तो क्या बड़ा भिंचा-भिंचा-सा नहीं लगता···? व्यवहारमें वह खुलापन रह ही नहीं पाता···। हमेशा कैमरेके सामने पोज़ देने जैसी कांशसनैस"!

हम दोनों कुछ देर चुप रहीं।

"फिर भी एक बात मैं कभी-कभी सोचती हूँ सुजाता—" इस बार रेखाके स्वरकी भावाविष्टताने मुझे चौंका दिया। अचानक उसकी आँखें बड़ी सपनीली हो उठीं थीं। "एक बार मैं कलकत्ते गई थी। जिनके यहाँ ठहरी, उन्होंने एक दिन कहा—'आओ चलो, तुम्हें शरत्‌के चरित्र-हीनकी किरणमयीसे मिला लायें।' मैंने पूछा—'कौन किरणमयी?' कहा—'वही जिसके आधारपर शरत्‌ने चरित्रहीनकी 'किरणमयी' गढ़ी। वह स्त्री अभी जीवित है और शरत्‌के बारेमें बहुत-सी बातोंका उसे पता है।'''ख़ैर, और झंझटोंकी वजहसे जा तो नहीं पाये; लेकिन मैं बड़ी देर तक सोचती रही कि शरत्‌ने जो सारी-स्त्री-पात्रियाँ हमें दी हैं, निश्चय ही उनके पीछे कोई न कोई जीवित सजीव नारी रही होगी। उनमेंसे किसीने जब अपनेको इस रूपमें उपन्यासमें देखा होगा तो कैसा लगा होगा उसे? मैं बहुत सोचती हूँ कि ये कलाकार-वलाकार जिनसे प्रेरणा लेकर अपनी कृतियाँ देते हैं, वे खुद अपनी मूर्तियाँ, चित्र और चरित्र देख-देखकर कैसा महसूस करती होंगी? मेरा तो बड़ा मन होता है कि कोई मुझसे प्रेरणा लेकर कुछ लिखे तो देखूँ कैसा लगता है मुझे'''? मोनालिज़ाको अपना मुसकराता चेहरा देखकर कैसा लगा होगा'''जाने?"

मेरा तो मुँह खुला-का-खुला रह गया। अरे, यह वही रेखा है क्या? आज इसे हो क्या गया है यह? इच्छा हुई, ज़ोरसे दोनों हाथ माथेपर मारूँ, 'हाय रेखा, तेरे भीतर भी वही अनादि विरहिणी नारी बैठी है?' कम्बख्त, तू भी अनजान रूपसे कवि ही निकली'''! कभी-कभी तो तुझे देखकर कितना रश्क होता है कि काश, ऐसी ही निर्द्वन्द्व मैं भी हो पाती।'''ऊपर से रंग,रोग़न चाहे जो हो'''हमलोग सभी क्या भीतरसे एक ही मिट्टीकी बनी हैं?

सोमवार : ८ जुलाई

···रेखाने विषय बड़ा ही सुन्दर दिया है। इसपर तो एक अच्छी-खासी कहानी लिखी जा सकती है। कैसा लगता होगा उन 'प्रेरणाओं' को? लेकिन कुछ फ्रेंच चित्रकारोंके बनाये चित्र तो मैंने एकदम नंगे ही देखे हैं···! उनकी 'प्रेरणाएँ' यों अपने-आपको खुली प्रदर्शिनियोंमें 'नंगा' देख-देखकर कैसा-कैसा महसूस करती होंगी? लज्जासे आत्म-हत्या कर लेनेका मन न करता होगा उनका? लेकिन सुनते हैं, हमें (नारीको) जो अपना 'नंगापन' लगता है वही दूसरोंके लिए 'सौन्दर्य और कला' का माप-दण्ड बन जाता है···। आगेवाले सुन्दरताको उसी कसौटीपर कसते हैं···। नंगापन भी तो सभी जगह एक-सा नहीं है। कहीं टखनों तकका दीखना घोर बेशर्मी है और कहीं जाँघों तकका खुलापन नंगेपनकी कोई भावना पैदा नहीं करता। तब क्या जो कुछ सुन्दर है, जो कलापूर्ण है, उसमें 'नंगापन', 'लज्जास्पद' या 'वर्जनीय' नामकी कोई चीज़ नहीं होती? कहते हैं 'आत्मीय' या घोर 'अपने' क्षणोंमें नंगा-पन और लज्जास्पद कुछ भी नहीं होता···वहाँ तो आवरण ही बाधा होता है! कलाको उसी हद तक आत्मसात् कर लेनेके बाद शायद उसमें भी 'नंगा' और 'वर्जनीय' कुछ न रह जाता हो! भई, कुछ हो, कोई मेरे भीतरके 'वर्जनीय,'नंगेपन' या 'लज्जास्पद'को उघाड़ कर रख दे, तो मुझसे तो शायद उसे सहा न जाय। उदयने कहीं ऐसा कर दिया तो? हुँह, उनसे होगा नहीं। ऐसी पैनी निगाह नहीं है उनकी···। लेकिन अगर कर ही दिया तो मर जाऊँगी। ऐसा करेंगे नहीं, थोड़ा बहुत तो कन्सीडरेशन होगा ही···। चरम-आत्मीय क्षणों-को यों सबका बनाते हुए थोड़ी झिझक तो उन्हें भी होगी ही···

कॉलेजसे आकर पता चला कि राजकुमारी अपर्णाका फोन आया था। थोड़ी देर बाद फिर कर लेंगी वे। मैं इस समय कुछ न कुछ लिख डालनेके जोशसे भरी आई थी। मन ही मन फोनकी प्रतीक्षा थी और

लिखनेके लिए तैयारी करती किताब लेकर बैठी ही थी कि घण्टी बजी। दौड़कर देखा, पापाके किसी मरीज़का फोन था। "चैम्बर गये हैं" कह-कर बिना पूरी बात सुने ही मैंने उसे रख दिया। अपनेपर बड़ा गुस्सा आया कि राजकुमारीका फोन आ ही गया तो इसमें ऐसा उत्तेजित हो उठनेकी ज़रूरत क्या है...? दुबारा करेगी ही।

दुबारा घण्टी बजी। भागकर फोन उठा लेनेकी अपनी उत्तेजनाको ज़बरदस्ती धीरे-धीरे क़दम रखकर—(गज-गतिसे ?)—कुचलती हुई मैं फोन तक आई। निहायत ही अचंचल हाथोंसे रिसीवर लिया। सुना : "हलो, सुजाता जी हैं ?"

"जी, बोल रही हूँ।" आवाज़ पहचानी नहीं।

"मैं हूँ उदय। कैसी हो ?"

"अरे, आप ?" मैं उल्लाससे एकदम उछल पड़ी। "फोनपर आवाज़ नहीं पहचान पाई, माफ़ कीजिए..."

"कई दिन होगये...तुम्हारा तो एकदम पता ही नहीं है।"

"हाँ, ऐसे ही था। ज़रा व्यस्त रही कुछ।" मैं उदासीन बन-कर बोली।

"मैं तो डर गया। कहीं राजकुमारी जी अपहरण तो नहीं कर लेगई।"

"बड़े-बड़े धनुर्धारी यहाँसे निराश लौटे। वो तो बेचारी खुद अपर्णा है। आपकी अपर्णा बहनजी कैसी हैं ?" मैंने बुझे स्वरमें पूछा।

"मर गई वह। अब दर्शन कब होरहे हैं ?"

मुझे अपना निश्चय याद हो आया। बहुत ही भावना-हीन स्वरमें कहा : "अभी तो कुछ भी ठीक नहीं है। प्रिंसेसका फोन आया था। मैं बाहर थी।"

"कल मिलो न।"

"नहीं। अब फिर दुबारा आयेगा। कल उससे मिलना हुआ तो कैसे आ सकूँगी? परसोंका भी ठीक नहीं है।"

"हाँ, प्रिंसेस जैसे महत्त्वपूर्ण तो नहीं हैं हम···। न हमारे यहाँ शिवाजीकी बर्छी है, न महाराणा प्रतापकी ढाल, अमरसिंहके घोड़ेकी ख़ास सन्तान भी हमारे शिकारका शौक़ पूरा नहीं करती। राणा सांगाकी मूछोंके दो बाल भी अपने तावीज़ोंमें नहीं बँधे···"

"अरे च्चू···कैसी बात करते हैं आप?" उनके मज़ाक़को जानबूझ कर न समझते हुए मैंने कहा—"यह बात नहीं है···" मनमें कहा, कि अच्छे चिपकनेवाले हैं। कोई ज़रूरी है कि मैं आपसे मिलूँ ही? "फ़ुरसत मिलते ही मैं आपसे खुद ही मिल लूँगी। और सुनिए, इसबार तैयार रहिए, जोश आ रहा है तीन-चार कहानियाँ लिखकर लारही हूँ···"

"अच्छा।" उल्लासित आश्चर्यसे वे बोले—"हमें तो भाई, तुमसे डर लगने लगा है। तुम्हारी प्रिंसेससे तो रश्क़के मारे बुरा हाल है।"

"क्यों आपकी भी दोस्ती करादें क्या?" अपनी अप्रत्यत्न प्रशंसासे पुलककर मैं मुसकराकर बोल उठी।

"नहीं भैया, ये राजा-रानी तुम्हें ही मुबारक हों···हमें तो अपनी यह जनता ही भली है। मिलो भाई, बहुत दिन होगये···।"

"अरे, दो तीन दिन ही तो हुए हैं।"

"तुम्हें तो दो-तीन दिन ही लगते हैं···"

मैं बरबस विभोर मुसकरा पड़ी: "होशमें तो हैं न? अपनी अपर्णा बहनसे भी पूछ लीजिए न···? रजनीको बता दिया···?"

हम दोनों फिर हँस पड़े: "उन्हींसे पूछकर ज़िन्दगी चल रही होती तो अभी तक मुल्के अदममें होते···"

मैंने गद्गद स्वरमें कहा: "अच्छा, मिलेंगे। जल्दी ही···"याद करके बोली, "लेकिन इतवारसे पहले शायद छुट्टी न मिले···"

"ख़ैर···"

फ़ोन रख दिया। रिसीवर हाथमें लिये हुए ही मैं मुसकराई थी—अभी तक जो बातें सोची थीं वे कितनी झूठी और बेकार थीं!

बृहस्पति : ११ जुलाई

मैं एक नम्बरकी बेवक़ूफ़, मूर्खा और पागल हूँ। जो बात जिस समय मनमें आती है, लगता है जीवनका चरम-सत्य बस, यही है। बाक़ी तो सब झूठ है।

पिछले दिनोंकी डायरी पढ़ी तो लगा जैसे मैं इसी बातको लेकर मानसिक रूपसे बड़ी व्यस्त और व्याकुल रही हूँ कि उदय मुझे अपनी रचनाका लक्ष्य बना रहे हैं या मैं ही उन्हें 'हलाल' कर डालूँ। कैसी निराधार बात है! अब जब मैं उनके सारे व्यवहारपर निगाह डालती हूँ तो कितनी स्पष्टतासे देखती हूँ कि वह आदमी निहायत ही आत्म-केन्द्रित, अपनेमें ही डूबा, हमेशा अपनी ही समस्याओंमें उलझा-खोया रहनेवाला है। इस बातसे तो डरनेकी क़तई ज़रूरत ही नहीं है कि वह मुझपर या किसी दूसरेपर कुछ लिख सकेगा। ऐसे लोग केवल अपनेपर ही लिख सकते हैं और जब अपनेपर ही लिख सकते हैं तो यह भी साफ़ है कि शीघ्र ही उनके लिखनेकी सामग्री चुक भी जाती है। उदय भी चुक जायेगा। पता नहीं कौन कहता था कि इस चुकनेका सबसे उत्तम उदाहरण हिन्दीमें 'अज्ञेय' है : एक ही भाव-स्थितिका वर्णन उनके उपन्यासमें मिलेगा, उसीपर अलगसे कविता भी मिलेगी और वही भावस्थिति कहानीमें दुहराई जायेगी····

उदयके चुक जानेकी कल्पनासे मुझे ऐसा सन्तोष हुआ जैसे मेरे एक-मात्र प्रतिद्वन्द्वी वही हैं और वही मेरा रास्ता रोके खड़े हैं। मैं देखती हूँ, सचमुच, ऐसा ठण्ढा-निर्जीव और अपनेमें ही डूबा रहनेवाला; सिर्फ़ अपनी-ही-अपनी बातें करते रहनेवाला आदमी तो मैंने आजतक देखा ही

नहीं, कभी। कैसे ऐसे दम्भी और अहंकारी आदमीसे इतनी बार मिल सकी मैं ? क्यों नहीं, पहली ही बार मिलकर मैंने क़सम खा ली कि आगेसे इस आदमीकी सूरत नहीं देखनी है ? कैसे-कैसे अद्भुत क्षण आये हैं और इस आदमीने ऐसा नहीं दिखाया जैसे उन क्षणोंने इसे छुआ हो। कुछ लोग तो ऐसे साहसी होते हैं कि उनके साहसपर ही मुग्ध हो जानेको मन करता है। मुजफ्फ़रनगरवाले मास्टर साहबको ही लो।.... सचमुच कैसी हिम्मतवाले आदमी थे वे भी। सबलोग सामने बैठे रहते थे और वे अखबार पढ़नेके बहाने अखबार फैलाकर उसके पीछेसे जाँघपर हाथ रख देते थे....इसी तरह रेलके भरे डिब्बेमें इतनी आँखोंके सामने उन साहबकी हिम्मतपर तो मैं स्तब्ध ही रह गई थी ! कैसे सीधे लगते थे...पाँव कैसे ढंगसे छुलाते थे मानो रेलके हिलनेमें अनजान रूपसे छू जाता हो और उन्हें इसका कोई पता ही न हो। उफ़, कैसी-कैसी गन्दी बातें सोचने लगी हूँ, मैं भी....। मास्टरसाहब कहाँ होंगे अब, पता नहीं ! तब क्या वास्तवमें ही उदय....? कैसे होते हैं ये लोग ? रीता फूट फूटकर रोती थी....कहती थी, 'मैं इन्हें जी-जानसे प्यार करती हूँ.... इतना प्यार करती हूँ कि मन होता है जान निकालकर रख दूँ....। कितने सीधे हैं....लेकिन मैं क्या करूँ ? कभी-कभी तो ऐसा पागलपन चढ़ता है कि इनका मुँह नोंच लेती हूँ और यह हैं कि निरीह और असहाय-क़ुसूर-वार बच्चेकी तरह बस टुकुर-टुकुर देखे जाते हैं....। इसमें बेचारे इनका क्या कुसूर....?'—मानलो मैं ही होती रीताकी जगह तो....?

और फिर मेरे मनमें एकदम आतिशबाज़ीका अनार फूट पड़ा...हाँ, रीताकी कहानी लिखनी है...। आत्मकथा शैलीमें ...। लेकिन लिख पाऊँगी मैं उन स्थितियोंके बारेमें खुलकर ?...बड़ी काट-छाँट करनी पड़ेगी। एक ज़रा बोल्ड-सी कहानी लिख ही क्यों न डाली जाय, होगा सो देखा जायेगा। अनजान लोगोंके लिए तो सभी बराबर ही है और जाननेवाले अभी कौन-सा बख्श देते हैं ? वे तो अब भी 'चालू' और फ्लर्ट जाने किन-

किन शब्दोंमें याद करते फिरते हैं।···ये हारे हुए खिलाड़ी···। दाल नहीं गली तो यही सही···। इनकी बातें याद आते ही दाँत अपने आप पिस जाते हैं····। मन होता है इन एक-एकके चेहरेकी नक़ाबें उतार-उतारकर रख दूँ : देखो, ये हैं इनकी असली सूरतें। लड़की होनेमें भी मुसीबत है।····कितनी नाज़ुक स्थितिमें रहना पड़ता है : "जिन रूढ़ियों और जिनलोगोंके ख़िलाफ़ वह विद्रोह करती है अपनी सच्चरित्रता और गुड-कण्डक्टका सार्टिफ़िकेट भी उन्हीं लोगोंसे चाहती है। कैसी विडम्बना है" कहाँ पढ़ा था कोई ऐसा ही वाक्य? हाँ, उदयने ही तो कहा था कि इसके लिए बड़े कड़े कलेजेकी ज़रूरत है।

इस प्लॉटको उदयको सुना डालूँ? देखूँ तो सही कहते क्या हैं? कहूँगी : "बड़ा बेशर्म प्लाट दिमाग़में आया है।" पूछेंगे : "क्या?"— "एक नामर्द पतिकी पत्नीकी मानसिक हालतको लेकर"—हाय, कहते बनेगा मुझसे? जो भी हो, कहूँगी ज़रूर। इससे खुद उदयका भी अध्ययन किया जा सकेगा····

जो हो····मुझे इस बातको नहीं भूलना कि मुझे उदयपर लिखना है। आँखें खुली रह जायेंगी····। कहेंगे मन ही मन, इतनी तेज़ निगाहें हैं इस लड़कीकी, यह तो लगता ही नहीं था। एक असमर्थ आदमी····जो हर वक़्त अपने आपको, स्त्रियोंको लेकर ही उलझा और डूबा दिखाकर एक मानसिक सन्तोष पाता है····दूसरोंके आगे हमेशा एक भ्रम बनाये रखना चाहता है····।

लो, अक्का साहिबा तशरीफ़ ला रही हैं। आकर फिर लैक्चर न झाड़ने लगें। कल रातको तो दो घण्टे तक सुनाती रही थीं : "लड़की, तुझे यह हो क्या रहा है? कुछ पता ही नहीं चलता। हमेशा यह या तो बुद्धुओंकी तरह खोई-खोई ताकते रहना, या बिस्तरपर मेंढकी बनी लिखते रहना····। सीधे बैठकर ही लिख ले न····कमर टूट गई है क्या?" अब इसके जवाबमें अक्कासे क्या कहूँ? रेखा होती तो कह देती : "हाय

रेखा, तू कमर टूटनेकी बात करती है? यहाँ तो कम्बख्त कमर है ही नहीं.... सुना है कि उनके कमर ही नहीं है....” मैं अक्काकी ओर पागलों-की तरह खोई-खोई देखती रही फिर बुद्धूकी तरह हँस दी, “अक्का, एम० ए० का इम्तहान है...हँसी-खेल है क्या?”

रविवार : १४ जुलाई

जब ऊपर पहुँची तो पी० टी० की तरह दोनों हाथ ताने मुलायमसिंह जी अपनी नाइलोनी-बुश्शर्ट चढ़ाते-चढ़ाते बाहर निकल आये थे और देहलीज़में अपने कमरेके किवाड़ बन्द करनेको झुके सन्तुलन कर रहे थे : “अच्छा, चले पार्टनर।”

“बस, अभीसे?” भीतरसे आवाज़ आई तो मुझे सन्तोष हुआ, चलो हैं तो सही। मैं डर रही थी कहीं चल दिये हों, तो ये पाँच-सौ सीढ़ी चढ़कर आना बुरी तरह कोफ्त कर देगा। वे कह रहे थे—“अभी तुमने इस दुनियामें देखा ही क्या है, बेटा? हाय, कच्ची उमरमें ही यों छोड़कर चले जाओगे तो कैसे काम चलेगा....? अभी कुछ दिन और बहारे-गुलिस्ताँ देखो न ....?”

फ़िल्मी-ढंगकी लाचारी मुद्रामें कन्धे उचकाते हुए सिंह साहबने हाथ फैला दिये। गहरी साँस ली और संजीदा मुँह बनाकर बोले—“हाँ बेट्टा, अब तो चलना ही पड़ेगा। तुम्हें पढ़ा दिया, लिखा दिया। अब किसी लायक़ होगये हो। हमारा क्या है अब...यों बुज़ुर्गोंका साया बहुत बड़ी चीज़ है, लेकिन अब ज़िन्दगी भर थोड़े ही बैठे रहेंगे? न अपनी खुशीसे आये न अपनी खुशी चले....और कहा है शायरने कि ‘बुलबुलें, बे-खलिश क्यों न बहारें लूटें....? खार एक मैं ही था, सो मैंने चमन छोड़ दिया....”

और मुझे देखकर ही वे खिलखिलाकर हँस पड़े। अजब मज़ाकके ढंग हैं इनलोगोंके भी। बोलो, ऐसी-ऐसी बातें सुबह ही सुबह निकाली जाती होंगी मुँहसे ? पता नहीं, जाने किस मौक़ेकी कही बात ठीक हो जाये····। किसी दिन कोई ऐक्सीडैण्ट-वैक्सीडैण्ट हो जाये तो ? जानते हुए भी मैंने पूछा : "हैं ?"

"होगा नहीं तो जायेगा कहाँ ?" फिर प्रार्थनाके स्वरमें बोले : "अच्छा सुजाताजी, माफ़ कीजिए, मुझे ज़रा काम है सो जल्दी जाना है····"

मैंने माथे तक हाथ उठाये और मुसकराती हुई, उनकी फड़कती देहको जाते देखती रही। इस आदमीकी तो रग-रगमें फ़िल्म बस गई है। गलियारेमें सामने अपने कमरेके आगे एक महाराष्ट्रियन प्रौढ़ा सिल-पर मसाला पीस रही थीं। पास ही स्टोव सनसना रहा था। चौखट पार की तो देखा उदय दरवाज़ेकी ओर पीठ किये कुछ लिख रहे हैं, सामने मेज़पर झुके; एक बार मुड़कर मुझे देखा और फिर लिखने लगे। बोले : "आओ। हमने तो समझा था कि प्रिंसेसके साथ-साथ जो बेचते थे दवा-ए-दिल····वो भी दुकान अपनी बढ़ा गये····"

पहले तो मुझे सचमुच ग़ुस्सा आ गया; मैं आई हूँ, न उठना न स्वागत। ऐसे बैठे हैं जैसे मैं तो इसी घरकी पड़ौसिन हूँ और रोज़ दोनों वक़्त आ जाती हूँ। मैं सोच रही थी कि ज़ोरसे उछल पड़ेंगे। आनन्दसे किलककर कहेंगे : 'अहा, सुजाताजी हैं।' और आप हैं कि मुड़कर देखा और फिर लिखने लगे। मैं आई क्यों यहाँ ? लेकिन इस शेर और बात कहनेके सहज आत्मीय ढंगने सारा क्रोध मिटा दिया। नक़ली झुँझलाहटमें साड़ीकी पटलियाँ उठाकर एक पाँवसे दूसरे पाँवके सैण्डिलका फ़ीता उतारती बोली : "आप तो यह चाहेंगे ही····अभी बेचारे सिंह साहबको भेजे दे रहे थे, अब मेरा नम्बर आ गया। अच्छा, जल्दीसे नल बताइए, तमाम पैरोंमें हल्दी लग गई। कहाँ रहते हैं आप भी !"

"क्यों, कैसे ?" बड़े नाटकीय अन्दाज़से उसी व्यस्ततामें वे बोले—

"लेकिन हमारे यहाँ पैरोंमें हल्दी लगनेका तो कोई मुहावरा नहीं है। पैरोंमें तो मेंहदी लगती है, हाथों में···"

बड़ी चिनचिनाहट-सी छूट रही थी। आँखें वहीं गड़ीं हैं। जैसे हमारे आनेका कोई महत्त्व ही न हो। बिस्तरपर दो तकिये एक दूसरेपर हस्ब-मामूल पड़े थे और पास ही शतरंजकी बीचसे तह हो जानेवाली गत्तेकी बिसात झोंपड़ी बनी रखी थी। बिस्कुटके खाली डिब्बेमें हाथी-घोड़े भरे थे। तो अभी यहाँ बाज़ी ही जमी थी। बोली—"मत बताइए। मुझे क्या है, मैं पैर यहाँ पोंछे देती हूँ आपके बिस्तरपर। बैठा रक्खो है, नीचे मसालेवाली, सो अपने घर और दूकानका सारा मसाला कम्बख्त बीच ज़ीनेमें ही बैठकर कूटती है। उसे कोई और जगह ही नहीं मिली।"

दोनों हाथोंमें पकड़े लिफ़ाफ़ेके गोंद लगे हिस्सेपर जीभ फिराते वे मेरी ओर मुड़े। एक सैण्डिल उतारकर मैं एक हाथसे दीवारका सहारा लेकर दूसरा उतार रही थी। पाँव मोड़कर उठानेमें साड़ी ऊपर पिंडलियों तक उठ आई थी। उन्हें उधर देखते देख मेरी निगाह खुद अपनी पिंडलियोंपर गई—कितने बड़े-बड़े बाल थे मेरी पिंडलियोंपर। झट झुक-कर साड़ी नीचे खींच ली और उसी व्यस्त झुँझलाहटको बलात् क़ायम रखती सफ़ाई देती-सी बोली—"तमाम सीढ़ीपर हल्दी फैला रक्खी है। सारे पाँव रंग गये।"

"हमें तो इस बातमें ज़्यादा दिलचस्पी है कि हाथ कब रंग रहे हैं?" वे व्यंग्यसे बोले।

गालोंके गड्ढे और भी गहरे हो गये। दूसरे सिरेके खुले दरवाज़ेकी ओर जाते हुए बोली: "निमन्त्रण मिल जायेगा। घबराते क्यों हैं? हो सकता है पापा निमन्त्रणकी भाषा भी बनवानेके लिए आपको ही चुनें। क्या लेते हैं?" तब बड़ी इच्छा हुई, अपनी चोटपर उनका चेहरा देखूँ। किवाड़ बन्द करते-करते एक बार देखा भी, सिर झुकाये लिफ़ाफ़ेपर पता लिख रहे थे···मूर्ख।

फ़र्शपर गीले पंजोंके निशान बनाती मैं बेंतकी कुर्सीपर आ बैठी और हत्थेपर रक्खी उनके नहानेकी तौलिया उठाकर निहायत बेतकल्लुफ़ीसे—जैसे वह कोई गन्दा कपड़ा हो पाँव पोंछती हुई बोली—"यह सुबह-सुबह किसे इतने प्रेमसे खत लिखा जा रहा है?"

मेज़के काग़ज़ क़रीनेसे लगानेका काम छोड़कर उन्होंने अपनी तौलियाका यह उपयोग देखा, और कुछ कहते-कहते रुक गये (कहूँ, पैरोंकी गुराई और सुन्दरतापर मुग्ध होकर रह गये?) फिर काग़ज़ोंमें डूबकर बोले—"कुछ नहीं, एक ज़रूरी खतका जवाब देना था। सिंह-साहबका एक डायरेक्टरसे इण्टरव्यू था, सो वे तो दफ़ा हुए।" फिर उठकर दरवाज़े तक आकर बाहर मुँह निकालकर बोले—"ओ बहादुर, चाय-वाय पिलायेगा या नहीं?"

"मैं तो पी आई।"

"मैं भी न पियूँ?" वे खत हाथमें लेकर बाहर चले गये। ज़रूर बहादुरको जल्दीसे डाल आनेके लिए कहनेको गये होंगे।

"तभी आज सिंह साहब बड़े खुश-खुश जा रहे थे।" सब काम ऐसे ही चल रहा था, जैसे मैं तो यहाँ रोज़ ही बैठी रहती हूँ। उस दिन तो यों पूछ रहे थे जैसे कल न मिलूँगी तो जाने क्या ग़ज़ब हो जायेगा। मेज़की ओर देखकर बोली "लगता है खत लिखना आपका पेशा है—साहित्य तो यों ही शौक़ और शग़लकी चीज़ है? हमेशा वही-बही। अपनी अपर्णा बहनको ही लिखा है न? क्या लिख डाला? हमें भी मिलाइए कभी।" मैं उठकर मेज़के पास आ गई, देखें क्या-क्या है? मेज़पर ५५५ सिगरेटका गहरा हरा टिन देखकर मैं चौंक उठी। मैं नहीं समझती कि उनका स्तर इतनी ऊँची सिगरेट पीनेका है। पहले कभी ध्यान नहीं दिया। हमेशा यही पीते हैं क्या? उठाकर देखा तो गोल ज़नानी लिखावटमें लिखा था: "और जलो…"

"यह कमरा...ये फ़र्नीचर लोग, चायके कपका ऐश-ट्रे और पाँच-सौ पचपनका सिगरेट—लगता है न अजब-अजब ? मैंने भी कहा था कि मुझे यह सब मत दो..." वे लौट आये।

"किसने दिया ?" मैंने डिब्बा रख दिया। आँखें उनके चेहरेपर गड़ा दीं।

"हैं, एक मेहरबान"....पहाड़ी लड़का बहादुर भीतर आया तो उसे गर्दन मोड़कर देखते हुए बोले—'हमने लाख कहा, कि यह जी जलानेकी चीज़ ही दोगे...। अच्छा छोड़ो, तुम अपनी अपर्णाजीके हाल सुनाओ..." फिर आवाज़को भारी बनाकर कहा : "हर ऐक्सीलैन्सी प्रिंसेस अपर्णा.... आगे और क्या ? ए० बी० सी० डी०...."

मुझे ऐसी झुँझलाहट और मिसमिसाहट अपने भीतर मचलती लगी कि पागलोंकी तरह इस आदमीके सारे कपड़े फाड़ दूँ। हमेशा, जब देखो, तब जान-बूझकर एक रहस्यका मकड़ी जाल-सा अपने चारों ओर लपेटे रहेगा। आपको बड़ा मज़ा आता है इसमें। समझते हैं, बड़ी महत्ता-की बात है। एक-एक नक़ाब न इस चेहरेका उतारकर फेंक दूँ ! लेकिन प्रिंसेस अपर्णाकी बात सुनकर सब एकदम भूल गई। उसीकी बातें सुनाने तो यहाँ भागी चली आई हूँ। रातभर नींद नहीं आई। पहले निश्चय किया कि उदयसे अपनी ओरसे मुलाक़ात नहीं करूँगी। फिर कल रातको अपनेको खूब गालियाँ दीं : अजब मूर्खा हूँ मैं भी। अजब-अजब निश्चय कर लेती हूँ....इसमें आखिर तुक क्या है ? उस दिन खुद ही तो टाइम दिया था। यह भी सोचेंगे कि क्या लड़की है। जब मनमें ज़रा भी झिझक और ठिठक होती तो अपनेको समझा लेती कि मैं 'व्यक्ति' उदयके पास नहीं अपने 'विषय' के पास जा रही हूँ। और वही पागल उत्साह 'भक्' से दिमाग़पर छा गया : "आप तो हमको कुछ बताते ही नहीं हैं, आपको क्यों बतायें ? लेकिन सच, यह है बड़ी अजीब लड़की...।"

"क्यों ?"

"कल तो मेरी आँखें खुल गईं। मैं सोच भी नहीं सकती थी कि ऐसी बात भी हो सकती है। हमलोग इन्हें उपन्यासों, सिनेमाके पर्दों और कारोंमें देख-देखकर या अपने शहर और गाँवके रईसों और ज़मींदारोंके आधारपर अक्सर अपने अन्दाज़ दौड़ाया करते हैं। मुझे तो इनकी ज़िन्दगीकी एक झलक भर मिली है और मेरी तो रूह काँप उठी है"—मैंने आँखें बन्द करके उस सारे दृश्यकी कल्पना की तो एक थरथराहटसे सारा बदन काँप उठा—"उफ़! हमलोग लाख दर्जे अच्छे हैं...."

"क्यों क्या हुआ ?"

और थोड़ी देर बाद बहादुरकी बनाई चायके प्याले बीचमें रक्खे जब हम लोग आमने-सामने बैठे तो मैंने बताना शुरू किया: "मैंने आपसे कहा था कि अपर्णाने अपने पतिसे अलग रहनेकी अर्ज़ी दी हुई है। बस, तभीसे मैंने उसके व्यक्तिगत जीवनमें कुछ ऐसी दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी कि उसकी हर बातको नोट करने लगी। निश्चय कर लिया कि उसपर कुछ लिखना है। परसों फोनपर बड़ी देर बातें होती रहीं। कल मैं उसके यहाँ गई थी। कहानियों इत्यादिपर बातें करते हुए अचानक ही उसने पूछा: 'अच्छा, तुमने शादी क्यों नहीं की, सुजाता ?' मैंने जवाब दिया 'देखिए, मैं तो अभी पढ़ ही रही हूँ। उसके बाद सोचूँगी। अभी तो कोई जल्दी नहीं है। और अपनेसे गृहस्थीका बोझ, वे सारे बँधे-बँधाये क़िस्से चलते नहीं हैं। लिखना-लिखाना सब धरा रह जायेगा। लेकिन एक बात पूछूँ ?'—वह सोफ़ेपर हाथ फैलाये मेरी ओर झुकी बैठी थी। समझदारी और व्यथासे मुसकराई। आँखोंके नीचे हल्की-सी ऐंठन हुई और एकाध बार पलकें झपककर बोली 'मैं जानती हूँ। कहो तो बिना सवाल सुने ही जवाब दूँ ?' मैंने थोड़े आश्चर्यका भाव दिखाया—'बताइए।' बड़ी देर वह पसोपेशमें रही। फिर बोली—'कुछ कहनेमें डर

लगता है। आप लोग कथाकार हैं। कुछ भी बताना बड़ा ख़तरनाक है। अल्डुअस हक्सलेने एक जगह कहा है : 'मैं अपनी बेटीको कैसेनोवा जैसे व्यक्तिके पास छोड़ सकता हूँ, लेकिन किसी उपन्यासकारपर इतना विश्वास नहीं करूँगा कि उसे अपने भीतरी राज़ बता दूँ····' ख़ैर फिर भी इतना समझ लीजिए कि बहुत ही कुछ व्यक्तिगत मामला है। यहाँ एकदम आधुनिक ढंगसे रहते देखकर आप ग़लत समझ रही हैं। हमलोगोंका वास्तविक जीवन क्या है, यह आप सोच भी नहीं सकतीं'····और फिर वह अपना सारा क़िस्सा बताती रही। मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये····" बीचमें ही रुककर मैंने उदयसे पूछा—"आप बोर तो नहीं होंगे ?"

"नहीं, नहीं। मुझे तो बड़ी दिलचस्पी है····सुनाओ न।" वे अपनी उसी सिगरेटको पीते बड़े मुग्ध-भावसे धुँआ उड़ा रहे थे। जैसे बड़े आत्म-लीन सिर झुकाये, मेरी बातोंको पी रहे हैं।

"प्रिंसेसकी शादी उत्तरकी एक बहुत बड़ी पहाड़ी रियासतमें हुई थी। यों राजस्थानमें अर्थात् उसके अपने घर भी पर्दा वग़ैरा कम नहीं था; लेकिन चूँकि वहाँकी वे बेटी थीं, इसलिए वहाँ तो उन्हें काफ़ी छूटें थीं, काफ़ी स्वतन्त्र थीं वे। दो भाइयोंके बीचमें अकेली बहन, फिर राज-माताका प्यार। पर्देके भीतर भी वह 'सरस्वती', 'चाँद' और जाने कौन-कौन-सी पत्रिकाएँ पढ़ा करती थीं। किताबोंकी तो उसने अच्छी-ख़ासी लाइब्रेरी बना डाली थी। राजस्थानकी कुछ रियासतोंमें 'सोसाइटी' में उठने-बैठनेकी भी बातें होने लगीं थीं। ख़ास तौरसे जितने राजा-राज-कुमार बाहर जाते थे, वे अपने साथ कोई-न-कोई नीली-आँखोंवाली ले आते थे, इससे भी महिला-वर्गमें गम्भीर चिन्ता व्याप्त हो गई थी। यही सब देखकर एक तरहकी जागृति-सी उधर आने लगी थी। एक निहायत ही बूढ़े संगीतज्ञ साहब पर्देके पीछे—पहरेमें—सितार और तबलेके पहले बोल भी सिखा गये थे। फिर इसकी शादी हो गई। जिन युवराज साहबसे इसकी शादी हुई उनके रंग-ढंग ही निराले थे। टिक्का थे, इस-

लिए पूरी छूट थी। दिनभर शिकार, पार्टियाँ, और व्हिस्कीकी बोतलें—स्कॉच, व्हाइट-हार्स, शैम्पेन और जाने क्या-क्या? इसके अलावा उनका अपना एक पूराका-पूरा हरम। ख़ैर, यहाँ तक तो कोई ऐसी नई बात नहीं थी। रजवाड़ोंमें सब चलता ही है। किसीकी अच्छी बहू-बेटीको उड़वा लेना, और किसी भी राह चलतेको कटवा फिकवाना—यह सब वहाँका रोज़-मर्राका जीवन है। खुद इस अपर्णाके पिताके हरममें एक दर्जनसे ऊपर रानियाँ थीं, रखैलें और गोलियोंकी तो गिनती ही नहीं।"

"अपर्णा बताती है कि कहाँ तो वह ऐसे खुलेमें-से गई थी कि सरदारों और अफ़सरोंकी लड़कियोंके साथ महलोंकी छतों और आँगनमें बैडमिण्टन और वॉलीबाल तक खेलती थी, और कहाँ ऐसी जगह ले जाकर फेंक दिया गया कि भले आदमीकी सूरत न दिखे। चारों ओर बस, वही ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और उनसे खिलवाड़ करती सुबह-शामकी किरणें, बादल और फिर नीला आसमान····जिसपर कभी कोई जादू-भरा हाथ कुहासेकी धूल बिखेर देता और फिर एक ही झोंकेमें सब फुर्रसे उड़ जाता। लेकिन आख़िर कबतक ये बर्फ़ानी-चोटियाँ किसीकी कल्पनाको बाँधे रख पातीं? गाड़ीमें भी जाओ तो चारों तरफ़ पर्दे लग जायें। जिधर देखो, उधर ही एक घुटन और घिरावटका अहसास। कहती थी कि 'मुझे तो लगता था जैसे मैं आजन्म-क़ैद पाया हुआ क़ैदी हूँ जो धीरे-धीरे अपनी मौतकी राह देख रहा है····' मेरी चेतना और समवेदना इस तरह मरती चली जा रही थी कि कुछ दिनोंमें मुझे यह भी याद नहीं रहा कि पहाड़ोंके पार भी कोई दुनिया है! कैसी होगी वह दुनिया? सब किसी पिछले जन्मकी-सी बातें लगतीं। मैं उस खुली दुनियाके बारेमें तरह-तरहकी विचित्र-विचित्र कल्पना किया करती। सचाई जानते हुए भी, अपने सपनोंके अनुरूप वहाँके सुखोंको बढ़ा-बढ़ाकर देखनेमें मुझे एक अनोखा आनन्द मिलता। फिर रह-रहकर रोना आता कि वे सारे सुख अब सदाके लिए छूट गये हैं। न कोई अख़बार मिलता था, न ख़बर। बरसातके दिनोंमें रियासत शेष

सारी दुनियासे लगभग चार-पाँच महीनोंको एक तरहसे कट-सी जाती थी। आवागमनके लायक़ सड़क ही नहीं रह जाती। पहाड़ी नदियाँ बड़े-बड़े खड्ड बना देतीं। वही खाना-सोना और सेवा-टहल। समझमें नहीं आता था कि समय कैसे काटें? सारा इलाक़ा पिछड़ा इतना था कि एक सिनेमा घर तक नहीं था। क़िस्से सुनाई देते तो बस, इस-उस अफ़सर, बीबी-बेटियोंके चरित्र या नौकर-नौकरानियोंकी फुसफुसाहटके, हरवक़्त इधरके जासूस उधर दौड़ते रहते। महलोंमें जाने कितने दल थे, और यह पता लगाना तो असंभव ही था कि कौन किस दलका है। पान और पानीमें भी ज़हर मिले होनेका अंदेशा होता। हरवक़्त ऐसा 'टेंशन', तनाव और सावधानी-सी माहौलमें छाई रहती जैसे मोर्चेपर लड़ाई हो रही है और उसके पीछेवाले हिस्सेमें हमलोग रहते हैं। बन्दूक़-गोलोंके धमाके हमें जैसे हरवक़्त सुनाई देते रहते हों और हरक्षण ख़बरें इधरसे-उधर तेज़ीसे लपकती दौड़ रही हों—क्षण-क्षणमें पासा इधरका-उधर हो रहा हो। एक रहस्य और विस्फोटकी भयंकर प्रतीक्षासे भरा स्तब्ध वातावरण। कोई नई बात नहीं, क्योंकि किसी-न-किसी रूपमें यह सब हमारे यहाँ भी चलता था। रानियोंमें आपसमें खींचातानी शत्रुता, द्वेष····उसने उसको ज़हर दे दिया, वह उसके साथ पकड़ी गई। कोई किसीकी फ़रियाद सुननेवाला ही नहीं था।' लेकिन, आप सोचिए, उस समय उस बेचारीकी क्या हालत हुई होगी जब पता चला कि युवराज नाम-मात्रके ही पुरुष हैं····"

"हैं····ऽऽ!" उदय चौंककर उछल पड़े : "तुम्हारा मतलब····तुम्हारा मतलब····?" शायद अगली बात कहने और पूछनेकी उनकी हिम्मत नहीं पड़ी।

मैं निगाहें उनके चेहरेपर गड़ाये रही। मेरी बात जारी थी—"जी, मेरा मतलब वही है। और एक झूठे 'अहं'को सन्तुष्ट करनेके लिए उनके लिए पूरा एक रनिवास रक्खा जाता था। एकसे-एक भयंकर शिकारी

कुत्ते और रनिवास। बस, यही दो उनके शौक़। बड़ी-बड़ी मूछें, भयंकर गुण्डे और उनके मुसाहिब। जब देखो तब जीपें भरीं और शिकार खेलने चले जा रहे हैं। सुनते हैं, दक्षिण-पश्चिमी इलाक़ेके एक बहुत बड़े डाकूको उनकी पूरी मदद थी और उससे बाक़ायदा हिस्सा लेते थे। 'शिकार' जानेका भी एक रहस्य ही बताया जाता है। बताती थी, युवराज साहबको एक बड़ा अजब शौक़ था—जो नवाबोंके सिवा शायद ही किसीमें सुना गया हो। आधी-आधी रात तक खूब शराब पियें और पिलायें, आराम-गाह या गैस्ट-हाउसमें नाच-मुज़रा देखें, और जो खुद न कर सकें उस सबका नाटक देख-देखकर सन्तोष पायें। अपना उनका एक छोटा-सा प्रोजेक्टर था। आज तो यह कोई नई चीज़ नहीं रह गई है; लेकिन उन दिनों ज़रूर एक नायाब चीज़ थी। और उस पहाड़ी जगहमें तो अलादीन-का चिराग़ ही समझो। उसीसे पैरिस और लन्दनकी साँस-रोक फ़िल्में देखी जाती थीं। अपर्णा बताती थी कि एकाध बार मैंकेको दासीकी मदद-से देखा। ऐसा भयंकर दृश्य और बीभत्स प्रभाव रहता था कि रह-रहकर क़ै आने जैसा जी मिचलाता था। अपर्णा बेचारी रात-रातभर रोती। अच्छे घरानेकी थी, इसलिए ज़रा इज्ज़त थी, कोई कुछ बोलने या कहने-की हिम्मत नहीं कर पाता था। लेकिन सूख-सूखकर काँटा रह गई। बताती थी, 'किसी और रानीके साथ किसी नौकरके सम्बन्ध होनेका शक हो गया, या किसीने चुग़ली कर दी। बस, उस दिन रातको युवराजने उस बेचारीकी जो दुर्गति बनाई कि मेरी तो आत्मा काँप उठती है। उसके ऊपर जो-जो अत्याचार हुए उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण कथाएँ सारे महलमें फैल गईं। फिर पता ही नहीं चला कि वह कहाँ गई।' अपर्णा यह सब देखती और अपनी क़िस्मतको रोती। रात-दिन उसकी रूह क़ब्ज़ रहती। पता नहीं, किस बातपर कौन-सी मुसीबतका सामना करना पड़ जाये। यहाँ तो कोई बचाने या घर तक खबर ले जानेवाला भी नहीं था। मार-मूरकर फेंक दिया तो किसीको सालों पता भी नहीं चलेगा। उसे न तो कोई कहीं-

की खबर मिलती न समाचार। बस, चौबीस घण्टे एक ज़हर था कि नस-नसमें समाया जा रहा था। एक दिन इसके भाई मिलने आये। बिना पर्देके यह उनसे मिली। उनके सामने बेबस रो पड़ी कि मुझे यहाँसे निकाल लो, वर्ना अगली बार ज़िन्दा नहीं मिलूँगी। किसीने नहीं मारा तो खुद ज़हर खाकर मर जाऊँगी। अपर्णा बताती है कि भाईके पैरोंपर सिर रखकर मैं ऐसी फूट-फूटकर रोई कि आज तक नहीं रोई। जैसे सारे प्राण आँसुओंमें खिंचकर बाहर फूट पड़ना चाहते थे। शायद वहीं बेहोश भी हो गई। जासूस दौड़े और बात पूरे महलमें फैल गई। सबसे बेक़ायदा बात यह कि बिना पर्देके मिली। फिर इस तरह रोते-रोते बेहोश हो गई। जाने क्या-क्या बताया होगा अपने भाईको यहाँके बारेमें? क्या सोचेंगे वे, यहाँ कोई सुख ही नहीं है बेचारीको? और अपर्णाको लगा जैसे एक भयंकर संकट उसपर मँडरा रहा है। संध्याको युवराज आये। फ़ौजी वेशमें। फुलबूट, चमड़ेके बकेट, और ब्रिचिस। उस समय युवराजके छोटे भाईकी पत्नी, यानी अपर्णाकी देवरानी भी वहीं थीं। उन महलोंमें अगर थोड़ी-बहुत मित्रता किसीसे थी तो बस उसीसे। पर्देके लिहाज़से इधर पीठ करके जब वह जाने लगी तो युवराजने डपटकर कहा : 'रुको।' अपर्णा बेचारीके प्राण सूख गये। जाने क्या होनेवाला है। खिंची भौंहें, माथेके बल और कसे होंठ बता रहे थे कि कुछ होना ज़रूर है। युवराजने अपने पैर फैला दिये और इससे बोले—'फ़ीते खोलो।' अपनी देवरानीके सामने अपर्णाको यह काफ़ी अपमान-जनक लगा। उसने यह सोचकर थोड़ा अनसुना कर दिया कि देवरानी चली जायेगी तो खोल दूँगी। 'नहीं सुना?' युवराज गुर्राये''''और बस कमरमें बँधा हंटर खोलकर उस बेचारीको जो धुनना शुरू किया तो उसे होश नहीं रहा''''। चीखें सुन-सुनकर सारा महल खिड़कियों और दरवाज़ोंके बाहर जमा होगया था, लेकिन किसीकी हिम्मत नहीं होती थी कि भीतर आकर बचाले। किसके दो सिर थे कि खुद भी इतनी ही मार खाता। युवराजके मुँहसे गुस्सेके

मारे भाग निकल रहे थे और वे कहते जाते थे : 'अपने यारके तो पैरों-पर गिर-गिर कर रोती है और पतिके फ़ीते खोलनेमें इज्ज़त जाती है ? हाथीके पावों तले रोंदवा दूँगा। भाइयोंके भरोसे मत रहना। इस महलमें किसीका घमण्ड नहीं चलता। 'उस दिन अपर्णा अधमरी हो गई थी।"

"सच बात है यह ?" साँस रोके पत्थरकी तरह उदय सुनते रहे।

"अरे लो, मैं झूठ बोलूँगी ? मैंने तो ख़ुद उसकी पीठ देखी। ऐसी काली-काली धारियाँ हैं कि मुझे तो सचमुच रोना आगया। हाय, यह क़साई-पना भी चलता है इस सारे राजसी ठाठके पीछे····" फिर मैं उसी वर्णनमें विभोर देर तक आँखोंके आगे आनेवाले भयंकर चित्रोंको हटानेकी कोशिश करती रही।

"फिर बची कैसे····?" उदयने पूछा।

"कहती थी कि मुझे तो विश्वास होगया कि अब यहीं मरना है। सुनते हैं, बिना मरे वहाँसे किसीका छुटकारा नहीं हुआ। कुल सोलह-सत्रह सालकी तो थी ही। उम्रसे बच्ची और दिमाग़से भावुक। जब देखो तब खिड़कीमें बैठी-बैठी रोया करती। वहाँसे हरियाली-लदी चोटियाँ दिखाई दिया करतीं। अँगड़ाई लेती, बलखाती सड़कें, पहाड़ोंकी सलवटोंपर यज्ञोपवीतकी तरह लहराया करतीं····और उसका मन दौड़-दौड़कर उनके पार पहुँचा करता। कोई खच्चर या गाड़ी उधरसे आती दीखती तो उसे एक-एक इंच धरती समेटते देखकर इसका दिल उमड़ा आता। जानती थी, उसमें इसका कोई नहीं होगा; लेकिन पुराने ज़मानेके क़िस्से आँखोंमें मँडराया करते कि शायद भाईने किसी तरह उसकी हालतका पता लगा लिया है और किसीको पहाड़ी औरतके वेशमें इसे छुटकारा देनेके लिए भेजा है। कहीं ज़रा-सा भी गड्ढा या खोह दिखाई देती तो लगता यह पुराने ज़मानेकी गुफ़ा है जो पार मैदानोंमें जाकर खुलती है···वहाँ रेलें हैं, मोटरें और साइकिलें हैं। वहाँ लोग सिनेमा जाते हैं, क्लबोंमें पिंग-पाँग और बैडमिंटन खेलते हैं। बताती थी, यहाँ आकर पहली बार जब

दो-तीन सालमें रेल देखी तो ऐसा लगा कि दौड़कर उससे लिपट जाय। खिड़कीसे उसे सतलज दिखाई देती रहती थी।

"सतलज पार करनेका भीतरी पहाड़ोंमें बड़ा विलक्षण तरीक़ा है। भैंसेकी खालमें हवा भरकर उसे फुला लेते हैं और फिर पार करनेवाला पानीमें उस मशकको उलटा डालकर उसपर खुद औंधा लेट जाता है। शायद उसे शरीरसे बाँध भी लेता है, फिर पार होनेवाला उसकी पीठसे चिपक जाता है। पार करानेवाला हाथ-पाँवसे धार काटता हुआ उसे तैराता ले चलता है। हाथोंमें काठके दो छोटे-छोटे, टेबिल-टैनिसके बल्लों जैसे चप्पू भी होते हैं। धार इतनी तेज़ होती है कि मीलों तक घाटियाँ गूँजती रहती हैं। यह रियासत प्यालेकी शकलके एक खुले मैदानमें थी। इसलिए यहाँ पार करना आसान भी था, फिर भी धारका यह हाल था कि आधे-मील दूर जाकर किनारा हाथ लगता था। कितने लोग इस खतरनाक खेलमें डूब जाते थे, कोई अन्दाज़ा नहीं; लेकिन इसके सिवा कोई रास्ता भी तो नहीं था। अब तो सुनते हैं कि वह सारा एरिया किसी डैममें आ गया है...। अपर्णा कहती थी कि पहले-पहल पार करानेके इस ढंगको देखकर हँसी आती थी। क्योंकि बड़ी-बड़ी पर्दा-नशीन औरतें (और राजधानी थी, इसलिए हर भले घरकी बहू-बेटीको अपना मुँह छिपाये रहना पड़ता था। पता नहीं, किस कर्मचारीकी निगाह पड़ जाय) यों ही पार करती थीं। ये लोग कहा करतीं, कि यों चेहरा देखनेमें बेइज्जती होती है; लेकिन पराये-मर्दके ऊपर औंधे लेटकर उससे कसकर चिपके हुए नदी पार करनेमें कोई झिझक नहीं होती? पानीसे कपड़े न भींग जायें, इसलिए ये लोग अपने कपड़े भी जाँघों तक चढ़ा लेती थीं। कहती थीं, कभी-कभी धूपमें इस तरह पार करते हुए लोग ऐसे लगते थे जैसे बड़ा-सा केकड़ा तैरता चला जा रहा हो। पहले जिस चीज़पर हँसी आती थी अब उसीपर जैसे प्राण अटके रहने लगे। खिड़कीसे दूर-दूर तक सब दिखाई देता था। एक-एक चप्पूके साथ ऐसा लगता था, मानो अब डूबे-अब

डूबे। बैठी-बैठी अनजान लोगोंके लिए भगवान्‌से प्रार्थना किया करती, कि हाय राम, यह बच जाय। यह कुशलपूर्वक पार हो जाय। हर पार करती औरत इसे ऐसी लगती जैसे वह स्वयं हो''''और जब वह सुरक्षित दूसरे किनारेपर आ खड़ी होती तो इसकी साँसमें साँस आती। दिन बितानेका कोई और तरीक़ा नहीं था। मन होता खिड़कीसे कूदकर वह भी इसी तरह पार चली जाये और फिर भूखी-प्यासी भागती हुई भाईके पास पहुँचे—देखो, भैया, कैसी मुश्किलसे जान बचाकर भागकर आई हूँ। कभी-कभी पागलोंकी तरह खिड़कीकी चौखटसे सिर कूटती। अक्सर पागल-पनेके दौरानमें इसे लगता जैसे वह किसी अनजान युगकी शहज़ादी है, और उसे किसी राक्षसने इस सुनसान रेगिस्तानमें बने क़िलेमें लाकर क़ैद कर दिया है। एक उत्कट प्रतीक्षामें वह रात-दिन आँखें खोले, सोते-जागते प्रतीक्षा करती है कि कोई शिकारका शौक़ीन राजकुमार एक दिन घोड़ेपर आयेगा और इसे निकालकर ले जायेगा। बाल सँवारकर जब फेंकती तो मनमें लगता कि किसी नदीकी धारामें यह बाल बहते चले जायेंगे, बहते चले जायेंगे—कहीं कोई हारा-थका राजकुमार घोड़ेकी लगाम पकड़े पानी पी रहा होगा—इन बहते हुए बालोंको देखकर इनकी ख़ूबसूरती और लम्बाईसे मुग्ध होकर वह यहाँ खिंचा चला आयेगा''''। कहती थी, अजब-अजब खयालातमें सारा दिन कट जाता। कल्पना-शक्ति उन दिनों कुछ ऐसी तेज़ हो गई थी कि जो भी कहीं देखा, सुना या पढ़ा था सब एक-एक अक्षर करके याद आता था और वह अपनेको उस रूपमें सोच डालती। शामको धूसर आसमानमें उड़ते और चहचहाते चिड़ियोंके झुण्ड, पीली बीमार ठिठुरी-सी किरणें पकड़े उसे जाने कहाँ-कहाँ बहा ले जाते। झींगुर हर समय मनमें झनझनाया करते और रातको पहाड़ोंसे उतरती हैड-लाइटोंको देखकर वह ऐसे चौंक जाती जैसे कोई निर्णायक क्षण आ गया है।

"फिर युवराज पता नहीं क्या बहाना करके विलायत चले गये। असल बात यह सुनी गई कि वे अपना इलाज कराने गये हैं। और जब

यह सुना कि सरदार पटेलने तेज़ीसे रियासतोंका विलीनीकरण शुरू कर दिया है तो वहीं जम गये। लेकिन जानेसे पहले अपर्णाको जिस ढंगसे तंग किया है, कहती है कि मैं ज़िन्दगी-भर नहीं भूल सकती। कहते थे कि अपने यहाँसे रुपये मँगा-मँगाकर दो। जाने कैसे उलटे-सीधे ख़त लिखाते थे। इसके पास एक छल्ला नहीं छोड़ा। जो लेते, दो दिनोंमें रेस और हवाखोरीमें स्वाहा कर डालते। बाहरसे भी लिखा एकाध-बार। इधर अपर्णाकी माँका जब स्वर्गवास हुआ तो पहली बार यह मैके आई। बस, तबसे जानेका नाम ही नहीं लिया। सुसरालवालोंने बहुत माफ़ी-वाफ़ी माँगी, प्रेम जताया, आना-जाना शुरू किया। मगर यह बम्बईमें इन महाराजकुमारके साथ आकर रहने लगी। उन्होंने पढ़ानेके बहाने इसके सबसे छोटे देवरको भी लाकर यहीं रख दिया। लेकिन अपर्णा कहती है—'मैं इनलोगोंकी एक-एक हरकत समझती हूँ, जो भी कुछ मेरा अपना या मेरे भाइयोंका दिया हुआ है उसीपर इनकी अब आँखें हैं। रियासत-वियासत तो सब बाँधमें डूब गई या डूब जायेगी। अब बस दिल्लीमें कहीं रहते हैं और मेरे मालपर आँखें लगाये हैं। नस-नस जानती हूँ मैं इनकी। जो कुछ भुगता है उसे आसानीसे भूला थोड़े ही जा सकता है।' —आप विश्वास नहीं करेंगे, यह सब सुनाते-सुनाते सचमुच अपर्णा रो पड़ी थी। प्रिंसेस मेरे सामने रो रही थी। मेरी तो समझमें नहीं आया कि कैसे उसे सान्त्वना दूँ। क्या शब्द कहूँ कि उसे ढाँढ़स बँधे। उस समय मुझे लगा कि हमलोग इनसे लाख दर्जे अच्छे हैं। अपने सम्मान और ऊँचाईके पीछे वह दूसरी बार शादी भी तो नहीं कर सकती। सबसे मज़ेकी बात यह कि उसे किसी तरहका कोई दुःख-तकलीफ़ है इसे भी वह किसीके सामने स्वीकार नहीं कर सकती। सबसे हँस-हँसकर यही बताना पड़ता है कि 'नहीं जी, हमें कोई तकलीफ़ नहीं है, दिनभर घूमते हैं, खेलते हैं, क्लब-सिनेमा जाते हैं, जो मन होता है करते हैं, हमें किसी बातकी तकलीफ़ कैसे हो सकती है? फिर इतना साहस भी हममें

है कि जब कोई तकलीफ़ होगी खुलकर कह भी देंगे''''क्योंकि हम जानते हैं कि हमारी कोई इच्छा अधूरी नहीं रहेगी।'''''लेकिन यह सब कहनेकी बातें हैं। सचाई यह है कि तकलीफ़ है कि उसकी रग-रगमें समाई है, आत्मापर छाई है और दिलमें चुभी कीलकी तरह हर साँसके साथ कसकती है। बस, यों ही अपने आपको बहलाते-बहकाते हुए ज़िन्दगी गुज़ार दे, इसके सिवा उसके लिए कोई चारा नहीं है। भाई और भाभी के प्यारको चाहे जितना कसकर पकड़े, वह जानती है कि वह खुद एक फ़ालतू चीज़ है, जिसे दयापर रहना है। अपना हर क़दम भाईके तेवर देखकर ही रखना है। अभी बेचारीकी उम्र भी तो नहीं है कुछ। आजके मध्यम-वर्गमें हमलोग इस तरह घुलते तो नहीं हैं। एक दर्जन बीमारियाँ हैं जो उसे लगता है कि उसके पीछे हाथ धोकर पड़ी हुई हैं, लेकिन उस बीमारीकी वह बात नहीं करना चाहती जो उसके खूनकी बूँद-बूँदमें समाई हुई है''''"

जाने कैसा प्रवाह था कि मैं लगातार बोलती रही, और उदय चुपचाप सुनते रहे। फिर उठकर धीरे-धीरे ख़ाली जगहमें टहलते रहे—खिड़कीसे दरवाज़े तक सिर झुकाये। सहसा बड़े घुटे स्वरमें बोले—"मुझे लेनिनका कहना याद आरहा है कि औरतकी हालत सभी जगह एक-सी है—चाहे वह राजकुमारी हो या नौकरानी—वह हमेशा ही पुरुषके तेवर देखकर चलती है, उसकी इज्ज़त उसके चाहने न चाहनेपर है। उसकी प्रतिष्ठा उसकी शरीर-शुद्धताकी परम्परागत मान्यतापर है।" फिर अपनी बात रोककर पूछा—"अच्छा और क्या-क्या जान लिया अपनी प्रिंसेससे'''?"

"बस, अभी तो इतना ही जाना है। जबसे जाना है रातभर मेरा तो सिर चकराता रहा है। लगता था कब सुबह हो और कब आपको सब बतायें।" मैंने कह तो दिया लेकिन लगा एक बड़ी हल्की-सी मुसकराहट उदयके होठोंपर उभरी।

वे फिर सिगरेट जलाकर सामने कुर्सीपर बैठते बोले—"क्या बेचारी-की ज़िन्दगी है····? जो भी हो, इसपर तो कुछ लिखना चाहिए। राज-कुमारी क्या हो गई, उसने तो यह जाना ही नहीं कि प्यार क्या है, नारी क्या है, क्यों है?"

केवल उसका क़िस्सा सुनकर ही उसपर यों दया दिखानेपर, इस स्थितिमें भी मुझे बड़ी इच्छा हुई कि कोई व्यंग्यकी बात कह दूँ। उसे दबाकर बोली—"देखिए, इसपर दाँत मत लगाइए। यह हमारा प्लॉट है। हाँ, कहें तो हम मिला दें आपको? पर पता नहीं, यों मिलना वह पसन्द करेगी भी या नहीं। इन लोगोंके साथ यह झूठी प्रेस्टिज और डिग्निटीका भी तो बड़ा झंझट है न। जानते हैं कि अब पहले जैसे ज़माने नहीं रह गये हैं, जिस सिनेमामें यह बैठे हों, उसकी बग़लवाली सीटपर इनके शोफ़रका लड़का भी बैठा हो सकता है, लेकिन यह दम्भ पीछा नहीं छोड़ता कि हमें हरेकके साथ मिलते-जुलते नहीं दीखना चाहिए। ख़ैर, इधर मैंने आपके बारेमें उसकी बहुत राय बदल दी है। जबसे कुछ चीज़ें पढ़ाई हैं तबसे वह पहलेवाली बात नहीं रह गई है।"

निरुद्विग्न भावसे वे बोले—"रहने दो। मैं बहुत ज़्यादा उत्सुक भी नहीं हूँ। शायद मुझे खुद उसके यों कृपा-पूर्वक मिलनेमें शर्म लगे। हो सकता है मेरी दिन-दिन बढ़ती विद्याके दम्भको उनका दिन-दिन घटते धनका दम्भ सह भी न पाये, तब बेकार तुम्हारी स्थिति बिगड़ेगी। दूसरे, मैं उनसे मिलूँ, और उनके घरवालोंकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष निगाहें उनसे इस नये आदमीसे मिलनेकी सफ़ाई माँगें, ऐसे धर्म-संकटमें मैं डालूँ ही क्यों किसीको? ख़ैर, फिर भी इसमें उस बेचारी राजकुमारीका क्या क़सूर? वह तो उस वातावरण और व्यवस्थाकी खुद ही शिकार है न, जहाँ उसे जन्म लेना पड़ा है। उसे भी तो पुरुषके ठीक उन्हीं अत्याचारोंका शिकार होना पड़ा है, जिनका शिकार एक भिखारीकी पत्नी होती है।"

और फिर हमलोग बड़ी देर यों ही चुपचाप बैठे रहे। जैसे राज-

कुमारी अपर्णा दोनों हथेलियोंमें ठोड़ी लिये हमारे बीचमें बैठी थी, और जाने किन विचारोंकी गहराइयोंमें जाकर खो गई थी। और हम दोनों न्यायाधीशोंकी तरह उसकी व्यथाकी पुकार सुनकर आविष्ट हो गये थे····।

मैं बोली—"लेकिन एक बात मुझे और भी लगती है। किसीको लेकर इन दिनों उसके मनमें बड़ा भारी द्वन्द्व है। अजब खोई-खोई और अनमनी-सी रहती है। हरवक्त लगता है जैसे किसीकी प्रतीक्षा कर रही है। जैसे अचानक किसीके आ-जानेकी उत्कण्ठा हो। टेलीफोन इस तरह चौंककर उठाती है जैसे अप्रत्याशित रूपसे यह वहींसे आया है जहाँकी इसे प्रतीक्षा है। फिर अपनेको भूलकर फोनपर बेकारकी बातें करती रहती है····अजब उखड़ी-उखड़ी बातें····। लेकिन उस समय ज़रूर उसका चेहरा खिल जाता है और इसके बाद फिर ख़ूब ख़ुश रहती है····"

उदयने मुसकराकर स्नेहसे कहा—"जब तुम पीछे पड़ गई हो तो यह रहस्य भी बेचारा बचकर कहाँ जायेगा ?"

"बिलकुल !" आत्म-विश्वाससे मैंने कहा—"बस, अब तैयार रहिए····किसी दिन सुबह-ही-सुबह आकर वह भी बता दूँगी पूरा····"

वे फिर कहीं खो गये—"तुम्हारी प्रिंसेसका क़िस्सा तो सचमुच दिल-को छू गया है····"

और मुझे लगा कि मेरे दिलकी इतनी देरकी बेचैनी, व्याकुलता, उद्वेलन और उद्वेग उदयको सारा क़िस्सा बताकर एकदम शान्त हो गये···· जैसे यह बोझ था जो उन्हें सौंपना ही था····

सोमवार : १५ जुलाई

"छाया मत छूना मन····होगा दुःख दूना मन"····

कभी-कभी ऐसा लगता है कि गीतकी कोई कड़ी, सोते-सोते सहज ही ऐसी मनमें बस गई है कि अकारण ही सुबह अपने भीतर गूँजती सुनाई

दे रही है। दिन-भर जाने-अनजाने उसे ही गाती-गुनगुनाती रहती हूँ.... न भी गाऊँ तो लगता है कि भीतर कोई गा रहा है। कभी-कभी तो जाने किस युगमें पढ़ी किसी कविताकी कोई भूली-बिसरी लाइन इस तरह ताज़ी हो आती है कि मन आनन्दके विस्मयसे भर जाता है....। नहाते वक़्त भी वही, मेज़की चीज़ें ठीक करते हुए भी वही। इस बचपनपर मनमें हँसी भी आती है कि मुँहमें चायका घूँट या कौर भरा है और गुनगुना रहे हैं....। आज सुबहसे ही गिरिजाकुमार माथुरकी यह लाइन जो ज़ुबानपर चढ़ी तो लाख उतरनेपर भी सोते समय तक उतरी ही नहीं :

छाया मत छूना मन....होगा दुःख दूना, मन....

कल जब हमलोग बाहर निकले थे तो आसमानपर एकरस बादल छाये थे और हल्की-हल्की फुहार पड़ रही थी। बम्बईमें अक्सर ऐसा होता नहीं है....एक अनाम पुलक थी जो ऊदी बदलीकी तरह मनपर घिरी थी।

अभी-अभी हमलोग साथ-साथ सीढ़ियाँ उतरकर आये थे। दोनों साथ ही अगली सीढ़ीके लिए पाँव बढ़ाते....। कभी एक आगे निकल जाता तो ज़रा-सा खुद रुककर दूसरेके आनेकी राह देखता और दोनोंके पाँव निचली सीढ़ीपर साथ-साथ उठते। मोड़की ज़रा चौड़ी सीढ़ीपर दोनों क़दम मिलाकर चलते और फिर उतरने लगते। उतरनेकी इस क्रियामें पता नहीं, मुझे कैसी एक निकटता और आत्मीयताका बोध हो रहा था। शायद उन्हें भी ऐसा ही लग रहा हो। मनमें कहीं भीतर एक बड़ी धुँधली स्मृति उभर आई थी कि कभी इसी तरह किसीको यों ही सीढ़ियाँ उतरते देखा है....बहुत पाससे देखा है। जिन्हें देखा था वे दोनों हाथमें हाथ लिये, यों ही उतरते चले आ रहे थे। पता नहीं, मैंने इस दृश्यको कहीं सिनेमाके पर्देपर देखा या सचमुच, लेकिन उस क्षण अपना यह उतरना मुझे अपने एक दूसरेके अत्यधिक निकट होनेका बहुत बड़ा प्रमाण लगा....।

मुझे कॉलेज जाना था और उदयको अपने डायरैक्टर साहबसे मिलने मलाबारहिलकी तरफ़। उदयने कहा था—"बम्बईवालोंको तो यह मौसम अच्छा ही नहीं लगता। उन्हें तो मूसलाधार बारिश और पलमें शरीर नोंचती धूपवाले मौसमका अभ्यास है। लेकिन मुझे यह रिम-झिम फुहार बहुत अच्छी लगती है। उधर था तो घण्टों भीगता साइकिलपर इस फुहारमें सुनसान सड़कोंपर भटका करता था....। अब तो मन तड़प-तड़पकर रह जाता है।"

"ऐसी फुहारमें झूला-झूलनेकी तो कभी-कभी हमें भी याद आती है...." मैं बोली : "स्कूलवाले दिन तो ऐसे खो गये कि पता ही नहीं चलता, कभी हमने ही जिए थे। आधी-आधी रात तक झूलते और गाते थे।"

डबल-डैकरमें ऊपर बैठकर फ़ोर्टकी तरफ जाते हुए हमलोग बातें कर रहे थे। मनके भीतर कहीं बड़े हल्के-हल्केसे पुराने गीतोंके बोल उभर रहे थे....। झूलेकी रस्सी और छतसे बँधा कड़ा चूँ-चूँ कर रहा था... एक लड़की झोटा दे रही थी और कई कण्ठ गा रहे थे....'अरी भैना मे-ए–री–ई,....घिर आई सा–आ वन...बा—द–ली–ई–ई' कैसी एक जैसी बँधी-बँधाई लय होती थी उस गीतकी भी। एक दूसरीके झूलेकी रस्सियोंमें पटलियोंके सिरोंपर अँगूठे-फँसाये (उन्हें हमलोग अंगू-पंगू कहा करते थे) झोटा लेनेके प्रयासमें जब पीछे झुक जाते थे तो नीचे झुके सिरकी चोटी धरतीपर साँप-सी लहराती हुई सरका करती...कैसा रोमांच होता था उसे सरकते जानकर...। न पल्लेका ध्यान न आँचलकी परवाह ..। धोतियोंमें हवा भर जाती थी और टाँगोंके बीच धोतीका घेरा पैराशूटकी तरह फूल जाता था—जैसे हमलोगोंने मणिपुरी नृत्यके कपड़े पहन रक्खे हों। उन्हें दबा रखना भी एक मुसीबत थी ..वे खिलखिलाहटें .. वे क़हक़हे....

फिर ध्यान बसके साथ चलते तारोंकी ओर दौड़ आया....। कभी-कभी

उन्हीं तारोंपर सरकती ट्रामोंकी चिचियाहट मिल जाती थी। किनारेके मकानोंकी पहली मंज़िलें साथ चल रही थीं। भायखलामें सजे एक-एक कमरेवाले गृहस्थोंके चमचमाते बर्तन····नौ-नौ हाथकी फहराती गहरे लाल-हरे रंगकी साड़ियाँ····। इन लोगोंको हर काम क़रीनेसे करना आता है। कहीं कोई नारी-मूर्ति गंदा कपड़ा लेकर फ़र्श पोंछ रही होती तो मनमें एक अस्पष्ट-सी आशंका कौंध जाती, कहीं मुझे भी तो इन्हीं चालोंमें-से एकमें नहीं रहना होगा? शिवाजी पार्कमें रहना सपना है और इन कमरोंमें सड़ना मेरी आशंका।

लेकिन यह आशंका ज़्यादा देर रही नहीं····। उदयने एकाध-बार पूछा भी: "आज कतरनी चुप कैसे है?" मुझे बेहद बातूनी समझते हैं····। बाल्कनियाँ गुज़रती चली जा रही थीं और रंग-बिरंगे कपड़े फहरा रहे थे····यह सब सच नहीं है····यह सब एक सपनेका सागर है जिसकी लहरोंपर एक नाव सरकती चली जा रही है। पीछे सीटपर उदयका हाथ रक्खा था और बार-बार बसके रुकने-चलनेसे पीठ वहाँ टिक-टिक जाती थी····। मैं फिर सँभलकर सीधी हो जाती। उस दिन रेलका सफ़र याद आ रहा था। मन होता था उनके हाथकी टेक लगाकर आरामसे आँखें बन्दकर लूँ····। जगह आयेगी तो वे ख़ुद झकझोरकर बतायेंगे····"उठिए, जनाब आ गया स्टॉप····" मैं झेंपी-झेंपी मुसकराती उठकर आँखें खोलूँगी—चकित····। सफ़ाई दूँगी, हवा ऐसी चल रही थी कि आँखें झपक गईं···· चाहे बसोंका हिलना हो या रेलका; कुछ हल्का उनींदापन छा ही जाता है। जाने कौन बताता था कि बचपनमें जिन्हें पालने या गोदमें बहुत ज़्यादा हिला-हिलाकर सुलाया जाता है उनकी आगे जाकर भी यही आदत बनी रहती है····। जहाँ ज़रा भी वैसा हिलना मिला कि उनकी आँखें झपीं····। अक्का मुझे पालनेमें डालकर कैसे झुलाया करती होंगी? मैं कैसे झुलाऊँगी····? हिश्ट! लगता था कि ये फुहार-भींगी हवाएँ यों ही थपेड़े मारती रहें और मैं झूलेके झोंकेकी तरह पीछे-पीछे कहीं बहुत दूर

अनजान स्मृतियोंकी गहरी गूँजती घाटियोंमें उतरती चली जाऊँ····उतरती चली जाऊँ····।

पता नहीं उदय किस चीज़पर लगातार बोले चले जा रहे थे····इन्हें भी बातें करनेका मर्ज़ है। अरे, कोई वक़्त होता है जब चुप होकर सारे वातावरणको पिया जाता है····चुप भी रहा जाता है।

तभी बस झटकेसे रुक गई : देखा तो नीचे घुटनों-घुटनों पानी भरा था। बाहर बारिश ज़ोरसे हो रही थी। अब होश आया····काश, यह बारिश कभी न थमे।

कहीं बहुत दूरसे कानोंमें जाने कब सुनी हुई एक लाइन, एक अजब-से गीतकी पंक्ति उमड़ती चली आ रही थी। इम्तहानके दिनोंमें आधी-आधी रात तक लैम्प जलाये पढ़ती रहती थी। चारों तरफ़ सन्नाटा छा जाता था। कभी-कभी बस, पहरेदारकी आवाज़ ही सुनाई देती थी····। तब काँसेकी कटोरियोंके साथ ये पंक्तियाँ इस तरह झनक उठतीं कि सारा वातावरण घुँघरुओंकी तालपर मानो झूम-झूम उठा हो····। स्वर कहीं दूरसे क़दम-क़दम चला आ रहा है :

"····अनरुत को बरस र-ह्यो मेऽह,
लँगुरिया-आ,
भीजेंगे हम तुम,
दोऊ जने-ए-एऽऽ····"

बादमें ऐसी ही लाइनें फिर पढ़ीं थीं बच्चन की : "बरस रही जल-धार, कि हम तुम भीगें····"

बसके दोनों ओरके काँच धुँधले पड़ गये थे और उनके पार जो भी कुछ दिखाई देता था सब फ़ुहार भींगा····

सन्ध्या : ७ बजे

आज कहीं भी घूमने जानेका मन नहीं करता····'साँझ घिरते ही न जाने छा गई कैसी उदासी'····सागरके पार अरुणिम सुनहले आकाशपर किसीने बैंगनी रंगके दो-तीन ब्रश-स्ट्रोक लगा दिये हैं और जैसे काँचके गिलास-भरे पानीमें घुलते स्याहीके धब्बेकी तरह वह बैंगनी रंग गाढ़ा-गाढ़ा चारों तरफ़ फैलता चला जा रहा है। पेड़ोंकी लम्बी-लम्बी छायाएँ इस सिरे तक आ गई हैं :

छाया मत छूना मन····होगा दुःख दूना, मन····

रविवारकी डायरीका अन्तिम वाक्य आँखोंके आगे कौंध गया—'और मुझे लगा मेरे दिलकी इतनी देरकी बेचैनी, व्याकुलता, उद्वेलन और उद्वेग उदयको सारा क़िस्सा बताकर एकदम शान्त होगये····जैसे यह बोझ था जो उन्हें सौंपना था।'

इस समय उस वाक्यको यों सुधार देनेको मन करता है—'एक बेचैनी थी, मनमें कुलबुलाती व्याकुलता थी, एक ऐसी सालती व्यथा थी कि जिसे मैंने उदयको सौंप दिया और निश्चिन्त हो गई।'—जाने क्यों, हर समय लगता रहता है कि मैं जो कुछ भी नया पा रही हूँ, वह मेरा नहीं है। उसे उदयको सौंपना है, उदयको देना ही है····। वह मेरा है ही नहीं जो उसे रखूँ। वह तो थातीकी तरह मेरे पास रक्खा है। उसे मैं अकेली नहीं रख सकती, भीतर दबा नहीं पाती। कोई एक चाहिए जिससे अपना अन्तर बाँटा जा सके····लो; मेरे दर्दको लो।

अपने ऊपरसे आत्म-विश्वास ही जैसे हट गया है। इस मजबूरीपर कभी-कभी झुँझलाहट भी होती है। जब बोलती भी हूँ तो कभी ऐसा लगता है, मानो वे तन्मय होकर सुने जा रहे हैं····लीन और चुप। कभी ऐसा लगता है जैसे उनके होठोंके कोनेपर एक हल्के व्यंग्य और परिहासकी धूप-छाँही मुसकराहट झाँक रही है। मैं जैसे अपने-आपसे उठकर उनकी

आँखोंमें जा बैठती हूँ···और वहाँसे अपनेको उनकी निगाहोंसे देखने लगती हूँ। उनकी निगाहोंसे लगता है : देखो, मैं कैसी बेवक़ूफ़ और बुद्धूकी तरह लग रही हूँ। मानो मेरा अपना कोई अंश था जो धोखा देकर दूसरेके साथ जा मिला हो, और उनके साथ मेरे विरुद्ध समझौता कर बैठा हो। विश्वास-घात किये गये जयद्रथकी तरह मैं निरीह, निरस्त्र युद्ध-क्षेत्रमें खड़ी होकर समझ नहीं पाती कि यह सहसा हो क्या गया, अब मैं क्या करूँ?

अब तो ऐसा लगता है जैसे मैंने अपना जीवन जीना ही छोड़ दिया है। मेरे साथ, या मेरे आस-पास कोई भी बात होती है, मुझे कोई कुछ बताता है तो ऐसा नहीं लगता जैसे वह सब मेरे साथ ही हो रहा है, मैं खुद कर या सुन रही हूँ, या उस कार्यका एक अंग हूँ। ऐसे अवसरों-पर निहायत तटस्थ होकर मन ही मन उन शब्दोंकी तलाश करती हूँ जिनमें इस अपने साथ हो रहेको उदयको सुना दूँगी और निश्चिन्त मुक्त हो जाऊँगी।····प्रिंसेस मेरे आगे रो रही थी और उस स्थितिको स्वयं आत्म-सात् करनेकी बजाय मैं सोच रही थी कि किन शब्दोंमें मैं इस स्थितिका वर्णन करूँगी कि सारी करुणा सारी इण्टैन्सिटीके साथ यह चित्र ऐसे ही सशक्त और प्रभावशाली रूपमें साकार हो उठे····।

जैसे मैं अपनी स्वतन्त्र-सत्ता न रहकर केवल स्थितियों और अनु-भूतियोंको उदय तक पहुँचानेका माध्यम-सेतु भर रह गई हूँ···एक तारका खम्भा जिसके माथेसे होकर 'बातें' आती-जाती हैं, और वह स्वयं तो उन तारों और सूत्रोंको पकड़े खड़े रहनेका 'निमित्त'-भर है···हाय, यह मुझे हो क्या गया है—?

याद आता है : पहले कितनी दुनिया भरकी बातें मैं सोचा करती थी, मज़ाक किया करती थी···रेखाकी बात, तेजकी बात, कॉलेजकी बात। प्रोफेसरों और सम्पादकजीकी बात····और एक दिन पाती हूँ कि मैं तो उदय और अपर्णाके बीचमें टकरानेवाली 'शटल' भर रह गई हूँ···।

मेरा अपना जीवन इन दो बिन्दुओंपर आकर ही समाप्त हो जाता है। और आज मुझे लगता है कि राजकुमारी अपर्णा, पूर्ण-विरामका बिन्दु नहीं है—एक डैश जैसा खिंचता चला जाता बिन्दु है जो वाक्यके अर्थको उदयके पूर्ण-विराम तक ले जाता है। अभी-अभी पढ़ी दुष्यन्त कुमारकी एक कविता बार-बार मनमें उभर आती है :

जो कुछ भी दिया, अनश्वर दिया मुझे
नीचेसे ऊपर तक भर दिया मुझे,
ये स्वर सकुचाते हैं, लेकिन तुमने—
अपने तक ही सीमित कर दिया मुझे !

....तो क्या सच ही मैं एक ऐसी नदी भर गई हूँ जिसे रास्तेकी सारी नदियोंको पीकर अपनेको सागरको सौंप देना है....? अपनी श्रान्त-क्लान्त यात्राको किसी एक विराट्के चरणोंमें शेष कर देना है ? सागर, सुनो सागर, मैं बहुत थक गई हूँ....बहुत टूट गई हूँ। मुझे विराम दो....। इन विधि-निषेधके किनारोंने मुझे पीस डाला है, मेरी हर तरंगको, लहर-लहरको कुचला है, इन्होंने। मेरी रग-रगमें दावानलके स्फुलिंग दिये हैं....। अब मुझे मुक्ति दो....मुझे अपना 'मैं' नहीं चाहिए....'आई' 'एम' ओनली ह्वेन आई एम विद् हिम'....इसे ले लो और मुझे नीले आसमानके नीचे अपने आ-क्षितिज तरंगायित गम्भीर वक्षका फेनोच्छ्वसित करुण विस्फार दो....विस्तार दो....।

बड़ी अजब-सी मनकी हालत है। उस क्षण बसमें बैठे-बैठे काँचोंके पारसे जैसा कुछ धुँधला-धुँधला दीखता था, मानो सारी बाहरी दुनिया मुझे वैसी ही दिखाई देने लगी है....धुँधली-धुँधली....जैसे आउट-आफ़ फ़ोकस चित्रोंकी फ़िल्म हो....ब्लर्ड, फ़ौगी और हेज़ी। और ज़्यादा ग़ौरसे शीशोंमें देखिए तो अपना ही चेहरा दीखने लगे....। ध्यान रहता है कि यह अपनी ही परछाई है जो आर-पार देखनेमें बाधक है....। लेकिन उसको भेदकर देखा भी तो नहीं जा सकता....। कैसे इस परछाईंको समेट लूँ कि

आर-पारकी सारी चीज़ें मुझे दीखने लगें····उसे देखती हुई मैं खुद-बखुद मुसकरा पड़ती हूँ····।

एक बड़ा गर्वित-सन्तोष है कि कितना विराट् एक रहस्य है (क्या है वह ?) जिसे मैं अपनेमें छिपाये हूँ। ये बाहरवाले, ये घरवाले, जो मुझसे बातें करते हैं, मुझे देखते हैं, इन्हें क्या पता कि कितना कुछ असीम है जिसे मैं अपनी सीमित छातीमें छिपाये हूँ····? देखो, इनमेंसे कोई भी तो नहीं जानता कि सोते-जागते में क्या महसूस करती हूँ····? क्या है; जो मेरे भीतर निरन्तर चलता रहता है; सामने फैले सागर-सा निरन्तर खुलता चला गया है····जिसपर बादल झुक-झुक आते हैं····किरणें जिसकी लहर-लहरको चूमती हैं····जिसकी हर तरंगमें चाँदकी मछलियाँ चित-पट होती हैं····और चीलोंके धब्बे थिरकते रहते हैं !

चोरीका माल लेकर अनजान टेढ़ी-मेढ़ी गलियोंमें भागता हुआ चोर अचानक अपने आपको खुले मैदानमें पाता है····कहाँ खुद छिपे और कहाँ मालको छिपाये····? मुझे हमेशा लगता है कुछ मेरे पास है जो 'चोरी' का है। दूसरोंकी आँखोंसे उसे बचाकर रखना है····लेकिन जैसी सभीकी भूखी निगाहें उसीपर तो लगी हैं····।

ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ था। शायद····तेजके समय भी नहीं। कहाँ सुना था कि हर प्यार एक नया प्रारम्भ होता है। वह कभी भी अपनेको दुहराता नहीं है, और हर नये प्रारम्भकी अनुभूतियाँ, अछूते और कुँआरे प्यारकी अनुभूतियाँ होती हैं।

लेकिन रिमझिम बरसती फुहारकी तरह इसे तो मैं जाने कबसे मनके भीतर अनुभव करती रही हूँ····(फुहारमें भीगना बड़ा अच्छा लगता है न····।)

एक नितान्त अपरिचित और चिर-परिचित-सी आकुलता है जो चेतनाके कई स्तरोंपर एक साथ चलती रहती है····। मन होता है कि इतना

हँसूँ, इतना खिलखिलाऊँ कि आँखोंसे आँसू निकल आयें, और मैं रो पड़ूँ····। ऐसी रोऊँ, ऐसी चीखूँ कि सारा आकुल रुदन एक उन्मुक्त हास्यमें बदल जाये।····

कोई भी तो नहीं जानता मैं कितने बड़े ख़ज़ानेकी मालकिन बनी बैठी हूँ। मेरे सोचनेके ढंगमें अजस्र-अजस्र विरोधाभास भर गये हैं। किसीपर बुरी तरह झुँझला उठने और प्यारसे दुलारनेको साथ-साथ मन करता रहता है····। कभी सोचा था कि मैं भी एक दिन सचमुच यही सब अनुभव करने लगूँगी····? मुझे अपनी हर अनुभूति, हर समवेदना ऐसी अपरिचित, ऐसी बेगानी लगती है, इतनी नई, कि लगता है मैं पहली बार ही इस सबको जान रही हूँ····और हर-बार अपना यह 'जानना' मुझे चौंका देता है कि 'अरे, यह ज़रा-सी बात ऐसी नई, ऐसी रिफ्रैशिंग थी यह तो मुझे पता ही नहीं था।' तभी कोई कहता है कि इसमें ऐसा नया क्या है? जाने कितनी बार ये बातें कही गई हैं; जाने कितनोंने इन्हें सुना है; और जाने कितनोंने इस मानसिक-द्वन्द्वको जिया है····? सभी कुछ तो पुराना है। शायद औरोंने इसे नाम दे दिया था 'प्यार' और मैं कोई नाम नहीं दे रही। हिश्, प्यार-व्यार यह कुछ भी नहीं है। नये परिचय और उसकी नई परिस्थितियोंमें अपनेको सन्तुलित न कर पानेकी घबराहट है यह। यह प्यार-व्यार कुछ भी नहीं है···प्यारी है यह तो!)—अच्छा तो भी, पहले लोग जब 'प्यार' करते होंगे तो क्या-क्या सोचा करते होंगे? कैसी-कैसी बातें उनके दिमाग़में आया करती होंगी? ऐसा कोई यन्त्र नहीं बनाया जा सकता कि जो कुछ भी मनमें आये वह सब टेलिविज़नकी तरह एक पर्देपर दिखाई देता चले? अच्छा मान लो, कि ये सारी कविताएँ, कहानियाँ जो उनके हृदयोंका चित्रण करती हैं, वही उनकी मानसिक स्थितियोंका चित्र हैं। फिर उन्हें पढ़ते हुए ऐसा क्यों लगता है कि कुछ बेहद लचीला—कुछ पारेकी बूँदकी तरह पकड़में न आनेवाला निहायत ही चंचल है जो

उन सबमें नहीं है, जिस तक पहुँचते-पहुँचते वे लोग रह गये हैं····और उस छूटे हुएको बस मैं ही महसूस कर पाती हूँ····?

अपनेपर हँसी भी आती है। कैसी बेवक़ूफ़ीकी बातोंको मैं कितनी गम्भीरता-पूर्वक ले रही हूँ····किये जा रही हूँ····। मानो इन्हें ठीक इसी रूपमें करना भी ज़िन्दगीकी एक बहुत बड़ी माँग थी। अच्छा, क्यों जी, मैं जो रात-दिन एक ही बातको लेकर परेशान रहती हूँ, हमेशा सोते-जागते उसीमें उलझी अटकी रहती हूँ····उनके दिमाग़में भी तो अक्सर कुछ न कुछ आता ही होगा····? डायरी लिखते हैं?—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। एकाध घण्टे तो सोचते ही होंगे। जैसे इसी समयकी बात लो : इस वक़्त मैं डायरी लिख रही हूँ और मुझे एक ऐसा आभास होता है, जैसे बग़लमें पलंगपर कोई लेटा है और बार-बार आँखोंके आगे हाथ-की आड़ करके निंदियाये स्वरमें कह रहा है : "भई, बहुत होगया। अब इस टेबिल-लैम्पको बन्द करदो। हमें नींद आ रही है····" हमें नींद आ रही है····! कितना मेरा अपना है यह वाक्य····कोई हाथ खींच-खींचकर उठाये आ रहा है और नकियाये ठुनकते-से स्वरमें मैं विरोध कर रही हूँ····'अमें नींद आंरही है····'

लो, बाहर रेखाकी आवाज़ सुनाई दे रही है। बन्द करके रखती हूँ, वर्ना पीछे पड़ जायेगी कि दिखा। अब उसके साथ समुद्र पार जाना होगा····। मेरा मन नहीं है।

रात : ११–४३

कितना लिखूँ····? हर क्षण लगता है कि अब जितना मनमें जमा हो गया है उसे ज्योंका त्यों लिख डालना चाहिए।····लेटी तो नींदका दूर-दूर तक पता नहीं था। सोचा, लिखा ही जाय····।

नौ-साढ़े नौका समय था। रेखाके साथ-साथ बातें करती चली आ रही थी कि एक बड़ी पुरानी बात याद हो आई....

भरपूर चाँदनी खिली थी और सुनसान सड़क। इसी तरह तो देर होगई थी रातको....। शायद सेकिण्ड-शो देखकर लौटी थी। मीराके साथ गई थी। उसकी भाभी थी, भाई थे और छोटी बहन थी। एक चौराहेके पार ही तो हमारा घर था....। दोनों ओर अमलतास और मौलश्रीके पेड़ोंकी चितकबरी छाँह, सोई सड़कपर चाँदनीसे आँख-मिचौनी खेल रही थी....जैसे किसीने छाया-प्रकाशका स्प्रे-वर्क कर दिया हो....और बीचो-बीच खिंची थीं तारकोलकी सड़कपर बिजलीके तारोंकी परछाइयाँ....या कहूँ, परछाइयोंकी समानान्तर रेखाएँ। चाँदको देख-देखकर मुसकराते फूलोंके आस-पास लॉनोंकी घासें भींग-भींग उठी थीं....।

गमकती मेंहदीवाली हवाओंपर—समानान्तर रेखाओंके बीचमें चलते-चलते हँसी आगई थी मुझे....। आज कितने निःस्पृह-भावसे चली जा रही हूँ....शायद किन्हीं एकान्त क्षणोंमें यही सब एक उजली याद बनकर आत्मापर मँडराया करेगा....(मनके 'अपने क्षणों' को क्यों हम वर्तमानकी नहीं, भूत और भविष्यको सौंपे रखते हैं....?) बन्द खिड़कियोंके रोशनी जड़े काँचोंके पारसे एक गीत पिछले फर्लाङ्ग-भरसे साथ-साथ चला आ रहा था "कि तुम साहिल पै होते....और करती डूबती अपनी....'' एक बँगलेकी बाउण्ड्री इसे दूसरेको सौंप देती। कहीं बहुत भीतर, दूर सोनेके कमरोंसे, और कभी बिलकुल सामनेकी बैठकों और ड्रॉइंगरूमोंसे गीत हिलोरे लेता लगता, और छतोंपर खड़े, होठोंपर उँगली रखकर चुप-चुप-करते-से एरियल-पोल स्तब्ध सुनते....सभी घरोंमें एक ही गीत लगा है क्या....? "बुझानी है, तेरे दामनसे, शमए ज़िन्दगी अपनी'' काश, इस सुनसान यात्रामें मन-मनमें उमड़ते किसी एक गीतकी कड़ीकी उँगली पकड़कर मैं भी इन समानान्तर रेखाओंकी तरह उसे अपने साथ-साथ खींचे ले चलती....। गीतकी कड़ी मेरे साथ-साथ चलती

जाती····चलती जाती····। काश, मैं खुद एक गीतकी तरह चाँदनीमें गुम-सुम खड़े क़दम-क़दमपर मिलनेवाले खम्भोंके कानोंमें गुनगुनाहट बनकर उतर सकती····गुदगुदा सकती।

कितनी ताज़ी याद थी वह। आज भी चलते-चलते मैं उसी क्षणमें लौट गई। हमलोग गैसके एक खम्भेसे गुज़रते तो ठीक नीचे हमारी परछाइयाँ बौनी होकर पैरोंमें खो जातीं। आगे चलते तो परछाइयाँ पीछे खिंचती चली जातीं लम्बी होती····होती····। फिर फैलकर अथाह अँधेरेका ही एक अंग लगतीं····। लेकिन परछाईं अपनी थी इसलिए उसे खोजकर भी अँधेरेसे अलग कर लेती····तबतक अगले खम्भेकी रोशनी आ जाती और हमारी परछाइयाँ टूटकर दो हो जातीं। दोनों परछाइयाँ साथ-साथ मेरे बग़लमें चलती रहतीं और फिर नये खम्भेके नीचे एक हो जातीं। तब लगा कोई गहरा सत्य है जो पकड़में आते-आते छूटा जा रहा है···· उँगलियोंसे फिसला जा रहा है····। लेकिन है वह सत्य बहुत बड़ा····और तबसे वह मनकी अँधेरी कोठरियोंमें पड़ा सोया रहा है····।

अब लगता है उस सत्यको मैंने पा लिया है। उम्रकी यह यात्रा भी तो रोशनीके खम्भों और परछाइयोंसे उलझनेकी यात्रा रही है····। पहले एक खिंचती और खींचती परछाईं थी····उसे देखते-देखते मुझे ऐसा लगने लगा था जैसे मैं भी खुद एक परछाईं ही हूँ····। और फिर मैंने पाया कि मैं आपसमें लड़ती अनेक परछाइयोंका समूह-मात्र हूँ—वही रह गई हूँ····। और मेरे साथ फिर केवल एक परछाईं रह गई। आज वह परछाईं भी मेरे पैरोंके पास आकर खो गई है····क्योंकि मैं ठीक रोशनीके नीचे आ गई हूँ। कितने झूठे और नक़ली लगते हैं आज तो वे परछाइयोंपर रोनेवाले गीत····जिनमें लोग परछाईं न होनेपर रोते हैं···· परछाइयोंसे बातें करके रोते हैं····परछाइयोंसे····?—वे रोशनीसे दूर अँधेरे कोनों-अतरोंमें छिपी····भटकती परछाइयाँ····

छाया मत छूना, मन····होगा दुःख दूना, मन····

शुक्र : १६ जुलाई

हरियालीके मोटे-मोटे क़ालीनोंसे लदी गहरी, और गहरी चली जाती घाटियाँ, मोरछल हिलाते चीड़, देवदारु और चैस्ट-नटके पेड़....नीचेकी ओर परत-परत चौड़ा फैलता जाता पहाड़ी सलवटोंका विस्तार; रुपहला-रुपहला चमकता क्षितिज और ढलवानोंपर अमरबेलकी तरह छल्लेदार झूलती सड़कें; चाँदीके तारोंसे बनी नदियोंकी लाइनें और मगरकी खालकी तरह परतोंवाले खेत.... नीचे घाटीमें बहते किसी झरनेसे गूँजता सारा वातावरण....सुबहका खुलता प्रकाश—नाज़ुक और पीला। घाटीमें बाहरकी ओर निकलता हुआ एक कमरा। कमरेकी तीन तरफ़की दीवारें काँचकी खिड़कियोंसे बनी हैं। पीछेके दरवाज़ेपर गहरा चॉकलेटी रंगका भारी-सा पर्दा झूल रहा है। सामनेकी ओर निकली हुई खिड़कीके सहारे आराम-कुर्सी डालकर बैठी-बैठी मैं कुछ बुन रही हूँ। बग़लमें ऊनका झोला है। एक ओर मेज़पर पी हुई कॉफ़ीके ख़ाली बर्तन रक्खे हैं। सुबहका समय है और जाड़ा बहुत ज़ोरसे पड़ रहा है। मैंने चैस्टर पहनकर ऊपरसे एक भारी-सा शॉल भी सामनेकी ओर डाल रक्खा है। दोनों हाथोंमें सलाइयाँ हैं, वर्ना मन होता है कि हाथोंको भी भीतर ही कर लूँ। साँस भाप बनकर निकलती है। काँचोंपर कुहासेका धुन्ध बूँद-बूँद बनकर सील रहा है और घाटीके पार वाली ऊँची-ऊँची चोटियोंसे, जिनके पीछे प्रकाशका आलोक-मण्डल उभर रहा है, इस तरह धुँआ निकलता दिखाई दे रहा है जैसे वे ज्वाला-मुखियोंकी चोटियाँ हैं। मैं फटता और घुलता हुआ कोहरा देखती हूँ। चरवाहेकी तरह कौन अपनी भेड़ोंके झुण्ड जैसे कोहरेको धीरे-धीरे घेरे लिये चला जा रहा है? सामनेके पेड़की निकली हुई टहनीपर ओसकी बूँदोंके मोटी पीले-पीले प्रकाशमें सतरंगी होने लगे हैं। मकड़ीके जालेका एक तार नीचे जाने कहाँ तक गया है। सुनहला प्रकाश, हल्का नीला कोहरा, और हरियाली-

से ढँका वातावरण···सब कुछ, कितना रहस्यमय, व्यथाकुल, बोझिल-सा लगता है। एक आभास है कि उदय कहीं गये हैं, अभी तक लौटे नहीं हैं। शायद सुबह ही सुबह कुत्तेको घुमाने ले जाते हैं। कितनी बार कहा कि ज़रा रुककर ही जाया करो; लेकिन नहीं, जायेंगे 'ब्राह्मबेला' में ही। कुत्ता तो रखना ही पड़ता है; वर्ना यहाँके सुनसान एकान्तमें किसपर भरोसा किया जा सकता है ? फिर भी, बहुत देर हो गई है। अब तो आ जाना चाहिए था। मैं अँगड़ाई लेकर उठ-बैठती हूँ, इस तरह बदन तोड़नेसे ही शायद आलस्य और ठण्ढ कुछ कम हो····। फ्रेंच स्टाइलकी खिड़की है। उसे सामनेकी ओर सरकाकर मैं कुहनी टेककर खड़ी हो जाती हूँ। नीचेके मोड़पर एक गाँव है। सन्ध्याको हमलोग वहाँ तक घूमने जाते हैं। वहीं कोनेपर ही एक लालाकी दूकान है। बिस्कुटके डिब्बे, चाय और अन्य ज़रूरतकी चीज़ें वहींसे ले आते हैं। थोड़ी देरमें ही गाँव साफ़ दीखने लगेगा····। कितना सुन्दर दिखाई देता है, जैसे सब कुछ सचमुचका न होकर नकली हो। जैसे मैं हवाकी तरह हल्की होकर उछलती-कूदती उतरती हुई गाँवके पास पहुँच जाऊँगी, और मुझे क़तई चोट नहीं लगेगी। जो इतना सुन्दर है देखनेमें, उसपर फिसलते-लुढ़कते जानेमें चोट थोड़े ही लगती है ! इतना कठोर वह हो ही नहीं सकता।

मैं सोचती हूँ—ये बादल सभीने देखे हैं; ये सागर हरेकके मनकी मरोड़ोंको स्वर देता रहा है; चीड़, देवदारु, चेस्वनट और दूर दीखते खजूर नारियल जैसे पेड़ हरेकके हृदयमें उठती फुरहरियोंके साक्षी रहे हैं; लेकिन कोई 'अपना'-पन है, कोई व्यक्तिगत स्पर्श है, किसी अपने व्यक्तिका आसंग (एसोसियेशन) है जो हर चीज़को एक नई भावाकुल स्फुरणा देता है। यों खिड़कीसे लगे खड़े होकर, गालोंपर कुहरेकी शीतलता और किरणोंका दुलार समेटते हुए (चाहे नाक ठण्डी हो जाये।) हरियाली लदे पहाड़ोंपर रुपहले तारोंसे कढ़ी रेखाओं जैसी नदियोंको देख-देख उभरनेवाला यह निर्वाक् उच्छ्वास, और गद्गद पुलक किसीको

साकार या निराकार, अर्थात् स्मृतियोंमें उपस्थित पाकर ही तो होती है····। इस सबको कण्ठ तक डूबकर आँखोंमें भर लो····किसीको बताना है···। किसीके साथ रातके एकान्तमें लेटे-लेटे, उसकी छातीके रोओंपर हौले-हौले हाथ फेरते हुए, पसलियोंपर अपनी कनपटियाँ टिकाये, स्वप्नाविष्ट अवस्थामें यह सब सुनाना भी तो होगा न···; होठों ही होठोंमें गुनगुनाना होगा; क्यों कि किसीका हाथ अपनी ऊपरवाली कनपटीपर रक्खा, कानके पासकी लटोंको बिखेर और सँवार रहा होगा। रोमांच और सिहरनकी बिजलियाँ नस-नसमें उतार रहा होगा····। और बाहर चुप-चुप बर्फ़के गाले डैने फैलाये उतर रहे होंगे···। खिड़कियोंके काँचोंपर बर्फ़ीली फुई लग गई होगी और छज्जोंपर बर्फ़की उँगलियाँ उभर आई होंगी और उनसे बूँद-बूँद पानी टपक रहा होगा; टप्-टप्-टप्···। चीड़के पेड़ जापानी पंखे हिला-हिलाकर झूम-झूमकर सीटियाँ बजा रहे होंगे और हवा खिड़कियोंसे यों टकरा-रही होगी जैसे हमारा बँगला रातके एकान्तमें ज्वारकी लहरोंमें झकोले खाता जहाज़ हो···

पार्श्व गिरिका नम्र, चीड़ोंमें डगर चढ़ती उमंगों-सी,
बिछी पैरोंमें नदी, ज्यों दर्दकी रेखा,
विहग-शिशु मौन नीड़ोंमें;
मैंने आँख भर देखा····
दिया मनको दिलासा : पुनः आऊँगा
भले ही बरस दिन, अनगिन युगोंके बाद
क्षितिजने पलक-सी खोली,
तमककर दामिनी बोली
"अरे यायावर, रहेगा याद !"[1]

---

1 (अज्ञेय)।

देखते-देखते मुझे लगा; भूरे-भूरे रोओंवाला घना नील - कुहासा सिमटकर दूर दीखती हरियाली चोटियोंसे निकलते धुएँकी लहराती कुण्डलियों-सा रह गया है और जैसे घाटीके तलमें कोई बहुत गहरी नदी है। धूपमें सहसा चौंककर चकमकाने लगी है। पानीमें कोई बड़ा भारी मकड़े जैसा बहता चला जा रहा है। मैं ग़ौरसे देखती हूँ कि अरे, यह तो वही पार करानेवाली मशक वाला है···। लगता है, यहीं कहीं राजकुमारी अपर्णा-की सुसरालके महल दिखाई देने लगेंगे···कुहरेमें ढँके हैं।

टन्···टन्···टन्····अरे, तीन बज गये।····'मौतका एक दिन मुअ़इयन है, नींद क्यों रातभर नहीं आती ?'

शनिवार : २० जुलाई

एक बड़ा प्यारा-सा ख़त आया था। तेजका ही था। मिला उस समय जब मैं कई लड़कियोंके बीचमें बैठी थी। दो पोस्टकार्ड और भी थे। लड़कियाँ रिश्तेमें हमारी बहनें ही थीं। दूसरे मुहल्लेसे मिलने आई थीं। मन हो रहा था कि दौड़कर जाऊँ और भड़ाक्से किवाड़ बन्द करके सबसे पहले उस पत्रको ही पढ़ लूँ। देखूँ क्या लिखा है ? लेकिन लड़कियोंके सामने इतनी उतावली दिखानी नहीं थी। निहायत ही अचंचल और धीर हाथोंसे ख़त लिये। लिफ़ाफ़ा देखकर दूरसे ही समझ गई थी कि वही होगा। फिर भी उन्हें इस तरह लापरवाहीसे किताबके भीतर रख दिया जैसे इस तरहके ख़त तो रोज़ ही आते हैं, यह तो एक साधारण डाक है। लेकिन मन ऐसा मचल रहा था इन सबको धक्का दे दूँ और बाहर निकालकर; शान्तिसे बैठकर उस पत्रको पढ़ूँ। और फिर बातें करते-करते मन इस तरह वहीं अटका रहा कि कुछ भी सुनाई नहीं देता था, और बार-बार बात कहते-कहते भूल जाती थी 'हाँ, क्या कह रही थी मैं ?' कहकर याद करना पड़ता था। उन पोस्टकार्डोंको भी

तो इसीलिए नहीं पढ़ा था कि कहीं ये कम्बख्त लिफ़ाफ़ेमें दिलचस्पी न दिखाने लगें; लेकिन मन था कि बार-बार इधर ही चला जाता था। बड़ी मचलन होती थी कि सारी शिष्टता और औपचारिकता एक ही वाक्यमें समाप्त कर डालूँ···। यह बहुत दिनों पहलेकी बात है और मुझे अच्छी तरह याद है कि अकेलेमें भी मैंने उस लिफ़ाफ़ेको ही सबसे बादमें पढ़ा था। पता नहीं, कैसी एक आतुरता और उतावलापन था कि हाथोंमें फड़क-फड़ककर रह जाता था; लेकिन नदीदे बच्चेकी तरह उस मिठाईको मैंने सबसे बादके लिए रख लिया था। जितनी जल्दी पढ़ूँगी, उस प्रसन्नता और उसे प्राप्त करनेकी व्याकुल प्रतीक्षाको उतना ही जल्दी गँवा दूँगी···उसे थोड़ा-थोड़ा करके पाना चाहती थी, देर तक पाना चाहती थी।

जाने क्यों आज-कल मुझे पुरानी बातें····बचपनकी बातें, ऐसी-ऐसी बातें जिन्हें मैं जाने कबका भूल चुकी हूँ, और जिनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया है, अब बहुत ही साफ़-साफ़ याद आने लगती हैं और देर तक मैं उन्हींमें डूबी रहती हूँ,।

ठीक वैसी मचलन लगती रहती है अब हर समय मनमें, कि उदयसे मिलना है, उदयसे यह कहना है····देखें, उदयपर इस बातकी क्या प्रतिक्रिया होगी, क्या असर होगा···? उदय इस बातका क्या जवाब देंगे···? उदयके यहाँ जाना है। फिर झुँझलाहट होती है कि यह क्या मुसीबत है आखिर, न उठनेके रहे न बैठने-सोनेके और बोलने—बात करनेका उत्साह, सभीको जाने क्या हो गया है····? पढ़नेमें मन नहीं लगता। क्या होगा पढ़कर? खिड़कीसे बाहर देखने लगती हूँ—पेन खोलकर लिखने बैठती हूँ तो अपने आप भीतरसे मुसकराहट उमड़ने लगती है। क्या खाक लिखे ऐसेमें आदमी? चित्त होकर लेटी-लेटी छतको ताकते-ताकते पता नहीं, कहाँ जा पहुँचती हूँ····। फिर चौंककर जागती हूँ। तब मन

होता है कि दाँत भींचकर तीन बार सिर दीवारसे दे मारा जाय कि होश ठिकाने आजायँ खट····खट्····खट्।

कीर्ति चौधरीकी एक कविता थी—

रहता तो सब कुछ वही है,
ये पर्दे····यह खिड़की····ये गमले
बदलता तो किंचित् नहीं है
लेकिन क्या होता है
कभी-कभी
फूलोंमें रंग उभर आते हैं
मेज़पोश, कुशनोंपर कढ़े हुए
चित्र सभी बरबस मुस्कराते हैं
दीवारें, जैसे अब बोलेंगी
आस-पास बिखरी किताबें सब
शब्द : शब्द
भेद सभी खोलेंगी
अनजाने होठोंपर गीत आ जाता है
सुख क्या यही है?
बदलता तो किंचित् नहीं है
ये पर्दे····यह खिड़की····ये गमले···

हाथ देखकर एक बार तेजने बताया था—'तेरी हैड लाइन बहुत अधिक ल्यूनाकी तरफ़ झुकी है। जानती है इसका क्या अर्थ होता है? या तो दार्शनिक हो जायेगी या पागल।'

मैं क्या हुई जा रही हूँ?

अपने आप ही हथेली फैलाकर देखने लगी—सनलाइन तो बहुत

बड़ी है। लेकिन हैड लाइन सचमुच झुकी हुई है''''पागल ही हो रही हूँ क्या ?

सुनते हैं आप किसीके बारेमें कुछ सोचते रहें, तो संसारके किसी भी हिस्सेमें हो, उसके हृदयमें भी आभास होने लगेगा कि कोई उसे याद कर रहा है। किसी विचित्र रहस्य-मय शक्तिसे वह भी आपके ही बारेमें सोचने लगता है''''शायद मैण्टल-टेलीपेथी कहते हैं इसे''''। वे भी इस समय मेरे ही बारेमें सोच रहे होंगे''''? हिचकियाँ आती हैं तो कहते हैं कि 'कोई याद कर रहा होगा''''''... उदयको भी हिचकी आ रही होगी'''? कैसे उड़कर वहाँ पहुँचा जा सकता है ? ऐसा कोई मंत्र नहीं है, आदमी जब चाहे चिड़िया बन जाये'''उनकी खिड़कीमें बैठा-बैठा देखा करे : क्या कर रहे हैं, क्या सोच रहे हैं ? मन ही मन उस समय हँसी भी आती रहे, कि देखो, कोई नहीं जानता जिसके बारेमें सोच रहे हैं वह तो चिड़िया बनी खिड़कीमें बैठी है'''।

रविवार : २१ जुलाई (मध्याह्न)

अभी-अभी हाँफती चली आ रही हूँ। समझमें नहीं आता कि आज-की घटनाका वर्णन किन शब्दोंमें करूँ ? अंग्रेज़ी शब्द लूँ तो कितनी 'शॉकिंग' यह घटना है, कितनी अप्रत्याशित ! मैं समझ नहीं पा रही हूँ। एक तीखे अपमानकी अनुभूति जैसे चेतनाके परतपर-परत बेधती चली जा रही है, और मैं भीतर ही भीतर तिलमिला उठती हूँ। इसकी तो मुझे उम्मीद ही नहीं थी। रास्ते-भर दिमाग़ लकवेका मारा जैसा सुन्न रहा और जब अब न रोना आ रहा है और न कुछ सोच ही पा रही हूँ तो बैठकर लिखने लगी हूँ।

जा रही थी अपने एक उधरके सम्बन्धीके यहाँ कालका देवी। कुछ शादी-ब्याह है। अक्का तो सुबह ही पहुँच गई थीं। मैं ग्यारहके क़रीब

निकली। सोचा, ज़रा भीड़-भाड़ कम हो जाये तो निकलूँ। यह ध्यान ही नहीं रहा कि आज तो रविवार है, पीक-ऑवर्सका प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रॉडवेके सामनेसे गुज़रते हुए जाने क्या मनमें आया कि टिकट मरोड़ती हुई उतर गई बससे। ब्याह-शादीका वक्त है। छुट्टी शाम तक होगी। क्या करूँगी अभीसे जाकर? तब तक देख ही लें अपने लेखक साहब क्या कर रहे हैं? वैसे एक उलझन मुझे होती थी कि कहीं मैं उनका बहुत-सा वक्त तो बरबाद नहीं कर रही? बेचारे आर्थिक रूपसे वैसे ही संघर्ष कर रहे हैं। दिन-भर लिखते रहते होंगे। एक बार इच्छा हुई अब कौन यहाँ उतरे? लेकिन सोचा फिर, ज़रा-सी देरमें ही क्या हुआ जाता है? और अब हम लोगोंमें इतनी मित्रता तो है ही कि ज़रूरत होगी तो वे क्षमा माँग लेंगे। मैं खुद ही पूछ लूँगी कि वक्त तो बरबाद नहीं हो रहा? मान लो आर्थिक आवश्यकता ही पड़ जाये। इतना नहीं कर सकती मैं?

और मैं उतर आई। देखा, तो नीचे ही बहादुर साहब खड़े हैं। उछलते-कूदते वे सीढ़ियाँ उतरे ही थे कि मुझे देखकर रुक गये। हाथमें उसके कुछ टिकट लगे लिफ़ाफ़े थे। शायद डालने जा रहा था। मैंने पूछा : "हैं क्या ऊपर···?"

बहादुर मुझे देखते ही जाने कैसी रहस्यमय और व्यंग्यात्मक मुस-कराहट मुँहपर ले आता था। मानो बताना चाहता हो कि उसे भी कुछ पता है। मेरे और उनके सम्बन्धोंके बारेमें वह अनभिज्ञ नहीं है। बोला : "सेठ तो सुबह सात किलाकसे ही गयेला है।"

"अच्छा···।" निराशा और अनखाहटसे मैं कुछ बोलने ही वाली थी कि उसके हाथके एक लिफ़ाफ़ेपर दिखाई दिया—'प्रिंसेस अपर्णा···'

हैं ऽऽ! मैं एकदम चौंक गई। मैंने हाथ बढ़ाकर कहा—"ये चिट्ठियाँ डालने जा रहा है क्या? देखूँ तो?"

वह एक क्षणको पसोपेशमें पड़ गया, दे या न दे। फिर मेरे चेहरेपर जाने क्या देखकर ख़त उसने दे दिये। बाक़ी मैंने एक भी पत्र

न देखकर उसे ही निकाला। हाँ, साफ़ ही तो लिखा था : 'प्रिंसेस अपर्णा, चौथा माला, वीचि-विलास, मैरीन ड्राइव, बम्बई—' विश्वास नहीं हुआ। मेरे हाथ काँपने लगे···हज़ारों बातें एक साथ दिमाग़में उछल-कूद मचाने लगीं। लिफ़ाफ़ा बता रहा कि पत्र छोटा नहीं है···भारी है। सचमुच यह खत अपर्णाको ही जा रहा है ? जैसे मैं उस क्षण कुछ भी नहीं सोच पा रही थी। तो क्या दोनों अपर्णा एक ही हैं ?

"लाइए···" न जाने किस कुएँसे आती बहादुरकी आवाज़ने मुझे चौंकाया।

गहरी साँस लेकर मैंने कहा : "अच्छा बहादुर, जब वे ही नहीं हैं तो मैं ऊपर जाकर क्या करूँगी ? तू जाकर अपना काम-धाम देख। बस-स्टैण्डके पास ही तो बम्बा है—मैं डाल दूँगी इन खतोंको।"

वह हिचका। फिर जाने क्या सोचकर—"बरोब्बर" कहकर जाने लगा तो मैंने उसे रोककर कहा—"देख, उदयजी आयें तो कह देना कि मैं आई थी···"

"बरा···!"

फिर मैं कैसे घर आई, मुझे नहीं मालूम। सारे खत डाल दिये, लेकिन उसे पोस्टबॉक्सके मुँहमें लटकाकर फिर निकाल लिया। पर्समें रखकर घर ले आई। बड़ी देरतक अपने आपसे लड़ती रही। इसे खोलूँ या न खोलूँ ? यों किसीके अनजाने उसका पत्र पढ़ लेना कैसा अनुचित है। मैं तो अपने पत्रोंको हवा तक नहीं लगने देती। कई बार इच्छा हुई, पत्र डाल आऊँ। उदयसे ही पूछ लूँगी कि यह क्या मज़ाक़ है ? लेकिन उन्हें ही बताना होता तो इतना छिपाते क्यों ? हो सकता है कि वे पूरी बात ही न बतायें ! और जब मैं उन्हें लेकर इतना सोचती हूँ तो मुझे पूरा हक़ है कि उनके बारेमें अधिक-से-अधिक स्रोतोंसे जानूँ। आखिर मैं अपने जीवनसे यों खिलवाड़ कैसे होने दूँगी ? नहीं, इसमें कुछ भी तो अनुचित नहीं है। भीतरकी भर्त्सनाको सुनते हुए भी आखिर मुझसे नहीं रहा

गया तो ब्लाटिंग भिगाकर लिफ़ाफ़ेके गोंदवाले हिस्सेपर रखा और जब वह सील गया तो बड़ी सावधानीसे खोल लिया (कोई नई बात नहीं थी, बहुत बार कॉलेजमें करना पड़ा था)···और अब चार खचाखच-भरे सुन्दर पन्नोंवाला पत्र मेरे हाथमें था। मेरा दिल धाड़-धाड़ करके बज रहा था···जैसे मेरे कानोंमें कोई हथोड़े मार रहा हो। घरमें अकेली थी, फिर भी किवाड़ बन्द करके चोरोंकी तरह खत पढ़ रही थी और पाँवोंके नीचे धरती हिल रही थी :

पूरा खत यहाँ नक़ल करना व्यर्थ है। उसकी जगह-जगहकी लाइनें कुछ इस प्रकार हैं···

"प्रिय अपर्णा,

तो सुजाताजीको इतने कॉन्फ़िडैन्समें ले लिया गया···? बड़ी जलन हो रही है हमें···। इस कम्बख्तको शेर सुनाये जाते हैं, जुहू घुमाया जाता है···। आख़िर हम भी तो कहें कि आजकल हमसे सीधे मुँह बात क्यों नहीं हो रही···? तुम्हारी चालाकी मान गये भाई! एक बार ज़रा सुजातासे अपने यहाँ फोनपर हमारी भी बात करा दो न···।

"क्या पढ़ रही हो नया···? जो किताबें पिछली बार हमने बताई थीं उनमें देखीं एकाध? पढ़ लो तो देखना खुद भी कि कितना बड़ा दुर्भाग्य था हमारा कि हमें ज़बरदस्ती यह अँग्रेज़ी-साहित्य पढ़ाया गया। वर्ना कहाँ खड़ा होता है यह फ्रैंच और रूसी दिग्गजोंके सामने? इन लोगोंका सारा जीवन तो फ्रैंच साहित्य और जीवनकी नक़ल करनेमें गया है। फ़ैशन था बोलचालमें, रहन-सहन और साहित्यमें फ्रैंच स्पर्श लाना। जैसे हमारे यहाँ अँग्रेज़ीकी नक़ल करना।

"ख़ैर, हमारी क्या पूछती हो? वही···मज़दूरी···! सिनेरियो लिख रहे हैं···ये सिगरेटें क्यों भिजवाईं जनाबने? मेरे लिखनेको तुम पसन्द करती हो इसका यह मतलब तो नहीं कि सारी मेरी सनकें भी तुम ही पूरी करो? उन्हें मुझपर छोड़ो···यों मेरी आदत मत ख़राब करो···! आज

तुम पाँच-सौ पचपनसे जीभ खराब कर दोगी तो कल अपनी चार-मीनार कैसे चलेगी? तुम्हारा वर्ग सनकी होनेके लिए प्रसिद्ध है। भाई, आज तुम्हें मेरा लिखना पसन्द है; कल तुम्हें दूसरा पसन्द आ जायेगा···· आदमीकी रुचि बदलती रहती है, बदले। मुझे शिकायत नहीं है। लेकिन 'हम अपनी हैसियत भूलकर अपनी आदतें और रुचियाँ क्यों बदलें? तुम्हारा यह सात्त्विक-स्नेह इस संघर्षमें भी मुझे तोड़े नहीं···मैं ऐसी-ऐसी चीज़ें देती जाऊँ जो तुम्हें और भी पसन्द आयें···यही बल दो···। यही तो तुम्हारी ओरसे सबसे बड़ी भेंट होगी।

कैसी लगी सुजाता? लिखती बहुत अच्छा है····। बस कमज़ोरी यह है कि लिखेको गम्भीरतापूर्वक नहीं लेती ··। आजकल लिखनेका जोश है, कल ध्रुव-स्वामिनी बननेका जोश होगा तो दिन-रात बस ऐक्टिंग करेगी····। (वैसे लड़कियाँ ऐक्टिंग कब नहीं करतीं?) थोड़ी-सी बातूनी है; लेकिन मन लगता है उससे बातें करनेमें।—और बम्बईमें ऐसे कितने लोग हैं जिनसे निःस्वार्थ-भावसे खुलकर मतलब-हीन और बेमतलब बातें करके जी हल्का किया जा सके? व्यापारी नगर है न····इसलिए लोग बातें नहीं करते, शब्दोंको इन्वैस्ट करते हैं। जो भी हो सुजाता सिंसियर है, तुम जिस हद तक चाहो, उसके साथ निस्संकोच भावसे आत्मीय हो सकती हो····अच्छा, आपके लिए ऐसी अच्छी सहेली जुटानेकी हमारी बख्शीश····?

"अभी भी कम्बख्त समझती है कि तुम और मेरी बहन अपर्णा दोनों अलग-अलग हैं और वह कहीं शिमलामें है····

"अच्छा, अब चलें? आज डायरैक्टर साहबने पैसे देनेके लिए बुलाया है। देखें, कुछ देते हैं या आज भी आश्वासन ही मिलेगा····"

क़ागज़के पन्नोंको पलट रही थी और मेरी समझमें नहीं आ रहा था कि अपने मनकी उथल-पुथलको किन शब्दोंमें समझूँ या व्यक्त करूँ?

कैसे वह सब बताऊँ जो मैंने उस समय महसूस किया था····? पिछला-एक-एक चित्र मेरे सामनेसे गुज़र रहा था····। उदयने आखिर मेरे साथ यह मज़ाक़ क्यों किया····?

और फिर मैं ज़ोरसे खिलखिलाकर हँस पड़ी : 'हाय, कितना भयंकर आदमी है यह····। इसने कभी हवा तक नहीं लगने दी कि उसकी बहन अपर्णा और प्रिंसेस अपर्णा एक ही व्यक्ति हैं। ग़ज़बका ऐक्टर है। सचमुच यह फ़िल्म-डायरैक्शनमें नये प्रयोग कर सकेगा····। क्या बेवकूफ़ बनाया है मुझे भी। मैं कैसी चुपचाप उसकी सारी बातें मानती चली गई ?'

लेकिन यह मज़ाक उदयने क्यों किया····? उदयका प्रिंसेससे भी परिचय होगा इस बातकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी और वह भी ऐसा निकट परिचय। अच्छा, अगर मान लो, है भी तो उसे छिपानेकी ज़रूरत क्या थी ? मुझे बता ही देते तो क्या हो जाता····? उसे इतना रहस्य बनाकर रखनेकी क्या आवश्यकता थी ?

तो सचमुच ही यह आदमी 'चरित्र-हीन' है क्या ?—रजनी, अपर्णा, और मैं और भी जाने कौन-कौन होंगी···? लेकिन अपर्णाके परिचयसे लगता तो ऐसा नहीं है कि कहीं भी कुछ ऐसी बात है····

फिर भी आखिर मुझसे छिपाया क्यों ?

और उसके बाद मैं यह जानते हुए भी कि सन्ध्याको उदयका मिलना असम्भव है, सन्ध्याको उदयके यहाँ गई····। अपने उस सम्बन्धीके यहाँसे बहाना करके जल्दी लौटी और अपने रास्तेसे हटकर कॉफ़ी-हाउसके सामनेसे गुज़री····कि शायद वहीं दीख जायें और अब यह डायरी लिखने बैठ गई हूँ····

सोमवार : २२ जुलाई

रातभर नींद नहीं आई....। रह-रहकर आँखें खुल जातीं और लगता जाने कब सुबह होगी....। लेकिन सुबह-सुबह जाना भी तो एक तरहसे ठीक नहीं होगा। वहाँ मुलायमसिंह होगा। कल बहादुरने मेरे आनेकी बात कही ज़रूर होगी....। शायद ख़त देनेकी बात भी कह दी हो....। सुबहसे मैं टेलीफोनकी राह देखती रही। शायद टेलीफोन ही आ जाय....और जब अब प्रतीक्षा असह्य हो गई है तो फिर लिखने बैठ गई हूँ। ठीक दस बजे यहाँसे चल दूँगी....।

दोपहर

वहाँसे आते ही फिर लिखने बैठ गई हूँ। हर क्षण मुझे लगता है कि मैं लिखना-पढ़ना छोड़-छाड़कर सिसक-सिसककर रो न पड़ूँ। पता नहीं, मैं अकेली आई हूँ या नीचे तक उदय मेरे साथ आये। शायद ख़ुद ही आई थी। हाय राम, जाने क्या होनेवाला है? जाने, किस रहस्यका उद्घाटन हो रहा है....। नहीं, मैंने तो उनके साथ कोई खेल नहीं खेला....कोई चाल नहीं चली कि 'शह' खाकर अब 'मात' खाऊँ....। मुझे ख़ुद विस्मय हो रहा है कि सुबह तक प्रचण्ड उत्सुकताकी तनावभरी स्थितिमें मैं बचूँगी कैसे? व्याकुलताकी इस भट्टीपर कहीं मेरा हार्ट-फ़ेल न हो जाये....। मैं किससे जाकर कहूँ कि देखो, मैं मर जाऊँगी। उत्सुकता-के मारे मेरी नस-नस तड़की जा रही है, मेरी छाती फटी जा रही है। एक चीज़ है जो मुझे अभी इसी क्षण जान लेनी चाहिए....; लेकिन उसे जाननेके लिए मुझे ठीक बाईस-घण्टे राह देखनी होगी—रुकना होगा।

जब मैं उदयके कमरेमें पहुँची तो ठीक दस बजे थे। उदय खिड़कीपर सिगरेट पीते-पीते कुछ सोच रहे थे। मैंने धीरे-से दरवाज़ेपर खट-

खट की तो बहादुरने, शायद किचनसे निकलकर, दरवाज़ा खोल दिया और मुझे देखकर उसके चेहरेपर वही परिचय और आत्मीयताकी रहस्य-भरी मुसकराहट खिल उठी। उसकी चपटी-सी नाक और भारी-भारी पलकोंवाला चेहरा आज मुझे निहायत ही कुरूप लगा। उदयका ध्यान तब भी भंग नहीं हुआ था। उँगली पटककर सिगरेट झाड़ते-झाड़ते कुछ देखे जा रहे थे। भीतर आ गई। हस्ब-मामूल शतरंजकी बाज़ी लगी बिसात रक्खी थी। बिस्तरपर वही कटी लोथों जैसे तकिये इधर-उधर पड़े थे। मनमें ऐसी मिसमिसाहट और आवेग उठ रहा था कि दौड़कर उनके दोनों कन्धे पकड़ लूँ और झकझोर कर पूछूँ : "बताओ, तुमने मेरे साथ यह मज़ाक़ क्यों किया? कोई और नहीं रह गया था यह सब करनेको?" कल मुझे जिस बातपर हँसी आ रही थी, आज रह-रहकर झुँझलाहटके असफल आवेशपर रोना आ रहा था।

मैं जैसे कोई बहुत बड़ा निश्चय करके आई थी। बड़ी शान्तिसे पाँवके ऊपर पाँव रखकर बैठ गई कुर्सीपर। और दरवाज़ा बन्द करके किचनमें चले गये बहादुरसे ज़ोरसे पुकारकर बोली : "बहादुर, दो कप चाय बनेगी।"

उदय मुड़े "अरे? तुम?" फिर वे बड़ी प्रसन्नतासे (मुझे देखकर हमेशा ही उनका चेहरा खिल जाता था) मेरे पास आकर बोले : "मैं तो अभी-अभी यही सोच रहा था कि कैसे तुम्हें कण्टैक्ट करूँ? आपके घर जाना बेकार था, वह तो सिर्फ़ आपके लिए 'रैन-बसेरा है। टेलीफोनके लिए नीचे तक जाना होता····कहिए मेरे लायक़ काम···?"

मैंने देखा उनके चेहरेपर अजब सुस्ती छाई है और आँखोंके नीचे गहरी-गहरी लकीरें खिंच आई हैं। रातमें न सो पानेवालोंके चेहरोंपर जैसी कुछ थकान और लाचारीकी छाप आ जाती है, वैसी ही उदयके चेहरेपर थी। निहायत गम्भीरतासे, मैंने सामने खड़े हुए उदयको भौंहें उठाकर

देखा—"आपकी बातें हो चुकीं ? अब आप सामने बैठ जाइए, और जो-जो मैं पूछती जाऊँ, वह साफ़-साफ़ बताते जाइए···"

मेरी इस गम्भीरतासे उदय चौंक गये। शायद मुसकरानेका प्रयत्न भी किया या किसी मुसकराहटका हल्का-सा आभास खोजनेके लिए उन्होंने ग़ौरसे मेरे मुँहकी ओर देखा और उन्हें लगा कि होठोंके कोनेमें कहीं बड़ी हल्की-सी मुसकराहटका कण अटका है। एकदम हँसकर बोले—"शायद ओ' हैनरीने कहीं एक बड़ी मज़ेदार बात कही है"—फिर मेरी ओर देखा कि मैं उस प्रसिद्ध कहानीकारकी बात सुननेके मूड-में हूँ या नहीं—"उसने लिखा है कि रातके बारह बजे आप भागते-दौड़ते किसी भी भले आदमीके किवाड़ ज़ोरसे पीट डालिए और जब वह घबराया-बौखलाया बाहर निकले तो हाँफते हुए टूटे स्वरमें कहिए कि, 'भागो, तुम्हारा सारा भण्डाफोड़ हो गया है।' उस एक निमिषके लिए कोई भी ऐसा आदमी आपको नहीं मिलेगा जो बौखलाकर घबरा न उठे, और उसके हाथ-पाँव काँपने न लगें। फिर दूसरे ही क्षण चाहे वह स्वस्थ क्यों न हो जाय···"

भौंहोंमें मरोड़ लाकर मैंने भारी आवाज़में पूछा—"मैं पूछती हूँ, हो गई आपकी बात ? अच्छा अब मेरी बातका जवाब दो 'आपने मेरे साथ यह चालाकी क्यों की···?" और बिना कुछ कहे मैंने पर्ससे निकाल लिफ़ाफ़ा उनके सामने बढ़ा दिया।

वे जैसे एकदम सन्नाटेमें आगये। उसे ऐसे घूरते रहे, जैसे देखते-देखते वह अभी अदृश्य हो जायेगा···। बड़े हकलाये और सूखे गलेसे शब्दोंको ठेल-ठेलकर पूछा—"यह···यह तुम्हें कहाँ मिला···?"

"यह छोड़िए···अपने इस अपराधकी माफ़ी मैं पीछे मागूँगी कि यह मुझे कहाँ मिला या मैंने इसे क्यों खोलकर पढ़ा, लेकिन मैं यह जानना चाहती हूँ कि यह धोखा आपने क्यों दिया ? क्यों यह बात आप छिपाये रहे ?" ज़ोर देकर मैंने कहा। अभी तक जिस दृढ़ता और जिन

निश्चयोंको मैं दुहराती और जिन बातोंकी मैं रिहर्सल करती आई थी, वे सब गायब हो गये थे और उत्तेजनासे मेरी ठोड़ी काँपने लगी थी। लगा ज़रा देर यह और चुप रहेंगे तो मैं रो पड़ूँगी।

तब तक वे सुस्थ हो चुके थे। ऊपर छतकी ओर मुँह करके गला फाड़कर हँस पड़े : "तो आपको आखिर पता चल ही गया····। मुझे भी यह सन्देह होने लगा था कि तुम्हें बीचमें ही न पता लग गया हो····। खुद सोच रहा था कि तुम्हें बता ही दिया जाय।

हँसी सामनेवालेको कभी-कभी बड़े बेमौक़े अप्रतिभ कर देती है। मैं खिसियानी और रुँआसी हो आई। ज़बरदस्ती मुसकरानेकी कोशिश करते हुए कहा—"कलसे मुझे रह-रहकर यही हो रहा था कि मुझे ही बुद्धू बनानेकी ऐसी ज़रूरत क्या आ पड़ी थी? और मैं भी तो कैसी बेवकूफ़ थी कि इतनी सीधी-सी बात भी मेरी समझमें नहीं आई। यों अपनेको बड़ा चालाक लगाती हूँ।"

मेरे चेहरेके उतार-चढ़ावोंको देखकर वे हँसते रहे—"चालाक ही तो मारे जाते हैं···"

"ताज्जुब तो मुझे यह है कि उस कम्बख्त प्रिंसेसके चेहरेपर कहीं इतनी-सी शिकन नहीं आती थी। आपकी बुराई ऐसे करती थी जैसे उसे आपसे क्या मतलब? अच्छा, अगर मुझे आप यह सब बता ही देते कि प्रिंसेस अपर्णा और आपकी बहन अपर्णा दोनों एक ही हैं तो आखिर क्या मुसीबत हो जाती····सुनूँ?"

"तब आजवाला आनन्द कहाँसे आता?" अपनी चालाकीकी सफलतासे उनका चेहरा खिल उठा—"आप समझती हैं कि जो भी बातें आप मुझे बताती थीं, वे मुझे पहलेसे पता नहीं थीं····?"

मैं खिझला उठी—"सो तो सब ठीक है। अब तो मेरे सामने सभी कुछ साफ़ हो गया। हम अपने आपको बड़ा तीस-मारखाँ ऐक्टर समझते थे, आप दोनोंने तो सचमुच ही ऐक्टिङ्गमें कमाल कर दिया····"

"हार मान ली न ?" पंजा फैलाकर दुष्टतासे मुसकराते हुए उदय-ने पूछा।

"हारकी क्या बात है, यह तो सरासर धोखा है····। इट्स नॉट ए फ़ेयर गेम····" झुँझलाकर मैंने होंठ एक ओर झटक दिये।

और वे बड़ी देर तक हँस-हँसकर मुझे यह बताते रहे कि किस समय कहाँ मुझे बेवक़ूफ़ बनाया और अपने ऐसी आसानीसे बेवक़ूफ़ बनते चले जानेपर मुझे भी हँसी आती रही····।

"मुझे पता था कि ऐक्टिंगपर तुम्हें इनाम मिलेगा, इसलिए मैं गया नहीं····" वे बता रहे थे।

और फिर जैसे किसीने स्विच बन्द करके अँधेरा कर दिया हो इस तरह उनके चेहरेका सारा उल्लास और हास्य ग़ायब हो गये···और रात-भर जागी हुई एक अजब दर्दीली-सी उदासी छा गई। भौंहें भारी हुईं तो माथेकी आड़ी सलवट बीचमें उभर आई। पीछे दोनों पंजोंको आपसमें उलझाये हुए वे गम्भीरतासे टहलते रहे। फिर दूसरी ओर जाकर उधर मुँह किये हुए ही बोले—"सुजाता, तुम मुझे विश्वास दिला सकती हो कि मैं जो कुछ भी कहूँगा उसका तुम क़तई बुरा नहीं मानोगी···?" फिर खुद ही बोले—"और मैं समझता हूँ कि हमलोगों-के बीचमें ऐसे सम्बन्ध या ऐसी अण्डरस्टैंडिंग बन गई है कि भावावेशमें उद्विग्न या उत्तेजित होने या बुरा माननेकी बजाय हम दोनों ही ज़ोर देकर अपनी बात समझ और समझा सकें। और तब भी अगर काम न चले तो 'अपनी इच्छा' कहकर उसपर अड़ सकें····"

मेरे कान खड़े हो गये और सहसा ही दिल एक सुपरिचित लेकिन नितान्त अनजान मधुर आशंकासे धक्-धक् करने लगा! मन हुआ कह दूँ—'मैं जानती हूँ, आपको क्या कहना है।'

वे सोचते रहे कि अपनी बातको कैसे रक्खें। फिर जैसे शब्दोंको जबरन धकेलकर बोले—"सचमुच सुजाता, मुझे बड़ी तक़लीफ़ हो रही है, कैसे तुमसे यह बात कहूँ····? तुम ग़लत समझोगी····"

"अब बताओ भी न ? कह तो दिया कि नहीं मानेंगे बुरा····" मैं उत्सुकतासे अकुलाकर बोली। मानो मैं जानती थी कि वह कौन-सी बात है जो उनकी ज़बानपर नहीं आ रही। और उसके जवाबमें मैं क्या कहूँगी····कैसे व्यवहार करूँगी····? यह सब कुछ अगरु-धूम्र-सा उमड़-उमड़ मेरी आँखोंके आगे एक झीने पारदर्शी पर्देकी तरह आने लगा···। और एक बार फिर झलक उठा वही पहाड़ी बँगलेके शीशेकी खिड़कियोंवाले बरामदेका कोना···नीचे बहती नदीकी गूँज और धूपका उभरता उजास। उस दिनवाली बसकी तरह सब कुछ आउट-ऑफ़-फोकस तस्वीर जैसा लगने लगा।

मेरे 'बताओ' शब्दपर, कुछ चौंककर एकदम सिर उठाकर उदयने मुझे देखा, देखते रहे और फिर खिड़कीकी ओर टहलते हुए चले गये। फिर यों ही एक-एक क़दम रखते हुए चले आये मेरे पास तक। तब तक उनकी पीठपर निगाहें गड़ाये मैं कैसे अपनी उत्सुकता रोकती रही यह मैं ही जानती हूँ। आखिर कुछ निगलकर गहरी साँसको दबाते-से वे बोले—"नहीं, बात मुझसे ठीकसे रक्खी नहीं जायेगी···पता नहीं, तुम उसका क्या उलटा-सीधा अर्थ लो···मैं लिखकर ही दे दूँगा। कल ले लेना···डाकसे भेजना तो शायद ठीक नहीं रहेगा।"

जाने कैसी मनहूस कल्पनासे मेरा दिल धक्से रह गया। शायद इस विषयमें ज़्यादा उत्सुकता दिखाना मेरी बेशर्मी हो; लेकिन अपने उमड़ते आते दिलको दबाऊँ भी तो कैसे ? बड़े घुटे गलेसे पूछा : "बातका कुछ आभास तो देते न ?"

खड़े-खड़े वे ग़ौरसे मेरी तरफ़ देखते रहे, लगा जैसे आन्तरिक व्यथा-से उनके चेहरेकी रेखाएँ कुछ काँपीं—"अगर मैं यह कहूँ कि यह तो

सिर्फ़ शह थी और असलमें तुम मात खा गई हो तो तुम्हें कैसा लगेगा····? सच सुजाता, कई बार मेरे मनमें आया कि मैं यह सब न करूँ, मेरे हाथोंसे कमसे कम यह सब न हो····लेकिन एकबार खेल शुरू हो चुका था····मैं क्या करता ?" उनके गालों और ओठोंके बीचकी आड़ी रेखाएँ करुण हो आईं—"कई बार मैं अपने मनकी भर्त्सनासे लड़ता रहा कि तुम जैसी सहृदय और भोली लड़कीसे यह ख़तरनाक खेल न खेलूँ···· लेकिन पता नहीं कैसा क्रूर आनन्द था कि खेल चलता ही गया····। सचमुच मुझे माफ़ कर देना सुजाता····अब भी मैं दिलसे चाहता हूँ कि तुम जैसी अच्छी लड़कीसे मेरी मित्रताका सम्बन्ध बना रहे····"

"आखिर कुछ बात भी बतायेंगे····?" रोने-रोनेको होकर मैं बोली—"उत्सुकताके मारे मेरा सिर फटा जा रहा है। मुझपर दया कीजिए····" मुझे लग रहा था कि भरे जाड़ोंमें मैंने अपना सिर बर्फ़ीले पानीमें डुबा दिया····है। कानोंमें अजब-अजब-सी आवाज़ें आने लगी थीं, और डर था कि कहीं बेहोश न हो जाऊँ।

उन्होंने मुझे देखा और पास आकर कन्धे थपथपाये—' दिलासा-सा देते हुए ऐसी मजबूरीके स्वरमें बोले, मानो भीख माँग रहे हों—"थोड़ा, बस, थोड़ा-सा शान्त हो जाओ सुजाता। अब मैं तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊँगा···मुझसे छिपाया ही नहीं जायेगा··। सभी कुछ बता दूँगा। चाहूँ तो मैं अभी बातको समाप्त कर सकता हूँ, और सारी चीज़ एक सुन्दर मज़ाक बनकर रह जायेगी···लेकिन घनिष्ठताकी इस सीमापर आकर धोखा देनेको मन नहीं करता··" कुछ था जो उनके भीतर ऐंठ रहा था।

और मुझे लगा मैं सिसककर रो पड़ूँगी···। इस आदमीको ज़रा दया नहीं है ? मुझे बिलकुल भी पता नहीं कैसे घर आई। उदय साथ टैक्सीमें आकर छोड़ गये या मैं अकेली ही आई। हाय, कौन-सा रहस्य है···? कहीं मैं मात खा गई हूँ···कोई मुझे बताओ रे, किन सुनसान जँगली घाटियोंमें

मुझे परास्त कर दिया गया है···। मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, पाँव पड़ती हूँ···मेरे ऊपर दया करो। मैं मर जाऊँगी···मुझे बताओ, आखिर बात क्या है···?

इस समय अगर मेरे पास पिस्तौल हो तो शायद मैं अपने-आपको शूट कर लूँ। पिस्तौल प्रिंसेसके पास होगी···क्यों न प्रिंसेससे ही इस बात-का पता लगाया जाय···? अरे, इतनी सीधी-सी बात मेरी समझमें नहीं आई?

पन्द्रह मिनट बाद

अभी-अभी प्रिंसेसको फोन किया तो पता चला कि "इस समय अपने सॉलिसिटर और महाराजकुमारके साथ कुछ ज़रूरी बातें कर रही हैं···· आप फोन दो-तीन घण्टे बाद कर लें तो अच्छा हो"····तुम्हारा सिर!

मंगल : २३ जुलाई

अपमान और क्रोधकी एक आग है जो ज़हरीली लहरोंकी तरह रह-रहकर मेरी नसोंमें लहक रही है····क्या हक़ था इसे मेरी भावनाओंसे यों खिलवाड़ करनेका? जी में आता है कि पागल और उद्भ्रान्तकी तरह इसके सारे कपड़े चीर-चीर कर डालूँ, घूँसों और मुक्कोंसे, इसे कूट-कूट-कर बेहाल कर दूँ; नाखूनों और दाँतोंसे इसके चिथड़े उड़ा दूँ और फिर इसके मुँहपर खूब थूकूँ 'ले, और ले, और खेल।' लेकिन जो कुछ उदयने अपनी डायरीमें लिखकर मुझे दिया है, उसे हाथमें लिये स्तब्ध और लकवामारी-सी मैं यों ही बैठी रही···

उदयकी डायरी : फाड़ा हुआ पन्ना

सोमवार : २२ जुलाई (रात्रि, एक बजकर दस मिनट)

···सिंह साहबके खर्राटोंके बीच, डेढ़-घण्टेसे डायरी सामने रक्खे बैठा हूँ और समझमें नहीं आ रहा कि इसे शुरू कैसे करूँ ? पहले रोज़ लिखा करता था। अब तो जैसे आदत ही छूट गई है। चाहता हूँ अपने आपको सुजाताके सामने खोल दूँ; लेकिन जैसे कोई ज़बान रोक लेता है। और यही संकट आज उस समय आया जब उसने सारी बातको ज़बानी सुननेका आग्रह किया। ख़ैर, मैंने वचन दिया है कि सारी स्थितिको लिखकर ज्यों-का-त्यों रख दूँगा। प्रार्थना करूँगा कि 'सुजाता, इतना सब जानकर भी अगर कर सको तो क्षमा अवश्य कर देना।'

इस सारे दौरानमें और यह डायरी लिखते हुए भी कितनी उत्कट आत्म-भर्त्सना और कचोटती-ग्लानिसे तिलमिलाता रहा हूँ, मैं ही जानता हूँ। नहीं कह सकता कि इसे लिखकर, पढ़ा चुकनेके बाद भी हमारी मित्रता क़ायम रह पायेगी भी या नहीं। लेकिन सुजाताके प्रति मेरा स्नेह, घनिष्ठता और विश्वास कमसे कम यहाँ न टूटें—मेरी निश्छल कामना; विनम्र प्रार्थना यही है। इस सबके बाद ज़ोर तो उससे दे ही कैसे सकूँगा लेकिन अनुरोध उससे अवश्य करूँगा। जाने मेरी बात रक्खेगी भी या नहीं ?

७

मैंने उससे कहा था—"कई बार मेरे मनमें आया कि खेलको यहीं समाप्त कर दूँ।" शायद यह मज़ाक़ हमलोगोंको और भी आत्मीय और निकट बना देता। उसका और मेरा सम्बन्ध एक मधुर मित्रताका ही

चलता रहता और उसके बीच यह सब 'चालें' न आतीं। लेकिन मेरी समझमें नहीं आता कि मैं कर भी क्या सकता था? खेल तो मेरे न चाहनेपर भी शुरू हो ही चुका था। शीशेकी एक दीवार थी, जिसके एक ओर एक खिलाड़ी बैठा था और दूसरी ओर दूसरा। चाल ऐसी आ गई कि मैंने पाया, सुजाता अचानक 'अर्दब' में आ गई है। चाहते हुए भी उसे हटाया नहीं जा सकता। उसे हटाना अपने 'शाह' का मोह छोड़ना था, अपनी हार स्वीकार करना था। और हारना मेरे 'खिलाड़ी'-को गवारा नहीं था।

कभी-कभी ख़याल आया करता था कि मैं भी किस ज़मानेमें रह रहा हूँ मानसिक रूपसे; जब प्रतिभावान् राजकुमारियाँ तरह-तरहकी पहेलियाँ और बाज़ियाँ लगाकर सारे संसारको ललकार दिया करती थीं कि जो भी इस बाज़ीको जीत लेगा, राजकुमारी उसीकी होगी। (साफ़ कहूँ तो ऐसी किसी भी 'प्राप्ति' का लोभ यहाँ नहीं था) और परदेके पारसे राज-कुमारी चालें चलती और अगले दिन खेलनेवाला फाँसीपर चढ़ा दिया जाता। एक बार कोई फटेहाल खाना-बदोश कमन्द लगाकर आधी-रातके सन्नाटेमें पीछेसे ऊपर चढ़ आया; क्योंकि सदर फाटकसे उसे आने नहीं दिया गया था। उसने राजकुमारीको जगाया और खेल शुरू हो गया। खेल शुरू हो गया था और मैं सुजाताके सामने दूसरी लड़कियोंके नाम लेता था, खास तौरसे अपर्णाका नाम लेता था कि वह चाहे तो अपर्णाके बारेमें हर प्रकारकी कल्पना कर सके। और इसके लिए भी छूट देता गया कि वह चाहे तो मेरी बहन अपर्णा और प्रिंसेस अपर्णाको एक भी समझ ले···। उसके मानसिक प्रवाहमें मैंने कभी बाधा नहीं दी। लेकिन मैं जब-जब भी सुजातासे मिला हूँ यह टीस मुझे सालती रही है कि ऐसे सरल-हृदय प्राणीके साथ मुझे यह 'खेल' खेलना पड़ रहा है।

खैर तो सारी वस्तुस्थितिको शायद मैं य ेरख सकूँगा।

जब मैंने पहले-पहल सुजाताकी रचनाएँ पढ़ीं तो मुझे लगा कि इस लड़कीमें प्रतिभा है, अन्तर्दृष्टि है, और है एक ताज़ी बात कहनेकी शैली। और सब कुछ इतना सहज और सरल लगा कि शायद बहुत कम जगह देखनेमें आया। लगा, इसे विकास देना चाहिए। शायद हमलोग नारी दृष्टिकोणसे लिखी कुछ अद्‌भुत चीज़ें पा सकें...

लेकिन साफ़ कहूँ तो मेरे मनमें यह बात शुद्ध कलाकी सेवा या एक नई प्रतिभाको प्रोत्साहन देनेके लिए नहीं आई थी—वस्तुतः इस भावना-के पीछे था एक उगती हुई प्रतिभाको पी जानेका स्वार्थ। मेरे मनकी प्रताड़ना और आत्म-भर्त्सनाका कारण यह नहीं है कि मैंने अपनी मित्र और एक भोली लड़कीको धोखा दिया, उसकी भावनाओंके साथ खिल-वाड़ किया—बल्कि यह कि मैंने एक उगती प्रतिभाको अपने स्वार्थके लिए हथियार बना लिया था—या बनाना चाहा था। यों मुझे अब भी विश्वास है कि कोमल और आत्मीय सुजाता चाहे जितनी हो उसकी शक्ति आसानीसे चुकेगी नहीं; और अपना यह विश्वास मुझे कितनी प्रसन्नता देता है, कह नहीं सकता।

मेरे बारेमें यहाँ जो 'यश' फैला है उसे जानते हुए भी सुजाता मेरे परिचयकी निकट-परिधिमें आती चली गई, उसने समय-समयपर मेरी अशिष्ट उपेक्षाओंको भी सहा—मुझे उसका यह साहस और स्वभाव दोनों अच्छे लगे। लेकिन मैंने उससे छिपाया नहीं कि मेरे अन्य लड़कियोंसे भी मित्रता-सम्बन्ध है, इसलिए हमारा यह सम्बन्ध भी ग़लत नहीं समझा जाना चाहिए। हो सकता है, इसे सुजाताने इस रूपमें लिया हो कि मैं उसपर प्रभाव जमाना चाहता था। इसमें भी अपर्णाका ज़िक्र मैंने विशेषरूपसे किया था।

अपर्णा प्रिंसेस है या प्राइमरी स्कूलकी टीचर, इसे जाननेकी मैंने भी कभी चिन्ता नहीं की। उसे पढ़नेका शौक़ है और रचनाओंपर खुलकर और

बेलाग राय दे सकती है; स्वभावसे मित्र या फ्रैण्डली है, मेरे जाननेके लिए इतना काफ़ी है। एक बातके बारेमें मैं ज़रूर सावधान रहा हूँ। जब-जब वह प्रिंसेस बनकर मेरे सामने आई, मैंने उसे अत्यन्त विनम्रता-पूर्वक अप्रत्यक्ष-रूपसे समझा दिया कि मेरे निकट वह एक पाठिका और मित्र है, बस। जिन विकट और विषम परिस्थितियोंमें मैं रहा हूँ उनमें मैं चाहता तो उसके प्रिंसेस होनेका फ़ायदा भी उठा सकता था; लेकिन मुझे हमेशा लगता रहा है कि उसे यों प्रिंसेस स्वीकार कर लेना अपनी मित्रताका अपमान होगा, अपने उस आधारका अपमान होगा जो हमारे परिचयका माध्यम था। और फिर हमलोग मित्र न रहकर कुछ और रह जायेंगे।

मुझे याद है एक बार सुजाताने कहा था : "जब वह आपकी बहन है और इतनी आत्मीय और घनिष्ठ है तो आवश्यकता पड़नेपर आप उसके पास नहीं तो और कहाँ जायेंगे? आपकी अपनी बहन होती तो नहीं जाते क्या? या ख़ुद उसका यह फ़र्ज़ नहीं होता?" बात सुजाताकी ठीक थी। लेकिन वह नहीं जानती कि जिस वातावरणमें अपर्णा रहती है, उसमें ऐश्वर्य और पैसा हमेशा एक हौवा बनकर भोगनेवाले और भोग्यके बीचमें खड़े रहते हैं। यानी इन लोगोंके दिमाग़में यह जम जाता है कि अलग-अलग रास्तोंसे हमतक आनेवाला हर आदमी, केवल पैसेके लिए ही आता है। चाहूँ, तो इस बातको कुछ और अधिक सच्चे रूपमें शायद इस तरह रक्खा जा सकता है कि ख़ुद इन बेचारोंको अपनी व्यक्तिगत अयोग्यताका इतना अधिक विश्वास होता है कि वे जानते हैं : उनके सारे सम्बन्धों और सम्मानोंके पीछे उनके अपने व्यक्ति-गत गुण नहीं, पैसा है....

अपर्णा और मैं दोनों ही जिन दो विरोधी परिस्थितियोंमें हैं उनमें मुझे हमेशा ही यह डर रहा है कि कहीं उसे भी यही विश्वास न हो जाये। इसलिए इस ओरसे मैं शुरूसे ही सचेत और सावधान रहा हूँ। फिर भी इस जिज्ञासासे कैसे इनकार करूँ कि मैं अपर्णा और उसकी दुनियाके बारेमें अधिक-से-अधिक नहीं जानना चाहता था? मेरी यह दुर्दम महत्त्वाकांक्षा रही

है कि मैं उसे उसके सम्पूर्ण परिवेशमें जानूँ, उसे अन्तर्तम तक जानूँ। आखिर उस जगह पनपनेवाले, रहनेवाले लोग कैसे सोचते हैं, कैसे रहते हैं और कैसे उनके आपसी मनोविज्ञान होते हैं या कैसा उनका मन हो जाता है? इस सबका अपर्णाके माध्यमसे मैं अध्ययन करना चाहता था। यों ड्रॉइंग-रूमोंमें चाय पी आना, या सड़कपर कारसे गुज़रते देखकर जो मन हो सो कल्पना कर डालना, उनपर अपने आदर्श थोपकर उनके रहन-सहनको गाली-प्रशंसा देना मुझे सन्तोष-जनक और ईमानदार नहीं लगा। जाने क्यों इसे मेरा लेखक स्वीकार नहीं कर पाया।

लेकिन अब तो खुद सुजाताने भी देख लिया है कि अपर्णा बेचारी किन शीशेकी दीवारोंमें क़ैद है। अपनी इस दीवारको वह खुद मेरे सामने भी एक रहस्य बनाये रखना पसन्द करती है, या इसमें आनन्द लेती है। पहले ईंट-पत्थरोंकी दीवारें उसे उसकी रियासतमें क़ैद किये थीं, जहाँसे निकलनेपर चारों तरफ़ कपड़ेकी दीवारें खड़ी कर दी जाती थीं। खिड़कियोंपर मोटे-मोटे पर्दे, पर्दोंकी दीवारें और पालकी तक कपड़ेके पर्दोंकी सुरंग। यह राजकुमारीका पहला जीवन था और आज वह शीशेकी दीवारोंसे घिरी है।····शीशेकी खिड़कियाँ, शीशेके दरवाज़े, शीशेके मोबाइल-पार्टीशन; बाहर आनेपर कारोंके बन्द शीशे···खुले आसमानके नीचे शीशेके गॉगल्स और फिर वहीं क्लब, सिनेमा, और होटल-रेस्त्राओंके शीशेके दरवाज़े···! शॉपिंग करने गये तो दरबानने सलाम मारा और शीशेका दरवाज़ा खुला···फिर वही जेल। बात करनेका तरीक़ा भी वही टेलीफोन या वही जड़ तहज़ीब-क़ायदोंकी अदृश्य और पारदर्शी शीशेकी दीवारें। और इनके पारसे हम इनलोगोंको बेज़बान पुतलोंकी तरह घूमते-फिरते और होंठ हिलाते देख सकते हैं। लेकिन ये बोलते भी हैं, इनके कण्ठमें भी आवाज़ें हैं जो दूसरे तक पहुँच सकती हैं या उसे छू सकती हैं; ऐसा कभी लगता ही नहीं···! मैं कहूँ; कि पत्रों या टेलीफोनसे अत्यधिक आत्मीय रहते हुए भी अपर्णाको हमेशा ही यह खयाल रहा है कि कहीं यह शीशेकी दीवार टूट न

जाये···यह जो इतनी क़ीमती और दुर्भेद्य है, यह जो उसे परम्परा और इतिहाससे मिली है ! बन्द मुट्ठीकी तरह अपने आस-पास एक रहस्य बनाये रखना भी तो एक अजब-सी रोमाण्टिक गुदगुदी देता है न···

हो सकता है कि अपर्णाके लिए यह एक बहुत बड़ा क्रान्तिकारी क़दम हो कि वह ईंटे-चूनेकी अन्धी-दीवारों और कपड़ेकी लचीली लक्ष्मण-रेखाओं या लोहेके छड़वाले जँगलों और फाटकोंको पार करके शीशेकी पारदर्शी दीवारोंके पीछे आ गई है, जहाँसे वह दुनियाको देख सकती है और दुनिया उसे···।

पहले हम सुना करते थे कि हममेंसे ही कोई हैं जो इन दीवारोंके पीछे क़ैद हैं, सिसकते हैं, घुटते हैं और अन्तमें वहीं दम तोड़ देते हैं। कभी आते-जाते उनकी झलक भी मिल जाती थी। लोक-कथाओं और इनकी सेवा-टहलवालोंसे, इन्हें लेकर उलटी-सीधी बातें भी सुनाई दिया करती थीं। उनमें सचको इतना बढ़ा-चढ़ा दिया या बिलकुल ही घोट दिया जाता था कि बातका पता ही नहीं लगता था ! लेकिन अब अपने सामने यों एक पारदर्शी पर्देके पारसे इन्हें देखकर तो उत्सुकता और भी अधिक बढ़ती है : ये जो हमारी तरह चलते-घूमते, होंठ हिलाते और खाते हैं, आखिर क्या सोचते हैं ? किस तरह सोचते हैं ? क्या बातें करते हैं और किस कोणसे दुनियाको देखते हैं ? सब मिला कर अपनी इच्छासे ली गई इस अजब-सी क़ैदमें इनकी मानसिक-स्थिति और बनावट क्या हो जाती है ? पंखों, कूलिंग-प्लाण्टों और एयर-कण्डीशनिंगकी आब-हवा और फ्लोरेसेण्ट या नियॉन लाइटोंके प्रकाशमें इनकी दृष्टियाँ आखिर चीज़ोंको किस रंगका देखती हैं ? कैसी दीखती है इन्हें शेष सारी दुनिया ?,मैं उस सबको उनकी निगाहोंसे देखना चाहता था।

और यहीं एक बाधा थी। मैंने पाया कि जिस तरह ये 'दर्शन' देते हैं, उसमें और पहलेके 'अन्नदाता' के दर्शनोंमें बाहरी फ़र्क चाहे जितना हो, भीतरी ज़रा भी नहीं है। अब इनके दर्शन अक्सर ही होते हैं, रोज़ होते हैं। आपके साथ ये लोग फ़ोर्टके फ़ुटपाथोंपर, सागरके किनारोंपर,

रेल, ड्राइङ्गरूमों, या सिनेमाओंकी कुर्सियोंपर दीखते हैं; लेकिन यह केवल 'दीखते' हैं—इन्हें आप छू नहीं सकते। किसी म्यूज़ियममें सुरक्षित पुरानी यादगारकी तरह ये लोग शो-केशोंमें बन्द रहते हैं। 'ममियों' की तरह मसाला लगे कि कहीं आजकी 'हवा' इन्हें बिगाड़ न दे। और इन शो-केसोंपर चिप्पियाँ लगी रहती हैं—'टच मी नॉट'—'मुझे छूना मना है'—एक अदृश्य और पारदर्शी शीशेका खोल है, जो इनके और आपके बीच हमेशा बना रहता है, या जिसमें ये अपनेको बन्द रखते हैं। इनकी यही मानसिक बनावट हमें खींचती है कि जिस तरहके ये दीखते हैं या दीखना पसन्द करते हैं—इसके अलावा भी हम देखें कि ये लोग वास्तवमें हैं क्या? हम जानें कि ये लोग भीतरसे कैसे हैं? यह हर समय कैमरेके खुले लेन्सके सामने पोज़ देकर कृतार्थ करते घूमना और दीखना ही तो हमारे लिए काफ़ी नहीं है; और शायद लेखकके लिए तो यह स्थिति एक चुनौती है।

खैर, अपर्णा भली चाहे जितनी हो, पारदर्शी दीवार हमारे और उसके बीच भी है ही। फ़िलहाल इसे तोड़नेकी सामर्थ्य और सम्भावनाएँ दोनों ओरसे नहीं हैं। वह अगर तोड़नेकी हिम्मत करे भी, तो उसे खुद अपने आस-पासवालोंकी निगाहें देखकर शर्म लगेगी। वे कहेंगे—"देखो, कैसी मूर्खा है। अपनी ही दीवारें तोड़े ले रही है। पागल तो नहीं हो गई? अरे, वे भूखे और नंगे हैं!" और अगर कोई बाहरवाला तोड़ता है तो उसके संस्कारोंको निश्चय ही लगेगा कि यह गुस्ताखी और सीमाओंका उल्लंघन है—याकि वह उसे लूटना चाहता है। शायद इसीलिए इसे लेकर वह शुरूसे ही बहुत चिन्तित रही है। उसे मेरी मित्रता चाहिए, लेकिन बिना अपना आसन छोड़े हुए। और उसकी इसी भावनाने मुझे भी अपने आसनको याद दिलाये रक्खा है। मैंने भी इस झंझटको व्यर्थ ही समझा कि दीवारके उस ओरवाले क्या सोचते हैं और इस ओरवाले उनको कैसा समझते हैं। मैं तो चाहता था कि उनके दिये और

बताये हुए नहीं, बल्कि अपने रास्तोंसे उन्हें उनके ही बीचमें स्वाभाविक रूपमें देखूँ। आखिर ये लोग हैं क्या? यों अपर्णाके साथ पत्र-व्यवहार था, बातचीत थी; लेकिन उस दीवारकी रक्षामें वह भी तत्पर थी और उसे न छूनेके बारेमें मेरा आत्म-सम्मान भी सचेत। रास्ता मेरे पास था और मैंने सुजाताकी प्रतिभा, सूझ और कुशलतापर विश्वास करके उसे वहाँ भेज दिया। अपर्णाको एक बौद्धिक-मित्रकी आवश्यकता थी और मैंने 'ध्रुव-स्वामिनी' को उसका मित्र बना दिया। यह प्रयोग शायद अजब ही लगेगा कि हम दोनों अपने-अपने वर्गों और व्यक्तित्वोंसे अलग हटकर, उठकर या बिना हटे-उठे भी मित्र बने रहना चाहते थे। बड़ा ख़तरनाक़ प्रयोग था, क्योंकि ज़रासे भटकनेपर ही यह प्यार और वर्ग-द्वन्द्वकी पुरानी कहानी बन सकता था। या हो सकता था वह कलाकी संरक्षिका और अभिभावकका रूप ले लेती। मुझे लगा कि प्रश्न चाहे विरोधी सैक्स के पारस्परिक आकर्षण और वर्ग-विषमताका होता या सामाजिक ऊँच-नीचका—दोनों ही स्थितियोंमें शायद हमलोग भटक जाते।

यह सब हुआ; मुझे उपयुक्त माध्यम मिला; लेकिन मेरे दिलकी हालत बड़ी विचित्र हो गई। जितना ही मैं अपने चुनाव, सुजाताकी प्रतिभा, पकड़की सफलता देखता जाता, जीकी कचोट बढ़ती जाती। मैं मानता हूँ कि क़िलेमें घुसनेवाले जासूसको इस बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि उसकी कमन्द रेशमकी है या साँपकी। यदि वह उसका मतलब निकाल सकती है तो उसे क्रूरतापूर्वक उसका उपयोग कर ही डालना चाहिए। वह लटकता फाँसीका फन्दा भी हो सकता है, और किसी पद्म-गन्धाकी साड़ी भी। और उसी जोशमें मैंने भी कमन्द फेंक दी। कमन्द लग गई···। शायद आज मैं उस मध्य-कालीन जासूसके दिलकी उत्तेजना और जोशका अनुमान लगा सकता हूँ जिसकी कमन्दका कुण्डा क़िलेके बुर्जपर मज़बूतीसे अटक गया है और आस-पास गहरा सन्नाटा है···घुप अँधेरा है। ऐसा अनुकूल वातावरण और ऐसा सफल अवसर···।

कुण्डेके अटकते ही मुझे महसूस हुआ कि कमन्दकी डोर तो खिले गुलाबके फूलोंकी है। कितनी मानसिक यन्त्रणा होती रही है मुझे उन दिनों यह सोच-सोचकर कि खिले गुलाबके फूलोंकी यह डोरी क्या इसलिए है?··· लेकिन ऊपर जा पहुँचनेका जोश और मिलनेवाली सफलताकी आशाकी थ्रिल, मुझे निरन्तर कोंचते थे। आज अगर सुजाताके सामने इसे स्वीकार करूँ तो शायद लाजसे गड़ जाऊँ कि जब अत्यन्त नाजुक क्षणोंमें इन फूलोंकी सपनीली गन्धने मेरे तन-मनको एक भास्वर पुलकनसे भर-भर दिया है; तब भी मैं यह नहीं भूला हूँ कि मुझे इसी फूलको पकड़कर चढ़ना है। कभी-कभी डर भी लगता था कि कहीं यह गन्ध मुझे भरमा न ले; मुझे मोहकर रोक न ले···कि कहीं यह कमन्द टूट ही न जाये! अक्सर मैं दिलसे चाहता रहा हूँ कि क्यों नहीं यह डोर टूट जाती और क्यों नहीं मैं गिर कर चूर-चूर होजाता! काश, मैं यहीं रुक जाता! बार-बार किसीके कोमल हाथ ऊपरसे धक्का देते थे कि ये नाज़ुक फूल यों कमन्द बनानेको नहीं है···ये बहुत ही कमनीय हैं, ज़रा ज़ोरसे छूनेमें छितर और बिखर जाते हैं··· इनका पराग धूलमें मिल जाता है! नीचे उतर आओ। लेकिन मनमें जाने कैसा एक क्रूर उन्माद था, एक पागल आवेश था कि लौटने नहीं देता था···। और अपने हाथोंकी हर पकड़पर मैं परागकी पसीजन महसूस करता रहा···

आज लगता है कि वह स्थिति आ गई है जब मैं लौटनेपर मजबूर हो गया हूँ। दीवार बहुत ऊँची नहीं है, और शायद मैं उसके सिरेपर पहुँच भी गया हूँ···लेकिन अपने दिलके उन मज़बूत हाथोंको क्या करूँ जो मेरा गला घोंटे देते हैं कि ये फूल यों कमन्द बनानेको नहीं हैं। नहीं सुजाता, अब मुझसे नहीं चढ़ा जाता; अब मैं नहीं चढ़ पाऊँगा···। मैं हारकर लौटा आता हूँ, हार मानता हूँ। तुम्हारे सामने दोनों हाथ ऊँचे करके आत्म-समर्पण करता हूँ···

शायद अब मुझे न तो अपने आपको और न ही सुजाताको समझानेकी

ज़रूरत है कि प्रिंसेस अपर्णा मेरा लक्ष्य नहीं माध्यम है, साध्य नहीं साधन है। क्योंकि हमलोग कभी भी राजकुमार नहीं होते···हमलोग तो जासूस होते हैं, ऐयार होते हैं। कभी हम राजकुमारके वेशमें होते हैं कभी भिखारीके! कभी डाकू होते हैं और कभी गुण्डे···कभी साधुका स्वाँग भरते हैं तो कभी चरित्र-हीनका! हम-एक तीव्र और दुर्निवार जिज्ञासा होते हैं, बस।

यहीं एक बात और भी साफ़ कर दूँ कि न तो मैं अपनी 'कमज़ोरियों'की सफ़ाई देरहा हूँ न अपने बचाव कर रहा हूँ—यह अपना अन्ततम टटोल-कर पाता हूँ। क्योंकि मुझे लगता है कि कलाकार सब कुछ हो सकता है—खुद वह 'आदमी' हो ही नहीं सकता। हाँ, वह 'आदमी'का दूत होता हो, तो हो। वह 'आदमी'के रूपका वर्णन कर सकता है, उसकी यश-गाथा गा सकता है, उसका संदेश ला-लेजा सकता है, और 'आदमी'के नामपर हर उलटा-सीधा कर सकता है। इसमें कुछ अजब भी नहीं है। अपने मालिकके प्रति वफ़ादारी दिखानेके लिए हर दूत या एजेण्ट कुछ ज़्यादा ही करता है। जहाँ तक अत्याचारका सवाल है; शायद असली मालिकके मुक़ाबले उसके गुमाश्ते और दूत ही ज़्यादा क्रूर होते हैं! उन्हें लगता है कि नमक-अदायगी और वफ़ादारीके लिए हृदय-हीनता अनिवार्य है। और 'आदमी'-का दूत यह कलाकार या लेखक भी, हो सकता है मरते वक़्त तक अपने मालिक 'आदमी'के प्रति वफ़ादार भी रह आये, उसीके लिए तो वह कभी शीशेकी दीवारें फाँदता है और कभी बहुरूपियों जैसे स्वाँग भरता है, क़िलोंकी प्राचीरोंपर चढ़ता है। लेकिन शायद खुद 'आदमी' कभी बन ही नहीं पाता। उसे शायद फ़ुरसत ही नहीं मिलती।

अपने प्रति इस खिलवाड़के लिए जाने सुजाता मुझे माफ़ भी करेगी या नहीं!

कभी-कभी सोचता हूँ कि काश, सुजाता ही मुझे दूत होनेकी इस ग्लानि और परितापसे मुक्त कर पाती। किसे बताऊँ कि यह शब्द-हीन

ग्लानि क्या है, और कैसे यह मेरे तन-मनको रात-दिन पीसती है कि मैं खुद कुछ भी नहीं, किसीके हाथोंका हथियार-भर हूँ, किसीका एजेण्ट हूँ, जो भी कुछ करता हूँ वह सब अपने लिए नहीं 'किसी'के लिए करता हूँ···। और मज़ाक यह कि जिस 'आदमी' के नामपर या जिसके लिए यह सब करता हूँ वह रहता कहाँ है, कैसा है···और है भी या नहीं ? यह भी मुझे नहीं मालूम। काश, कोई त्रिगोरिन[1] के भीतर बैठे हुए मेरे इस शाश्वत दर्दको समझ पाता। 'कितनी सालती है यह व्यथा कि मेरा हँसना-रोना, मेरा दुःख-सुख, मेरी अनुभूतियाँ और भावनाएँ, मेरी 'अपनी' नहीं हैं—जिसे मैं अपना आनन्द और अवसाद कहता हूँ, वह तो मुझे किसीको सौंप देना है; ज्योंका-त्यों··· यह सारी बातें किसी पात्रके मुँहसे कहलवा देनी है, किसी औरके दिलकी भावनाएँ बनाकर इन्हें टुकड़ों-टुकड़ोंमें बाँट देना है।' अपने पास तो मैं इसे सिर्फ़ अमानतकी तरह रख रहा हूँ। अपने बेटेकी मौतके समय मेरे भीतरका 'बाप' रोता है और यह क्रूर 'दूत' उस समय भी बैठा-बैठा नोट करता रहता है कि बेटेके मरते समय बापको कैसा लगता है। कभी-कभी तो 'दूत' उसे मज़बूर कर देता है कि यही जाननेके लिए वह बेटेको मार कर देखे···।

काश, एक क्षण भी ऐसा होता जो मेरा 'अपना' होता···जिसके पीछे यह भावना न होती कि इसे किसी पात्रको दे देना है! यह केवल मेरा 'अपना' है। सुजाताने स्वप्न-भंगकी उस वितृष्णामें ठीक ही कहा था कि 'इट्'स नॉट ए फ़ेयर गेम'। सच ही यह ईमानदारीका खेल नहीं है। क्योंकि मैं ऐसे मालिकका दूत बनकर सुजाताके सामने आया जो मुझे यहाँ छोड़कर खुद जाने कहाँ खो गया है। अब तो यह भी याद नहीं है कि उसने यह काम मुझे सौंपा भी था या नहीं···समझमें नहीं आता, अब सुजाताको मुँह कैसे दिखाऊँगा ?

---

१. चेख़वके नाटक सीगलका एक लेखक-पात्र।

सुजाताकी डायरी : एक नोट

मंगल : २३ जुलाई

सब पढ़ लिया है मैंने उदय, सब पढ़ लिया।

जी में तो मेरे भी आ रहा है कि मैं उदयसे जाकर कह दूँ कि 'जो क़िस्से मैं राजकुमारीको लेकर रोज़-रोज़ बताया करती थी, उन्हें क्या तुम सचमुच सच समझते हो? अरे, यह कैसे भूल गये कि मैं कथाकार ही नहीं, अभिनेत्री भी थी···और रोज़ मन बहलानेको एक क़िस्सा गढ़कर सुनाया करती थी···अलिफ़-लैलाका ध्यान है? मलिका शहरज़ाद भी तो शहरयारको एक क़िस्सा रोज़ सुनाया करती थी···ताकि समय मिले और उनके बीचमें आत्मीयताके सूत्र और गाढ़े होते जायँ·······लेकिन तुम्हें तो बिसात उलट देनेकी आदत है न····।'

'तुम चाहे जिसके दूत बनो, चाहे जिसके प्रति वफ़ादार रहो···मगर मुझे यों सीढ़ी और सेतु मत बनाओ। मुझसे यह सब नहीं सहा जायेगा। मैं तो तुमसे डोरका एक सिरा बनकर मिली थी···कमन्दका सिलसिला नहीं·······!'

४–११–५८